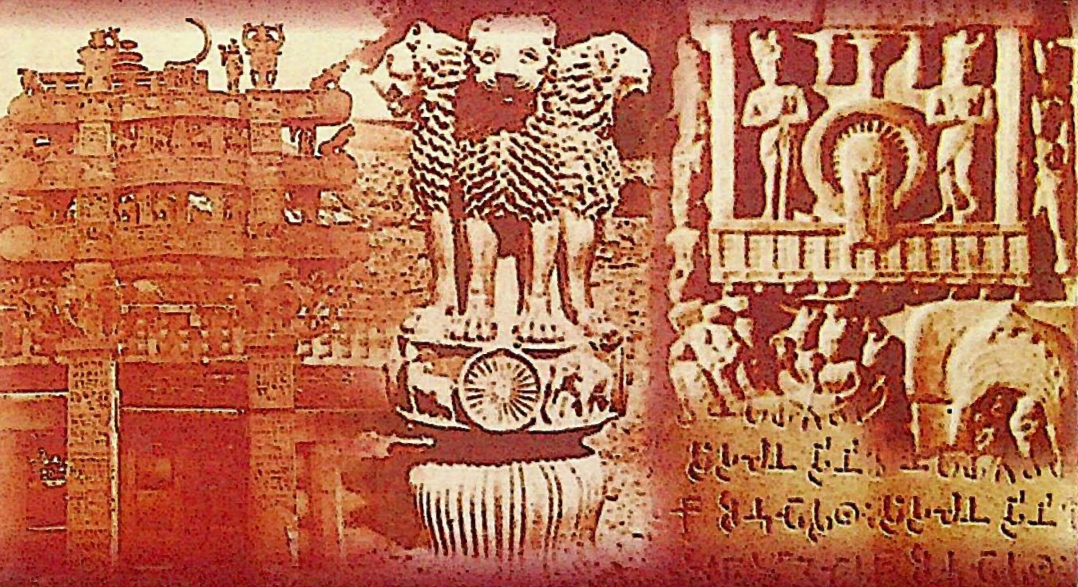
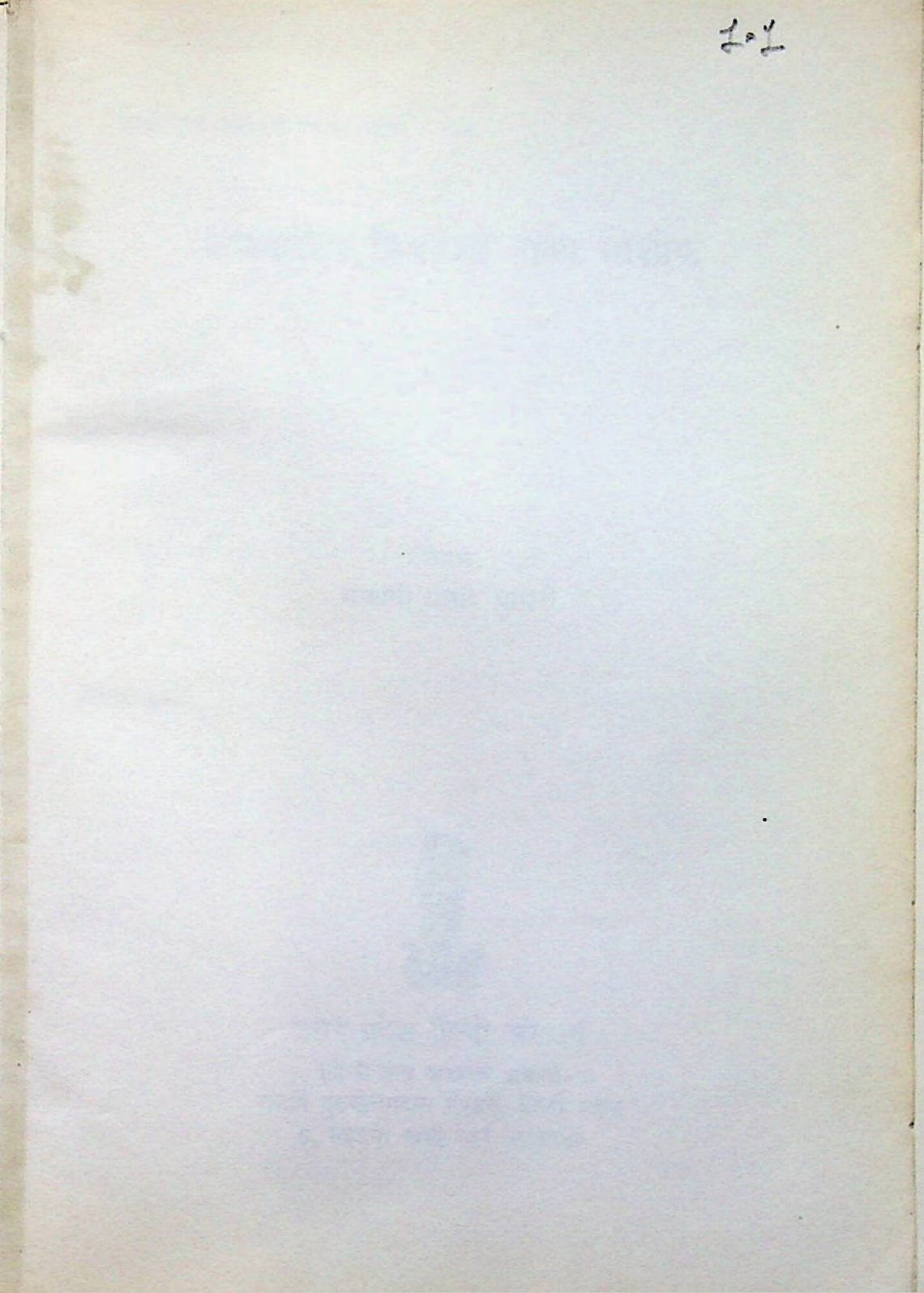


देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक

भगवती प्रसाद पांथरी



वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ





हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग ग्रंथांक : 306

देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक

लेखक

भगवती प्रसाद पांथरी



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक

छेदा लाल

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,

लखनऊ

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय (माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा विभाग) भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रथम संस्करण : 2004

प्रतियाँ : 1100

मूल्य : रु. 120=00

मुद्रक

रोहिताश्व प्रिण्टर्स

268, ऐशवाग रोड, लखनऊ

फोन : 2692973, 2692286

निवेदन

अशोक की महानता इस तथ्य में है कि आमतौर पर विजयी अपने पराजित शत्रु पर हर प्रकार का दबाव और क्रूरता प्रदर्शित करता है, पर अशोक अपनी विजय का गुणगान नहीं करता बल्कि विजय के क्षण में भी पश्चाताप से भर उठता है और शान्ति व धर्म के रास्ते पर चलने का संकल्प लेता है। इस प्रकार वह विजय की परिभाषा और अवधारणा को नया अर्थ प्रदान करता है। देश के प्रथम प्रधानमंत्री नेहरू जी के शब्दों में - “अशोक ने इतिहास के विजय नायकों और राजाओं से बिल्कुल अलग, युद्ध की नीति को त्यागने का निर्णय तब लिया, जब वह विजय के शीर्ष पर था।” इतिहासविद राधाकुमुद मुखर्जी भी कहते हैं कि - “वैसे तो इस प्रकार की भावना अपने आप में अनूठी है, पर अशोक की महानता इससे भी परिलक्षित होती है कि विश्व-इतिहास में दूसरा कोई सम्राट नहीं हुआ, जिसने ऐसा कुछ कहा हो। . . .” शस्त्रों और युद्ध की जगह सत्य और अहिंसा से विजय के महत्व को बहुत बाद में सिर्फ महात्मा गांधी ही शब्द दे सके।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार कलिंग युद्ध के दौरान व्यापक हिंसा के बाद अशोक का मन पश्चाताप से भर उठा। उसने बौद्ध धर्म को अपनाया और उसके प्रचार-प्रसार में जीवन समर्पित कर दिया। उसने देश के विभिन्न हिस्सों में दूर-दूर तक पत्थरों पर अभिलेख खुदवाये और उनमें दया, प्रेम, अहिंसा और भाईचारे पर जोर दिया। यह लेख दो तरह के हैं - प्रस्तर शिलालेखों और दूसरे पॉलिशदार शीर्षयुक्त स्तम्भों पर। शिलालेख भी दो तरह के हैं - एक लघु शिलालेख और द्वितीय प्रधान शिलालेख। यह अधिकतर ब्राह्मी लिपि में हैं। इनको लेकर भी विवाद कम नहीं है। कभी कहा जाता है कि अशोक ने बौद्ध धर्म का नहीं, सिर्फ मानवीय मूल्यों का प्रचार-प्रसार किया है। यहाँ तक कि उसका नाम भी विवादों के घेरे में रहा है क्योंकि अभिलेखों में लगभग हर जगह उसके लिए ‘देवानामपिय पियदसी’ का उल्लेख हुआ है। बहुत बाद के मास्की (कर्नाटक) अभिलेख में पहली बार अशोक का उल्लेख आता है। इस सबके बावजूद यह अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इनसे अशोक की ‘धम्म विजय’ के साथ-साथ उसकी निजी जिन्दगी पर भी प्रकाश पड़ता है। इन अभिलेखों से गुजरते हुए हम करुणा के अलौकिक संसार से गुजरते हैं और मानवीय मूल्यों की ऊँचाइयाँ छूते हैं।

इस पुस्तक ‘देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक’ में विद्वान लेखक भगवती प्रसाद पांथरी ने इन अभिलेखों की विस्तृत जानकारी दी है। इस तरह यह पुस्तक

महान अशोक के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को आधिकारिक रूप से समेटती है, उन पर विचार करती है और सही नतीजों तक पहुँचने में सुधी पाठकों और शोध छात्रों की भरपूर मदद करती है। इसकी रचना-प्रक्रिया के दौरान विद्वान लेखक को जितनी परेशानियाँ हुईं, इतिहास के अनेक अनसुलझे सवालों की कड़िया जोड़ने और इन्हें एकसूत्र में पिरोने के लिए अथवा जो भी प्रयोग करने पड़े, उनकी भी एक झलक इस महत्वपूर्ण पुस्तक में मिलती है। विद्वान लेखक डॉ. पांथरी आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उनकी यह कृति हमें उनका निरन्तर स्मरण कराती रहेगी। मैं उनके ज्येष्ठ पुत्र डॉ. शैलेन्द्र प्रसाद पांथरी का विशेष रूप से आभारी हूँ, जिनके सहयोग से इस कृति का प्रकाशन संभव हो सका है।

सोम ठाकुर
कार्यकारी उपाध्यक्ष

प्रकाशकीय

विश्व इतिहास में अशोक का नाम अप्रतिम है। सिर्फ इस कारण क्योंकि उसने दुनिया को मानवीय-मूल्यों से जीतने की असाधारण कोशिश की। कलिंग युद्ध में लाखों लोगों के हताहत होने के बाद उसका हृदय पश्चाताप से भर उठा। उसने बौद्धधर्म अंगीकार किया और साथ ही अहिंसा, प्रेम, भाईचारे और सेवा के प्रचार-प्रसार का व्रत लिया। लगभग सवा दो हजार वर्ष पहले उसने जिस तरह इसके लिए देश के दूर-दराज के इलाकों में अभिलेख खुदवाये, उनमें उसकी निश्छलता और उदारता झलकती है। इतिहासविद विन्सेंट स्मिथ इसीलिए कलिंग युद्ध को 'विश्व इतिहास की एक निर्णायक घटना' मानते हैं। इस पुस्तक में जिस तरह विद्वान लेखक भगवती प्रसाद पांथरी ने अशोक के अभिलेखों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों के माध्यम से समूचे तत्कालीन इतिहास को समेटा है, उसकी सराहना की जानी चाहिये।

अशोक अपनी ऊँचाइयों और महान व्यक्तित्व के चलते हमेशा विद्वानों के बीच आकर्षण का केन्द्र रहा है और इस रचना को भी उसी क्रम में लिया जाना चाहिए। पुस्तक में लेखक ने अपनी बात मूल अभिलेखों और उनके अक्षरशः अनुवाद के साथ रखी है, जिससे उनकी प्रामाणिकता और प्रमाणित होती है। मेरा विश्वास है कि यह पुस्तक इतिहास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों/शोधार्थियों के लिए अत्यन्त उपयोग साबित होगी।

छेदा लाल
निदेशक

आमुख

महान मौर्य सम्राट अशोक के व्यक्तित्व के सम्बंध में प्राचीन लेखकों से लेकर अर्वाचीन लेखकों तक में बहुत भ्रांति देखने को मिलती है। अशोक प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्मी था, लेकिन कलिंग युद्ध में हुए भीषण रक्तपात और हिंसा का अशोक के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने कलिंग-विजय के बाद युद्धों को तिलांजलि दे दी। फलतः भेरी-घोष, धर्म-घोष में बदल गया और दिग्विजय की जगह धर्म-विजय अशोक के जीवन का एकमात्र ध्येय और लक्ष्य बन गया। इस प्रकार कलिंग युद्ध के बाद से अशोक के जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ हुआ और भगवान बुद्ध के अहिंसा मार्ग को अपना कर वह बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में जुट गया।

बौद्धों ने अशोक के इस धर्म-परिवर्तन का अनुचित लाभ उठाया और ब्राह्मण और बौद्ध धर्म का अन्तर प्रकट करने के लिए अशोक के व्यक्तित्व को दो भागों में बांट कर रखा। अतः बौद्ध गाथाओं में ब्राह्मण धर्मी अशोक को एक 'नरक-स्रष्टा और क्रूर कर्मी व्यक्ति' के रूप में चित्रित किया गया है और बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने के बाद उसे 'धर्माशोक' नाम से महान धर्म-नृपति दर्शाया गया है, लेकिन अशोक के अभिलेखों से प्रकट है कि बौद्धों ने उस पर 99 भाइयों के मारे जाने का जो कलंक लगाया है, वह अप्रामाणिक व कल्पनाप्रसूत है और उसका कारण स्पष्टतया बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व के अशोक को 'हीन' सिद्ध करना था।

अशोक को लगभग 2200 वर्ष हो चुके हैं। आज का राजनैतिक वातावरण हिंसा और असत्य की प्रबल प्रवृत्तियों और कूटनीति की षड्यंत्रपूर्ण चालों से आक्रांत है। अतः हिंसा के अस्वाभाविक वातावरण में सांस लेने वाले आज के कतिपय लेखक उन बौद्धों की तरह जो ब्राह्मण के अच्छा होने की कल्पना नहीं कर सकते थे, यह विश्वास नहीं कर पाते कि अशोक ने कलिंग युद्ध के पश्चात् सचमुच भेरी-घोष को धर्म-घोष और दिग्विजय को धर्म-विजय में बदल दिया था और तदनुसार 'सर्वकल्याण' के लिए पराक्रम करना ही उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य बन गया था।

अशोक के धार्मिक व्यक्तित्व में आस्था न रखने वाले कुछ लेखक उसकी धर्म-लिपियों के अन्तराल में एक निरंकुश शासक की दमनपूर्ण सोच को प्रवाहमान पाते हैं और उसकी धर्म-संश्लिष्ट उपाधियों में एक दिग्विजेता की विश्वविजयिनी आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित देखते हैं—

"Through all his edicts there runs an undercurrent of force and power of a ruler, there is a strong desire to rule firmly

and ably. Behind Asoka's edicts there is a tinge of threat and a shade of dictatorial attitude. Asoka's pompous titles reflect a ruler's desire of glorification, territorial conquests and self-aggrandizement, though superficially they look religious. The title "Devanam Priya" was meant to uphold the royal position as something extra political, something divine.....

Devanam Priya is an ingenious innovation of Asoka to suggest effectively his greatness and to demand respect from the subject people Devanam Priya is a proof of Asoka's statesmanship and shrewd diplomacy." (Dr. L.B. Keny, Indian History Congress Proceedings, 1959, Gauhati.)

आज का विश्व राजनीति और कूटनीति का है। विश्व के नेता कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। दूसरे शब्दों में आज कहने और करने में कुछ अन्तर रहा करता है। अतः इस वातावरण से घिरे होने से हमें प्राचीन के प्रति भी यह संदेह हो उठता है कि उस समय के लोगों के कहने और करने में भी अवश्य अन्तर रहा होगा। यही कारण है कि अशोक की धर्म-लिपियों के अन्तराल में डा0 केनी को एक निरंकुश शासक की निरंकुशता और शक्ति-पिपासा छिपी हुई दृष्टिगत हुई है और धर्म-लिपियों की सतह पर लहराती अशोक के सर्वकल्याण की साधु-भावना उन्हें प्रपंचमात्र प्रतीत होती है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन के प्रति मूल्यांकन का यह सोच वस्तुतः 'जातीय' अथवा 'वैयक्तिक' है, जिसमें दूसरे के भावों को निसृष्टता और निष्पक्षता से समझने के बजाय व्यक्ति अपने मनोभावों को ही दूसरे पर लाद देता है। वर्तमान उदाहरणों से भी हम अपने उक्त कथन की पुष्टि कर सकते हैं। निर्विवाद रूप से संसार महात्मा गांधी को अहिंसा का महान पुजारी मानता है, लेकिन श्री रजनी पामदत्त ने अपनी पुस्तक 'इंडिया टुडे' में उनकी अहिंसा को एक ढकोसला मात्र घोषित किया है। हमारे पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू जी को सारा संसार शान्ति प्रेमी और प्रजातंत्र का महान सेवक मानता है, लेकिन आक्रामक चीन और पाकिस्तान नेहरू को साम्राज्यवादी कहा करते थे और उन के पंचशील के सिद्धांतों को भारत की 'विस्तारवादी नीति का आवरण' कहते रहे, जबकि तथ्य दरअसल यह है कि इन आरोपों के हकदार स्वयं चीन और पाकिस्तान हैं। इनमें से पहले ने हमारे हिमालय के हजारों वर्ग मील सीमांतिक भूभाग और दूसरे ने कश्मीर के भू-भाग, जिसे वे आजाद-कश्मीर कहते हैं, पर जबरन कब्जा कर रखा है। अतः ऐसी स्थिति में भारत के प्रधानमंत्री अतिक्रमणकारियों को बलपूर्वक हटाने की घोषणा करते थे तो इस से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि भारत की नीति विस्तारवादी अथवा शांति के बजाय विग्रह की रही है। भारत की नीति अनाक्रमण और शांति की रही है और है, लेकिन इस का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि भारत शांति के विरोधी अतिक्रमणकारियों व आततायियों को अपनी सीमा का अतिक्रमण

करने देगा और उन्हें अपनी सीमाओं से बलपूर्वक हटायेगा नहीं या प्रतिरोध नहीं करेगा। आक्रमणकारियों का प्रतिरोध तो राष्ट्रधर्म है। पाकिस्तान ने जब कबीलाइयों को लेकर कश्मीर पर धावा बोला था तो उन का प्रतिरोध करने के लिए जो सेना भेजी गयी, उसे महात्मा गांधी का आशीर्वाद प्राप्त था।

इसी प्रकार, अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख में विद्रोही अटवियों को 'धर्म-मार्ग' न ग्रहण करने पर उनके प्रति अपनी कलिंग विजयिनी शक्ति के प्रयोग का संकेत नृशंसता से प्रेरित होकर नहीं दिया था। वह तो इसलिये किया गया था, जिस से अटवी लोग दण्ड के भय से विद्रोही कर्मों से विरत हों और राज्योचित दण्ड के भागी बनने से बच सकें। हमें स्मरण रखना चाहिये कि अशोक विशाल भारतीय राष्ट्र का सार्वभौम अधिपति था और देश में शांति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए नैसर्गिक रूप से उसे जब-तब बल प्रयोग की आवश्यकता पड़ सकती थी। तथापि 13 वें शिलालेख में अटवियों को दी गयी धमकी के अलावा उस की धर्मलिपियों में कहीं बल प्रयोग का उल्लेख नहीं है।

यदि अशोक एक महत्वाकांक्षी और विस्तारवादी आक्रामक सम्राट होता तो वह शस्त्र विजय को 'धर्मविजय' में परिवर्तित क्यों करता? यदि उसने आक्रामक युद्धों का परित्याग न किया होता तो अपने युग के उस प्रभूत शक्तिशाली-सम्राट को दक्षिणी सीमांत के स्वतंत्र अस्तित्वधारी चेर, चोल, पांड्य, सत्यपुत्र और केरल पुत्र आदि राज्यों, उत्तर में हिन्दूकुश से आगे सीरिया तथा उस के पड़ोसी यूनानी राज्यों आदि को हड़पने से तब उसे कौन रोक सकता था? परन्तु शस्त्रों की विजय के अहितकारी परिणामों ने उसे स्वयं ही प्रीति द्वारा 'धर्मविजय' का आकांक्षी बना दिया था। (प्रीति धर्म विजय-प्रीति: धर्मविजये, तेरहवां शिलालेख, कालसी, पंक्ति 13)। अपने पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को भी उसने यह राजाज्ञा ज्ञापित की थी कि विजय की इच्छा होने पर वे शांति और लघुदण्डता में रुचि लें और उसी को विजय अथवा धर्मविजय मानें। (इयं धर्मलिपि लिखिता किति पुता पपोता में असु नवं विजयम विजयम विजयविय मनिषु षयकषि नो विजयषि खंति चा लहु दंडता चा लोचेतु तमेव चां विजयं मनतु ये धर्मविजये - कालसी शिलालेख 13, पंक्ति 15-16)।

संक्षेप में सम्राट अशोक की नीति वास्तव में जहां तक हो सके, अपकार करने वाले को भी क्षमा करने की थी (यो पि च अपरेयति क्षमित वियमते व देवनंपियस यं श्को क्षमनेय-पं.7 शिलालेख 13 शहबाजगढ़ी) और अभिलाषा समस्त प्राणियों की कल्याण कामना थी (सर्वभूतानां अछति च सयंम च समचैर च मादव च लघो, पंक्ति 7, शिलालेख 13, गिरनार)। सर्वकल्याण और नुकसान न पहुँचाने की भावना से प्रेरित होकर ही अशोक ने अपने सीमांत राज्यों को यह संदेश ज्ञापित किया था कि 'वे उद्विग्न न हों और उस में आस्था रखें। उस से वे सुख प्राप्त

करेंगे, दुख नहीं। जहां तक क्षमा करना सम्भव होगा, राजा (अशोक) उन्हें क्षमा करेंगे (जौगुडा, द्वितीय पृथक अभिलेख, पृ. 5-6)।

अशोक ने निःसंकोच जैसा कहा, वैसा ही आचरण किया और अपने साम्राज्य (विजित राज्य) के बाह्य राजाओं के साथ सदा मित्रता का व्यवहार रखा और जैसे अपने यहां, उसी प्रकार उन सब के यहां अनेक तरह से समाज सेवा के कार्य किये जैसे - मनुष्यों व पशुओं के लिए चिकित्सालय, औषधियों का प्रबन्ध, मार्गों पर मनुष्यों और पशुओं के हितार्थ वृक्षों का रोपण और कुओं का निर्माण आदि संपन्न कराये (द्वितीय शिलालेख)। दया के ये कार्य ही उस की 'धर्मविजय' के माध्यम थे।

अतः 'देवानांप्रिय' विरुद्ध अशोक की जनता को दवा कर रखने और अपने को 'दैवत्व' प्रदान करने की राजनैतिक चाल व सूझबूझ का अनुमान करना उसकी गृह व वैदेशिक नीति के संदर्भ में अनर्गल और असत्य आक्षेप है। अशोक के आठवें शिलालेख से प्रकट है कि 'देवानांप्रिय' उपाधि उसकी न निजी सूझ थी न नवाचार था, क्योंकि उसके पूर्व के राजा भी 'देवानांप्रिय' विरुद्ध से प्रख्यात रहे। अशोक के समकालीन सिंहल के राजा तिस्स का विरुद्ध भी 'देवानांप्रिय' था। आठवें शिलालेख में कहा गया है कि पूर्वकाल के 'देवानांप्रिय' बिहार यात्रा पर जाया करते थे (अतिक्रान्त अंतलं देवानांपिया विहालयातं नाम निखमिसु-कालसी! देवानांपिया अर्थात् राजागण पहले बिहार यात्रा में जाया करते थे) प्रकट है कि अशोक से पूर्व के राजा भी 'देवानांप्रिय' कहलाते रहे।

अशोक के वास्तविक नाम पर भी विद्वानों में मतभेद रहा है। पुरा भारतीय संस्कृति के सोवियत विद्वान जी.एम.बोगार्ड लेविन ने तक्षशिला में प्राप्त अरमाइक (खरोष्ठी) लिपि में अंकित अभिलेख में उल्लिखित 'प्रिद' को प्रियदर्शी का रूप बतलाते हुए मत व्यक्त किया है कि उक्त लेख 'प्रिद' अथवा प्रियदर्शी अशोक का है और संभवतया उसका मूल नाम प्रियदर्शी ही था। (Ind. Hist. Cong. Proceeding 1957, p.50-77)। दीपवंश में अशोक के लिए प्रमुखतया 'प्रियदर्शी' विरुद्ध प्रयुक्त हुआ है, जिस से कतिपय विद्वान 'प्रियदर्शी' या 'प्रियदर्शी' को उस का वास्तविक नाम समझ बैठे हैं। मुद्राराक्षस नाटक के छठवें अंक में अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के लिए भी 'प्रियदर्शन' (प्रियदर्श अथवा प्रियदर्शी) विरुद्ध प्रयुक्त हुआ है, जिस से प्रकट है कि 'देवानांप्रिय' की भांति 'प्रियदर्शी' भी अशोक की राजकीय उपाधि अथवा विरुद्ध था। श्री बरुआ का अनुमान है कि 'प्रियदर्शी' विरुद्ध अथवा उपाधि अशोक को बौद्ध संघ ने प्रदान की थी। (Asoka and his Inscriptions, Pt. II p.17).

अतः अरमाइक लेख में उल्लिखित 'प्रिद' अथवा 'प्रियदर्शी' विरुद्ध से यह नहीं कहा जा सकता कि उससे अशोक ही अभिप्रेत है। प्रियदर्शी विरुद्ध से चन्द्रगुप्त

भी प्रख्यात था, हो सकता है उससे अभिप्राय चन्द्रगुप्त से हो, अथवा चन्द्रगुप्त और अशोक के किसी वंशज से हो।

फाह्यान से हमें ज्ञात होता है कि गान्धार राष्ट्र का शासक, जिस की राजनगरी तक्षशिला थी, अशोक का पुत्र 'फा-इ' अथवा धर्मविवर्धन था; (The Travels of Fa-Hsien, by H.A.Giles. p12 & Si-yu-ki, Vol. I p.xxi) अतः यह भी अनुमान किया जा सकता है कि तक्षशिला का 'प्रिद' वाला अभिलेख अशोक के बजाय उसके पुत्र धर्मविवर्धन का रहा हो। अशोक के पौत्र दशरथ के नागार्जुन गुफा-लेख में उसके लिये 'देवानांप्रिय' उपाधि प्रयुक्त हुई है। इसलिये यह अनुमान करना असंगत होगा कि अपने पिता अशोक की तरह धर्मविवर्धन की भी देवानांप्रिय व प्रियदर्शी उपाधियां रही होंगी। संभव है अरमाइक अभिलेख के 'प्रिद' अथवा प्रियदर्शी से तात्पर्य धर्मविवर्धन से ही हो। किन्तु ऐसा अनुमान से ही कहा जा सकता है, निश्चय के साथ नहीं।

श्री डी.सी.सरकार के अनुमान में उक्त लेख में If reference is to be found to the Buddhistic "ayrioaiiharigiko maggo, the possibility of the record being one of Asoka is greater (select Incriptions. p.81, fn.7).

इस विवादास्पद स्थिति में श्री राय चौधरी का यह कथन बहुत सही है कि प्रियदर्शी का उल्लेख करने वाले समस्त अभिलेखों को अशोक के नाम से जोड़ना संगत न होगा। "It is not always safe to Discribe all epigraphs that make mention of Priyadarsan, irrespective of their contents, to Asoka the Great (PHAI. to 271) श्री राजवली पांडे अरमाइक अभिलेख में उल्लिखित प्रियदर्शी से अभिप्राय अशोक से समझते हैं। उनका भी अनुमान है कि 'यदि पूर्वी पंक्ति में 'ह..' शब्द नैतिक-विचार क्षेत्र का प्रतीक है, जिस को कुछ विद्वान 'अरियो अट्टुगि को मग्गो' (आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग) का समकक्ष मानते हैं तो निश्चित रूप से यह अशोक का अभिलेख माना जा सकता है। (अशोक के अभिलेख पृ.191, फुटनोट 1)

'प्रियदर्शी' को अशोक का वास्तविक नाम समझना और अशोक नाम कलिंग युद्ध के बाद धारण किया गया कल्पित करना भी संगत नहीं है। (Indian History Congress Proceedings, 1957 p.54) यद्यपि यह सही है कि अभिलेखों में सिवाय मास्की और गुजरी अभिलेखों के, अशोक नाम कही नहीं उल्लिखित है और अभिलेखों में उसे देवानांपियेना पियदसिना, देवानांपिया, देवानांपियसा पियदसिसा लाजिने, व पियदसि लाजा के विरुद्ध नामों से ही संबोधित किया गया है। यहां पर यह भी ध्यान देने की बात है कि देवानांपिय (देवानांप्रिय) विशेषण अथवा विरुद्ध अकेले प्रयुक्त हुआ है, किन्तु 'पियदसी' (प्रियदर्शी) विरुद्ध राजा के

विशेषण के साथ प्रयुक्त हुआ मिलता है। स्पष्ट है कि 'प्रियदर्शी' विरुद्ध को राजा के नाम के रूप में नहीं, विशेषण के रूप में लिया जाना चाहिये। हम पहले दर्शा चुके हैं कि अशोक से पूर्वकालिक राजा भी देवानांप्रिय व प्रियदर्शी विरुद्ध धारण करते रहे। अतः स्पष्ट है कि ये विरुद्ध अशोक की राजकीय उपाधियाँ थीं, व्यक्तिगत नहीं। मास्की व गुजरी अभिलेखों से इसकी पुष्टि हो जाती है क्योंकि उन में अशोक का नामोल्लेख 'देवानांप्रियसा असोकस' व 'देवानांप्रियस अशोक राजस' रूप में हुआ है। निश्चय ही अपने युग में अशोक देवानांप्रिय प्रियदर्शी विरुद्ध से अत्यन्त लोकप्रिय हो चला था, जिस कारण अभिलेखों में उसने वास्तविक नाम की जगह सामान्यतः इन्हीं विरुद्धों का प्रयोग किया है।

पुराणों में भी इस प्रियदर्शी का वास्तविक नाम अशोक या अशोकवर्धन ही मिलता है। (Dynasties of The Kali Age, p.28). दूसरी सदी के मध्य के महाक्षत्रप रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उसे (अशोक) 'अशोक मौर्य' (अशोकस्य मौर्यस्य- Ep.Ind.Vol. VIII p.42ff.) और मध्ययुगीन महारानी कुमारदेवी के सारनाथ अभिलेख में उसे 'धर्माशोक' कहा गया है। दीपवंस के विवरणानुसार 'प्रियदर्शी' उपाधि अशोक ने अभिविक्त होने पर धारण की थी। (Dipavansa vi24)

निष्कर्षतः अशोक का मूल अथवा वास्तविक नाम अशोक या अशोकवर्धन था, यद्यपि प्रतीत होता है कि कलिंग युद्ध के पश्चात् धर्म पराक्रमी अथवा धर्म विजेता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने पर, वह अपने मूल नाम की अपेक्षा अपने उपाधि नामों (देवानांप्रिय व प्रियदर्शी) से विशेष विश्रुत हो चला था। विसेंट स्मिथ अशोक के नाम व विरुद्धों पर मत व्यक्त करते हुए कहते हैं - I do not deny that the chroniclers of Ceylon used Piyadarsi and Piyadosse as quasiproper names, I affirm that in the inscriptions the titles are not used. (Asoka p.22,fn.2)

महाभाष्यकार पतंजलि ने देवानांप्रिय को भवान् व आयुष्मान् जैसे सम्मानसूचक वचन कहा है। हर्ष चरित में सम्राट् हर्षवर्धन को भी 'देवानांप्रिय' कहा गया है। हर्षचरित के भाष्यकार शंकर ने देवानांप्रिय को 'पूजावचन' बताया है- 'देवानांप्रियस्येति पूजावचनम्'।

अशोक सत्यशः शोकरहित था और जीवन भर वह दूसरों को भी शोकरहित बनाने का पराक्रमपूर्ण पराक्रम करता रहा। बौद्धगाथाओं (अशोकावदान आदि) के अनुसार अशोक की माता ने उसके जन्म पर कहा था कि 'मैं शोक-रहित अर्थात् अशोक हुई।' निजी प्रजा का ही नहीं, वह समस्त मानव जाति और जीव जगत के कल्याण का अभिलाषी था और इसके लिये वह जीवन के अंत तक पराक्रमशील रहा। उसने भगवान् तथागत के आर्य-सत्यो के कल्याण-पथ पर चलते हुये अपने

व्यक्तित्व को हिमालय के समान उत्तुंग, गरिमामय और गौरवशाली बना लिया था। इसीलिये आज भी उसका सुयश हिमालय की तरह पृथ्वी पर अडिग है। भारत की पीढ़ियां अपने इस महा-मानव से सदा सर्वदा 'सर्वकल्याण' के महानतम आदर्श की प्रेरणा पाती रहेंगी।

अपनी पुस्तक 'अशोक' के आमुख में जेम्स.एम.मैकफिल ने अशोक के जीवन और चरित्र की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये लिखा है- "In the history of ancient India, the figure of Asoka stands out like some great Himalayan peak, clear against the sky, resplendent in the sun....

As an historical figure, he has to day a two fold interest for us: political and religious. He was the most illustrious member of a great and powerful dynasty, which has left indelible traces of it's achievements on Indian history, and he was the leader in his own day of a spiritual movement, which spreading far with profound effect marked an epoch in the history of the Eastern world and has exercised a religious influence upon a large part of the human race. (Asoka, p.7). और अपनी पुस्तक के अंत में श्री मैकफिल कहते हैं 'उस (अशोक) की आवाज आज भी हमें सुन पड़ती है क्योंकि यह आवाज एक सच्ची और निष्ठावान् आत्मा की है। वह पैतृक दाय का अंश है, जिसके लिये भारत गौरव कर सकता है और उसके उदाहरण से आज के युवा भारतीयों को अपना जीवन, अपने देश की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति तथा अपने देशवासियों के लौकिक एवं परलौकिक कल्याण में लगा देने की प्रेरणा लेनी चाहिये-

He (Asoka) is part of the heritage of which India may well feel proud and his example should inspire the young men of India to-day with the noble ambition to spend their lives for the moral and spiritual progress of their country and for the temporal and eternal welfare of their fellowmen (p.103).

काशी विद्यापीठ
30 जनवरी 1974

भगवती प्रसाद पांथरी

अनुक्रमणिका

अध्याय-1	मौर्य वंश का उदय	1
अध्याय-2	साम्राज्य की सीमाएँ और विस्तार	31
अध्याय-3	अशोक की शासन-व्यवस्था	52
अध्याय-4	सम्राट का धर्मपरिवर्तन और बौद्ध होना	76
अध्याय-5	बौद्ध अशोक	98
अध्याय-6	बौद्ध धर्म के प्रचारक अशोक	123
अध्याय-7	अशोक कालीन भारत	153
अध्याय-8	अशोक कालीन कला	170
अध्याय-9	अशोक का इतिहास में स्थान	184
अध्याय-10	सम्राट अशोक	201
	शब्दावली	209



अध्याय-1

मौर्य वंश का उदय

भारत के चिर यशस्वी मौर्य सम्राट अशोकवर्धन अथवा अशोक का सुयश और सुनाम उन के मात्र चक्रवर्ती सम्राट होने का प्रतिफल नहीं, वह तो उनके मानव एवं सर्वभूतों के प्रति किये गये सुकर्मों, सुकार्यों और धर्म-पराक्रम का प्रतिफल है। इस विश्व-मानव के महान प्रभामंडल से प्रेरित बौद्ध-लेखकों ने अपने धर्म के शांत, करुण और मंगलमय स्वरूप को प्रकट व प्रतिस्थापित करने और ब्राह्मण धर्म के निष्करुण, उग्र और कठोर रूप को दर्शाने के लिए बौद्ध धर्म में परिवर्तित होने से पूर्व के अशोक के संदर्भ में अनेक ऐसी मनगढ़ंत गाथाओं की झवरीली झाड़ खड़ी की है कि बहुधा इतिहासविद् उसमें उलझ कर इतिहास के सत्य और यथार्थ पथ से भटक जाते हैं और गाथाओं के गल्प को उसके संपूर्ण रूप में इतिवृत मान कर ऐतिहासिकता विसार बैठते हैं।

बौद्ध गाथाएँ अशोक के जीवन और चरित को समझने-बूझने में सहायक होते हुए भी प्रकृतितः अशोक के महान व्यक्तित्व के सहज और सत्य रूप को अपनी कल्पित गल्पों से ग्रसने में भी सिद्ध हैं। सौभाग्य से लौहसम चट्टानों और स्फटिक से पाषाण-स्तम्भों पर सम्राट अशोक ने अपने जो धर्म-लेख खुदवा दिये थे, उन का सहारा लेकर हम उन के चहुं ओर खड़ी गाथाओं की झाड़ को लांघ कर उनके जीवन और व्यक्तित्व के इतिवृत को ऐतिहासिक वैज्ञानिकता के साथ इतिहास के रूप में संजो सकते हैं।

अशोक ने अभिलेख यद्यपि साधु धर्म को उजागर और आत्मा को उत्थित एवं उद्भासित करने के लिए लिखे व खुदवाये थे, किन्तु उसकी धम्म-लिपियों में ऐसे उल्लेख और संदर्भ वर्तमान हैं, जिनके आधार पर हम उस धर्म प्राण सम्राट की बहुत कुछ वास्तविक जीवनी का प्रणयन कर सकते हैं। इन उल्लेखों व संदर्भों द्वारा हम अशोक के मानवीय एवं प्रशासकीय व्यक्तित्व के रूपों और प्रकारों का यथार्थ इतिवृत शृंखलित कर, अशोक के जीवन का वास्तविक इतिहास प्रस्तुत कर सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि इस पुस्तक में अशोक के जीवन और उसके कार्यों के मूल्यांकन में उसके अभिलेखों पर गल्पों गाथाओं से अधिक भरोसा किया गया है।

रजत हिम की तरह शुभ्र और हिमशैल के उचुंग शिखर की भांति दीप्तिमान अशोक का गरिमामय व्यक्तित्व भारत एवं विश्व के लिए आज भी उसी प्रकार

प्रेरणा-स्रोत है, जैसा वह उस समय था, जब वे भारत-भूमि पर सार्वभौम सम्राट के रूप में शासन करते हुए संघर्ष और वैमनस्य से तप्त और संतुष्ट विश्व को त्राण देने के लिए सर्वकल्याण के मानवीय भावों को जन-जन के हृदय में जगाते हुए धर्म-विजय करते रहे।

अतः अशोक के जीवन और चरित का अध्ययन एवं मनन भारतीय इतिहास और राजतंत्र की दृष्टि से ही नहीं, भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की दृष्टि से भी बहुत महत्व रखता है।

प्रथम प्रतापी मौर्य

नन्द वंश के अंतिम मागधेश्वर धननंद को उन्मूलित कर पाटलिपुत्र के सिंहासन पर मौर्य-वंश की सत्ता स्थापित करने वाला प्रथम मौर्य चन्द्रगुप्त के नाम से विश्रुत है जिसे यवन (यूनानी) लेखकों ने पश्चिमी जगत में सैन्ड्राकोट्स व एन्ड्राकोट्स के नाम से प्रसिद्धि प्रदान की। चन्द्रगुप्त का जन्म एक गृहविहीन निराश्रित बालक के रूप में हुआ था और बाल्यकाल उसने दीनों जैसी स्थिति में बिताया था। उस युग के राजनैतिक द्रष्टा आचार्य कौटिल्य ने जब संयोग से बालक चन्द्रगुप्त को देखा, तो वे देखते ही उस में प्रच्छन्न चक्रवर्ती के सार्वभौमिक रूप को पहचान गये थे, जिसकी उन्हें तलाश थी। यथार्थतः चन्द्रगुप्त ने भारत का 'एकछत्र राज्य' उत्तराधिकार में नहीं पाया, वह तो उस ने अपने आचार्य द्वारा राष्ट्र-निर्माणार्थ शिक्षित-दीक्षित होकर स्वभुजबल से अर्जित किया था। अपने पराक्रम से चक्रवर्ती का पद प्राप्त करने के कारण ही उसे ऐतिहासिक युग के भारत का प्रथम सम्राट होने का गौरव मिला है।

बौद्ध गाथाओं (महावंश टीका) के विवरणानुसार भगवान बुद्ध के समय में कोसलराज को हटा कर उसका नृशंस पुत्र विरुद्धक (विडडूडभ) जब राजा हुआ, तो उसने वैमनस्य से प्रेरित होकर कपिलवस्तु के शाक्यों पर आक्रमण कर खून की नदियां बहा दीं। उसके संघातिक आक्रमण से शाक्य गण ध्वस्त हो गया और बचे-खुचे शाक्य जनों को कपिलवस्तु से भाग कर अपने प्राणों की रक्षा के लिए जहां-तहां जाना पड़ा। बर्बर विरुद्धक के उत्ताप से बचने के लिए इसी समय शाक्यों का एक दल हिमवन्त में जा बसा था।

हिमवन्त में शाक्यों ने जहां अपना नया नगर बसाया, वह स्थान मयूरों से भरा-पूरा था, जिस कारण उनकी आवाज वहाँ सदा गूँजा करती थी। इन्द्रधनुषी पंखों के सुन्दर, सजीले मयूरों से आकृष्ट और प्रभावित होकर शाक्यों ने उनके संसर्ग को विख्यात करने के लिए अपने नगर का नाम मौर्य-नगर रखा और स्वयं भी शाक्य की जगह मौरिय व मौर्य नाम से विश्रुत हुए। मयूर को उन्होंने अपने

नगर (राज्य) के प्रतीक का सम्मान भी प्रदान किया। इसीलिये मौर्य नगर के शाक्य गृहों की छतें मयूर पंख जैसी बनायीं गयीं खपरैलों से छायीं होती थीं।

मौर्य वंश का संस्थापक प्रथम प्रतापी चन्द्रगुप्त हिमवन्त के मौर्य नगर के राजा का पुत्र था। चन्द्रगुप्त अभी माँ के गर्भ में ही था कि किसी बलशाली राजा ने (संभवतया महापद्मनन्द) मौर्यनगर पर चढ़ाई कर उस के पिता को मार डाला, फलतः चन्द्रगुप्त की गर्भवती माता अपने नगर राज्य में निराश्रित हो जाने से अपने भाई के पास पाटलिपुत्र चली गयी। पाटलिपुत्र में यथासमय चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ। लेकिन, जैसा कि बौद्ध गाथाओं से प्रतीत होता है, विपदाग्रस्त माता शायद उस का लालन-पालन करने में असमर्थ रही, जिस कारण माँ ने उसे त्याग दिया और एक ग्वाले ने उसे पाला-पोसा। बाद में ग्वाले ने उसे एक व्याध के हाथ बेच दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त का शैशव ग्वाले व व्याध के यहां पशुओं के चराने के काम में व्यतीत हुआ।

चन्द्रगुप्त का तेज और उसकी प्रतिभा अधिक दिन छिपी न रह सकी। एक दिन बालक चन्द्रगुप्त जब अपने साथी ग्वाल-वालों के साथ- 'जंगल राजा' का खेल खेल रहा था कि संयोग से तक्षशिला के महान आचार्य चाणक्य विष्णुगुप्त कौटिल्य उधर से आ निकले। चाणक्य बालकों का खेल देखने लगे। बालक चन्द्रगुप्त राजा बना था; उसके तेज, ओज और सौंदर्य से चाणक्य अभिभूत हो चले। गणों के प्रति नन्द राजाओं की लोलुप शोषणवृत्ति और नृशंसता से चाणक्य कुपित थे और 'शस्त्र एवं शास्त्रों' से उनको मुक्ति दिलाने के लिए वे एक ऐसे क्षत्रिय-कुमार की खोज में थे, जिसके द्वारा वे उत्पीड़क नन्दों को उखाड़ राष्ट्र के नव-निर्माण और कल्याणकारी राज्य की स्थापना का, शिखा खोलकर लिया हुआ, संकल्प पूरा कर सकते। खेल के राजा बालक चन्द्रगुप्त में चाणक्य को राष्ट्र के नव-निर्माण की क्षमता वाले क्रान्ति पुरुष और पृथु जैसे वास्तविक लोकरंजक राजा की अस्फुट छवि स्पष्ट दीख पड़ी। द्रष्टा चाणक्य ने उस क्षमता और छवि को पुष्ट व स्फुटित करने का दायित्व अपने ऊपर लिया और वे व्याध को धन देकर बालक चन्द्रगुप्त को छुड़ाकर अपने साथ तक्षशिला ले गये। वहाँ छः-सात वर्षों तक आचार्य चाणक्य ने उसे शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात कर उसे भारत राष्ट्र के पीड़क शत्रुओं का उच्छेद करने और राष्ट्र के नव-निर्माण के अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए सक्षम बना दिया। चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन के संबंध में जैन गाथाओं में भी थोड़े अन्तर के साथ ऐसी ही कथा मिलती है। हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्यन्त में चन्द्रगुप्त को मयूर पोषकों के गांव के मुखिया का लड़का कहा गया है। एक दिन गांव के बालकों के साथ वह जब 'राजा' का खेल रचाये था, तो उस तरफ से जाते हुए आचार्य चाणक्य ने उसे देखा और निकट जा कर राजा बने चन्द्रगुप्त से कहा 'राजन्, मुझे कुछ भेंट (गऊ) दो'। चन्द्रगुप्त ने पशुओं का झुण्ड दिखा कर कहा- 'इन्हें ले जाओ।

कोई ग्वाला तुम्हें नहीं रोक सकता।' चन्द्रगुप्त के इस आचरण से चाणक्य बहुत प्रसन्न हुए और राज्य प्रदान करने का वचन देकर उसे अपने साथ तक्षशिला ले गये।

बौद्ध और जैन गाथाओं से इतना प्रकट है कि चन्द्रगुप्त सामान्य स्थिति में पैदा हुआ था, लेकिन अपने असामान्य बल, विक्रम और आचार्य कौटिल्य के सहयोग से उसने भारत पर एकछत्र सत्ता स्थापित की।

पाश्चात्य यवन लेखक जस्टिन ने भी यह उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त 'सामान्य स्थिति में पैदा हुआ, लेकिन एक शुभ क्षण ने उसे महान भविष्य (राजत्व) के लिए प्रेरित किया था-

"He (Sandrakottus) was born in humble life but was prompted to aspire to royalty by an omen significant of an august destiny" (The invasion of India, Mecrindlep.327)

अलक्षेन्द्र महान का आक्रमण

मैसीडोनिया (मकदूनिया) और यूनान के दिग्विजेता अलक्षेन्द्र (सिकन्दर-अलेक्जान्डर) ने जिस समय उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण किया था, उस समय चन्द्रगुप्त पंजाब में ही था और मगध में नन्दवंशीय धननंद राज्य करता था। शक्तिशाली ईरानी साम्राज्य को पूर्णतया अधिकृत करने के पश्चात् ई. पू. 327 के ग्रीष्म में अलक्षेन्द्र भारत की ओर अग्रसर हुआ था। हिन्दुकुश को लांघ कर वह काबुल नदी की घाटी में उतरा और फिर सीमान्त की अनेकानेक जातियों को हराता और दबाता सिन्धु नदी पर जा पहुंचा। सिन्धु को पार कर वह तक्षशिला पहुंचा, जहां के देशद्रोही राजा अम्भी ने अपने पड़ोसी पुरुराज (पोरस) से ईर्ष्या के कारण सिकन्दर का राजकीय स्वागत किया। स्पष्ट था कि अलक्षेन्द्र की सहायता से अम्भी पुरु को, जिसकी ताकत से वह जलता था, नीचा दिखाना चाहता था। आपसी वैमनस्य और ईर्ष्या के वशीभूत होकर अम्भी देश के प्रति अपने कर्तव्य को भुला बैठा था। अतः अलक्षेन्द्र का स्वामित्व स्वीकार कर उसने विदेशी आक्रमणकारी को अपने पड़ोसी राज्यों को दबाने और अधिकृत करने में सक्रिय सहायता पहुंचायी।

दुर्भाग्य से पंजाब और सिंध तब अनेक राजतंत्रों और गणतंत्रों में कटा-बँटा था। एक केन्द्रीय शक्ति के अभाव में ये राज्य परस्पर सदा संघर्षरत रहते थे। अतः परस्पर ऐक्य न होने के कारण वे मिल कर, संघबद्ध होकर विदेशी यवन-आक्रमकों का प्रतिरोध नहीं कर सके। यवन-लेखकों ने भारतीयों की अदम्य वीरता और समर-निपुणता की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है, लेकिन एकता के अभाव में उनकी

वीरता और समर-कुशलता किसी काम न आयी और अलक्षेन्द्र ने उनके पार्थक्य का लाभ उठा कर एक-एक कर सब को यवन-दासता में जकड़ दिया।

अलक्षेन्द्र जब उत्तरापथ को रौंद रहा था, तो प्राची का शक्तिशाली मगध-राज धननंद निष्क्रिय बन कर पाटलिपुत्र में बैठा रहा। मगध राज्य की सीमाएं यद्यपि पूर्वी पंजाब तक थीं, लेकिन प्रमादी धननंद ने उत्तर-पश्चिमी भारत को मगध-साम्राज्य में एकीकृत करने का न कभी प्रयास किया और न अलक्षेन्द्र के भारत भूमि में घुस आने पर पंजाब से लगी अपनी सीमा की रक्षा तथा उत्तर-पश्चिमी भारत के राज्यों को यवनों के विरुद्ध सहायता देने के लिए ही वह आगे बढ़ा। मगध के सौभाग्य से पुरु के साथ हुए संघर्ष से यवन-सैनिक ऐसे भय-कम्पित हो चले कि वे अलक्षेन्द्र के प्राची-अभियान में साथ देने को किसी भी तरह तैयार नहीं हो सके। प्लुटार्क ने लिखा है 'The battle with Porus depressed the spirits of the Macedonians and made them very unwilling to advance farther into India. For as it was with the utmost difficulty they had beaten him when the army he led amounted only to 20000 infantry and 2000 cavalry they now most resolutely opposed Alexander when he insisted that they should cross the Ganges (व्यास) Classical Accounts of India, p.198. और परिमाणतः यूरोपीय दिग्विजेता को व्यास तक पहुंचने के बाद प्रत्यावर्तन कर जाना पड़ा। फलतः मगध पर मंडराता खतरा स्वतः ही शांत हो गया।

अलक्षेन्द्र के आक्रमण के झंझावात का युवा चन्द्रगुप्त, जो तब पंजाब में ही था, प्रत्यक्ष दर्शक था। यवनों द्वारा भारत-भूमि के आक्रान्त किये जाने से वह यवनों से कुपित था और उन्हें भारत की पावन-धरती से उखाड़ फेंकने को संकल्पित था। साथ ही वह प्राच्य (मगध) के नंदराजा धननंद पर भी कुपित था, जिसकी निष्क्रियता, प्रमादता और लोलुपता ने उसे जनता की निगाहों से गिरा दिया था। प्लुटार्क ने लिखा है 'युवक चन्द्रगुप्त ने नन्दराजा के इस स्वरूप को अलक्षेन्द्र पर प्रकट करते हुए कहा था कि वह (धननंद) नीच कुलज था और जनता उससे घृणा करने लगी थी।'¹

चन्द्रगुप्त को आशंका थी कि कहीं अलक्षेन्द्र प्राची की ओर बढ़ा तो जन-सहयोग के अभाव में धननंद यवनों की बाढ़ को रोकने में असमर्थ हो घुटने टेक देगा और इस प्रकार उसकी असमर्थता के अभिशाप से समूचा राष्ट्र पराधीन हो अपनी स्वतंत्रता और सम्प्रभुता गंवा बैठेगा। लेकिन व्यास तक पहुंचने के बाद जब सेना के असहयोग से विवश हो अलक्षेन्द्र को प्रत्यावर्तन करना पड़ा तो

चन्द्रगुप्त को निश्चय ही इस दुश्चिन्ता से छुटकारा मिल गया होगा।

प्लुटार्क सूचित करता है कि 'एण्ड्रोकोट्स ने, जो उस समय नवयुवक था, अलक्षेन्द्र से भेंट की थी और वाद में (अलक्षेन्द्र के लौट जाने के पश्चात्) वह कहा करता था कि अलक्षेन्द्र सरलता से समूचे देश पर अधिकार कर सकता था क्योंकि जनता राजा के दुष्ट व्यवहार व नीच कुलज होने से उस से घृणा करती और उसे हेय समझती थी।²

चन्द्रगुप्त की अलक्षेन्द्र से भेंट का उल्लेख करते हुए जस्टिन³ ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से अलक्षेन्द्र इतना कुपित हुआ कि उसने चन्द्रगुप्त को मार डालने का आदेश दे दिया था, लेकिन युवक चन्द्रगुप्त अपनी सुरक्षा के लिए द्रुतगति से यवन-शिविर से भाग निकला। जंगल में जाकर थका-माँदा जब वह गहरी नींद में सो रहा था, एक भीमकाय सिंह उसके निकट आया और उसके शरीर से निकलते स्वेद (पसीना) को चाटने लगा। जब चन्द्रगुप्त नींद से जगा तो सिंह चुपचाप जंगल में वापस चला गया। इस घटना ने चन्द्रगुप्त को राज्य-प्राप्ति के लिए प्रेरित किया। उसने शस्त्रोपजीवी-सैनिकों का दल गठित किया और तत्कालीन सत्ता (यवन-शासन) को उलटने के लिए उद्यत हो चला।

प्लुटार्क और जस्टिन के उल्लेख बहुत अर्थपूर्ण हैं। दोनों इस बात के साक्षी हैं कि चन्द्रगुप्त अलक्षेन्द्र से मिला था। यह भेंट शायद ई.पू.325 में हुई होगी, जब अलक्षेन्द्र पंजाब में था। जस्टिन के अनुसार चन्द्रगुप्त के उपेक्षापूर्ण व्यवहार से अप्रसन्न हो अलक्षेन्द्र उसे मार डालना चाहता था, लेकिन वह व्यवहार क्या था, इसका जस्टिन ने कोई उल्लेख नहीं किया है। अनुमानतः वह व्यवहार निश्चय ही ऐसा रहा होगा, जिस से अलक्षेन्द्र के स्वाभिमान और अहं को आघात पहुंचा और उसे यह प्रतीत हुआ होगा कि वह यवन प्रभुता के विरोध में कहीं स्वातंत्र्यप्रिय ब्राह्मणों तथा तलवार के बल पर दबाये गये असंतुष्ट गणों, नृपों और जनों को संगठित कर उसकी सत्ता को उन्मूलित करने के निमित्त क्रान्ति न उत्पन्न कर दे। निष्कर्षतः चन्द्रगुप्त उसे क्रान्ति का सुलगता-उभरता अंकुर लगा और इसीलिये वह उसे उठने-पनपने से पूर्व ही समाप्त कर देना चाहता था, लेकिन चन्द्रगुप्त उसके हाथ न आ सका। शायद इसलिये कि वह क्रान्ति की सुनियोजित योजना के अनुसार ही यवन शिविर में अलक्षेन्द्र को निस्तेज करने पहुंचा था और दिग्विजेता के दर्प को मर्दित करने के बाद कुशलता के साथ यवनों के घेरे से बाहर भी हो गया था।

उपयुक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि अलक्षेन्द्र द्वारा भारत के उत्तर-पश्चिमी

अंचल पर यवन प्रभुता को स्थापित हुआ देख युवक चन्द्रगुप्त, अपने आचार्य चाणक्य की भांति, राष्ट्र के योग-क्षेम के लिए अशक्त निकम्मे नन्दों और भारत पर दासता लादने वाले यवनों पर कुपित था और दोनों की सत्ता को उन्मूलित कर भारतीयों को नन्दों के त्रास और यवनों की दासता से मुक्त करने के लिए कृतसंकल्प हो सेना एकत्र कर रहा था।

चन्द्रगुप्त की राज्य-क्रान्ति का ध्येय मात्र अपने लिये राज्य अर्जित करने से अधिक 'एकछत्र सार्वभौम' अथवा 'चक्रवर्ती साम्राज्य' की स्थापना करना था। भारत की एकता, सुरक्षा, शांति एवं समृद्धि के लिए यह नितांत आवश्यक था कि हिमालय से आसमुद्र समूचा देश एक शासन में आवद्ध होकर एक सार्वभौम सत्ता के अधीन एक बन कर रहे।¹

इस ध्येय की पूर्ति और प्राप्ति के लिए संभवतया अलक्षेन्द्र के उत्तर-पश्चिमी भारत पर आक्रमण से कुछ पूर्व चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने मगध राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर उसके मध्यवर्ती प्रदेशों पर आक्रमण किये थे जो असफल रहे। बौद्ध और जैन स्रोतों से हमें उनके प्रारम्भिक असफल विद्रोह का यथेष्ट विवरण प्राप्त है। जैन ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वन (8.253-254) के अनुसार चाणक्य ने अपना समस्त संग्रहीत कोष विद्रोह के लिए सेना खड़ी करने के उद्देश्य से चन्द्रगुप्त को सौंप दिया था। मगध के विरुद्ध प्रारम्भिक विद्रोह के असफल होने पर शायद चाणक्य और चन्द्रगुप्त उत्तरापथ लौट गये थे। अलक्षेन्द्र तब पंजाब में घुस आया था। चन्द्रगुप्त संभवतया इसी अवसर पर अलक्षेन्द्र से मिला था। डा० थॉमस का भी अनुमान है कि उत्तर-पश्चिमी भारत तब यवनों से आक्रान्त था। गंधार व पंजाब आदि पर यवन सत्ता लाद दी गयी थी। इस पराभव से उत्तरापथ के भारतीय यवनों के प्रति विद्रोह से भर उठे थे। प्रतीत होता है कि इसी स्थिति में चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने सर्वप्रथम यवनों को खदेड़ कर पश्चिमोत्तर भारत को स्वतंत्र करने का निश्चय किया और तदनंतर बल व कोष बढ़ा लेने के बाद मगध पर पुनः आक्रमण करने की योजना बनायी थी।

यवनों से आक्रान्त उत्तरापथ पर पहले विजय स्थापित करना चन्द्रगुप्त और चाणक्य के लिए अवश्य ही सहज और सरल था। यवनों की सत्ता के प्रति उत्तर-पश्चिम के भारतीयों में प्रारम्भ से ही विरोध व आक्रोश भरा था। यवन इतिहासकारों से हमें विदित होता है कि अलक्षेन्द्र के भारत में मौजूद रहते भारतीयों ने विद्रोह किया और उसके क्षत्रप को मौत के घाट उतार दिया था।

उत्तरापथ के ब्राह्मणों के विरोध के कारण स्वयं अलक्षेन्द्र को काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। प्लुटार्क ने लिखा है कि ब्राह्मणों ने उसके लिये कम कठिनाइयां नहीं उत्पन्न की थीं क्योंकि स्वामित्व स्वीकार करने वाले राजाओं के

विवरण उन सब विद्वानों के भ्रम का निराकरण कर देते हैं, जो यह समझते हैं कि प्राचीन काल में भारत को एक राष्ट्र अथवा राजनैतिक रूप से एक इकाई नहीं मानते थे। पूरे भारत का एक चक्रवर्ती राजा होना चाहिये, यह राजनैतिक आदर्श अतीव प्राचीन काल से भारत के राजनैतिक मनीषियों के समक्ष सदा मौजूद रहा है। महाभारत व पुराणों में मान्धाता जैसे चक्रवर्ती का उल्लेख है, जिसके राज्य में सूर्य डूबता न था। महाभारत के कथानुसार-

यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति।

सर्वं तद् यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥६०॥

(शांति पर्व, अध्याय-२६)

‘जहां सूर्य उदय होते हैं, वहां से लेकर जहां अस्त होते हैं, वहां तक का सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाता का ही राज्य कहलाता था।’

इसी तरह महाभारत में अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो इस पृथ्वी अथवा भारत राष्ट्र के एकछत्र शासक हुए जैसे उशीनर पुत्र राजा शिवि (एक छत्रां महीं चक्रे, शां.पर्व अध्याय 29 श्लोक 40) दुष्यन्त कुमार भरत (जिनके नाम पर हमारा देश भारत नाम से विख्यात हुआ), समस्त पृथ्वी को दान में देने वाले महाराज दिलीप (वही श्लोक 72) आदि।

ऐतिहासिक काल में समुद्रगुप्त को समस्त आर्यावर्त व दक्षिण भारत को ‘एकछत्र’ में समाहित करने के कारण ‘धरणिबंध’ (प्रयाग प्रशस्ति) कहा गया है। ब्राह्मण उसकी भर्त्सना करते और स्वतंत्र राजाओं को उस की सत्ता के विरोध में उठने को प्रेरित व उत्साहित किया करते थे। इस कारण उसने बहुत से ब्राह्मणों को फांसी पर लटकवा दिया था।¹⁵

एरियन के विवरणानुसार सिंधु के पश्चिम के यवन क्षत्रपों के विरुद्ध भारतीयों ने अपने नेता डमरजस के नेतृत्व में विद्रोह किया था। कर्टिअस ने भारतीय नेता का नाम समजस दिया है। उन के बाद अश्वों ने विद्रोह किया और यवन-क्षत्रप निकोनोर को मौत के घाट उतार दिया। यह समाचार अलक्षेन्द्र को उस समय प्राप्त हुआ, जब पोरस पर विजय प्राप्त करने के बाद वह ग्लासायों के प्रदेश में था।¹⁶

निकोनोर के रिक्त स्थान पर अलक्षेन्द्र ने तक्षशिला स्थित अपने सेनापति फिलिप्स को नियुक्त किया। बांद में वह मालवों और क्षुद्रकों के विजित प्रदेशों का शासक नियुक्त किया गया। फिलिप्स का नया प्रशासकीय क्षेत्र चिनाब और सिंधु के मुहाने तक विस्तृत था। साथ ही सिंधु और चिनाब के मुहाने से समुद्र तक विस्तृत प्रदेश का क्षत्रप पैर्थोन को नियुक्त किया गया।

परन्तु भारतीयों के उबलते-उफनते विद्रोह की ज्वाला ने यवन-क्षत्रपों को

शीघ्र ही विनष्ट और उन्मूलित कर दिया। फिलिप्स अपने नये प्रदेश पर अधिक दिन शासन नहीं कर सका। ई.पू.325 में अलक्षेन्द्र भारतभूमि से विदा होकर अभी कारमेनिया के निकट पहुँचा था कि उसे सूचना मिली कि भारतीयों ने विद्रोह कर उसके योग्य और शक्तिशाली क्षत्रप फिलिप्स को मार डाला है। परन्तु अलक्षेन्द्र फिलिप्स की हत्या के प्रतिकार में कुछ न कर सका। शायद स्वातंत्र्यप्रिय भारतीयों की यवन सत्ता को उन्मूलित करने की इस चुनौती का प्रतिशोध लेना उसे संभाव्य नहीं प्रतीत हुआ। अतः तक्षशिला के राजा अम्भी और यवन क्षत्रप युडेमस को यह आज्ञा देकर वह शांत बना रहा कि जब तक फिलिप्स के रिक्त स्थान पर दूसरा क्षत्रप नहीं भेजा जाता, तब तक वे ही फिलिप्स के राज्य का प्रशासन चलाते रहें।⁷

फिलिप्स की हत्या से स्पष्ट हो गया था कि भारत पर यवन सत्ता स्थायी रूप से स्थापित करने का अलक्षेन्द्र का स्वप्न मात्र दिवास्वप्न था। अलक्षेन्द्र को स्वयं यह अनुभूत हो गया होगा क्योंकि अगर ऐसा न होता तो वह कारमेनिया से दुबारा भारत की ओर मुड़ कर यवन-सत्ता के स्थायित्व के लिए बल का प्रयोग कर सकता था। श्री मुखर्जी के शब्दों में - "The murder of a Greek official of commanding position like Philip, in whom Greek rule was embodied and represented at its best, was really a fatal blow struck at that rule. He was the pillar of Greek Imperialism in India. His assassination took place in 325 B.C. when Alexander was in a position to retrace his steps to avenge it, as he had not gone even as far as Carmania. But he could not do so. The act was a challenge to Alexander's authority. But it was beyond his power to answer it. Alexander was retreating from India, with Greek rule retreating with him".⁸

फिलिप्स की हत्या के बाद पैथॉन सिंध में और युडेमस पुष्कलावती में रह गये थे।

ई.पू. 323 में बेबिलोन पहुँच कर अलक्षेन्द्र की भी मृत्यु हो गयी और, जैसा कि जस्टिन का कहना है, उस के शीघ्र बाद ही चन्द्रगुप्त ने यूनानी-क्षत्रपों को मार भगा कर भारत के स्कंधों पर से यवन सत्ता का जुआ उतार फेंका। सिल्यूकश नाइकेटर की विजयों का उल्लेख करते हुये जस्टिन ने लिखा है कि 'बेबिलोन और बैक्ट्रिया पर अधिकार करने के पश्चात वह भारत की ओर अग्रसर हुआ, जिस ने अलक्षेन्द्र की मृत्यु के बाद उसके क्षत्रपों को मार डाला था और दासता के जुए को अपनी गर्दन से झटक फेंका था। भारतीयों को स्वतंत्रता उपलब्ध कराने वाला उन का नेता सैन्द्गाकोट्स था।

जरिस्टन के विवरण से प्रकट है कि निकोनोर और फिलिप्स आदि यवन क्षत्रपों की हत्या तथा उनके भारत से पलायन का वास्तविक कारण भारतीयों की राज्यक्रान्ति थी, जिस का नेतृत्व चन्द्रगुप्त कर रहा था। अतः फिलिप्स अपने अधीनस्थ वेतन भोगी सैनिकों के पडयंत्र का नहीं बल्कि भारतीयों की क्रान्ति योजना का शिकार हुआ था। अतः यह अनुमान करना संगत है कि चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारतीयों ने पहले शक्तिशाली यवन-क्षत्रप फिलिप्स को मौत के घाट उतारा और कुछ समय बाद सिंध के यवन क्षत्रप पैथोन को भारत से हट जाने को विवश किया। ई.पू.321 में अलक्षेन्द्र के साम्राज्य का जब दूसरी बार बंटवारा हुआ, तो उस में सिंधु के पूरब भारत का कोई भाग बांट में शामिल नहीं किया गया था। भारत के सिंध प्रदेश से चले जाने पर पैथोन को सिंधु और परोपनिषद (काबुल की घाटी) के बीच के प्रदेश का क्षत्रप नियुक्त कर दिया गया था।

यवनों में अब युडेमस रह गया था, लेकिन वह विशेष महत्व का प्रशासक व व्यक्ति न था। पैथोन के चले जाने के बाद भी कुछ समय तक वह सिंधु और झेलम के प्रदेश में बना रहा। अलक्षेन्द्र के मरने के बाद उसने पोरस की हत्या कर दी और फिर शीघ्र ही अन्तिगोनस के विरुद्ध यूमेनिस का साथ देने के लिए भारत छोड़ कर चला गया। भारत से वह अपने साथ हाथियों का एक दल ले गया था।⁹

स्वयं यवन इतिहासकारों के विवरणों से स्पष्ट है कि भारतीय प्रारम्भ से ही अलक्षेन्द्र की सत्ता के प्रति विद्रोही थे और जब उस के लौटते ही यवनों के विरुद्ध क्रान्ति के नेतृत्व के लिए युवा चन्द्रगुप्त मैदान में उतरा तो उत्तरापथ की जातियों ने, हम अनुमान कर सकते हैं कि, उस का भरपूर साथ दिया। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त को यवनों से भारत को मुक्त कराने में न अधिक कठिनाई हुई, न समय ही अधिक लगा। संभवतया ई.पू.323-322 के दौरान चन्द्रगुप्त का उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार हो गया था और शायद ई.पू. 321 तक मगध को भी अधिकृत कर वह भारत के ऐतिहासिक युग के प्रथम सम्राट के रूप में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन हो गया था।¹⁰

निःसन्देह उत्तर-पश्चिमी भारत पर अधिकार हो जाने के बाद चन्द्रगुप्त अपना बल और कोष बढ़ा कर मगध पर सफलतापूर्वक आक्रमण करने की स्थिति में आ गया था। उत्तरापथ का स्वामी हो जाने से अनेक जातियों व राज्यों की सहायता भी उस के लिए सहज हो गयी थी। मुद्राराक्षस नाटक के अनुसार चन्द्रगुप्त का प्रमुख सहायक पर्वतेश्वर¹¹ था और चाणक्य के प्रयत्न से शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक व बाहलीक सेनाओं ने भी मगध के आक्रमण में साथ दिया था।¹²

ब्राह्मण चाणक्य (कौटिल्य विष्णु गुप्त) के निर्देशन में चन्द्रगुप्त का मगध पर

अभियान सफल रहा। फलतः नन्द वंश समाप्त हुआ और नन्दों की जगह चाणक्य ने एकछत्र चक्रवर्ती के रूप में चन्द्रगुप्त को पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आसीन कर दिया। इस परिवर्तन ने राष्ट्रीय चेतना को उजागर और राष्ट्र की एकता को पुष्ट किया, यह निर्विवाद है। इस प्रकार शताब्दियों से अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त और खंडित भारत चाणक्य के राजनैतिक आदर्शानुरूप प्रथम मौर्य के नेतृत्व में एक सार्वभौम सत्तावान् शक्तिशाली राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त कर सका।

मौर्य साम्राज्य की प्रतिस्थापना का श्रेय एक ब्राह्मण (चाणक्य) और राष्ट्रीय प्रतिक्रिया को देते हुए डा० थॉमस कहते हैं- 'There can be little doubt that the Mauraya empire began with a Brahman as well as a national reaction, (Cambridge History, vol.1,p.436).

मगध पर अधिकार स्थापित करने के बाद चन्द्रगुप्त ने प्रायः समस्त भारत को अपने अधिकार में कर लिया था। प्लुटार्क ने लिखा है कि 'चन्द्रगुप्त ने छः गारद सेना लेकर पूरे देश पर चढ़ाई कर समस्त भारत पर विजय स्थापित कर ली थी।'¹³

अतः ई.पू. 305 और 303 के आसपास सीरिया का यवन राजा सिल्यूकस जब अपने स्वामी अलक्षेन्द्र द्वारा विजित भारतीय प्रदेशों पर पुनः अधिकार करने की आकांक्षा से प्रेरित हो भारत की ओर बढ़ा, तो भारत का सम्राट चन्द्रगुप्त अपनी शक्तिशाली सेना के साथ सिंधु नदी पर उस के प्रतिरोध के लिए सन्नद्ध था। सिल्यूकस चन्द्रगुप्त की संगठित शक्ति के सामने निरुपाय रहा और भारतीय प्रदेशों को लेने के बजाय उसे अपने राज्य के ही चार प्रदेश गडरोसिया (बिलोचिस्तान व मकरान), आर्कोसिया (कन्दहार या कन्धार), एरिया (हिरात) तथा परापनिसदी (काबुल की घाटी का प्रदेश, जिसमें गांधार और अफगानिस्तान शामिल थे) भारत के सम्राट को देने पड़े। साथ ही उसने अपने वंश की एक राजकुमारी का विवाह भी भारत सम्राट चन्द्रगुप्त से किया और बदले में उसे भारतीय सम्राट से पांच सौ हाथी मिले। इस प्रकार मैत्री स्थापित कर सिल्यूकस सकुशल वापस चला गया।¹⁴

निष्कर्षतः सिल्यूकस के साथ युद्ध के परिणामस्वरूप उत्तर की तरफ मौर्य साम्राज्य की सीमाएं हिन्दुकुश तक प्रसारित हो गयीं। समस्त उत्तरी भारत के साथ ही चन्द्रगुप्त की दिग्विजय के फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य दक्षिण में मैसूर तक पहुंच गया और पश्चिम में सिंध, मालवा, काठियावाड़ और गुजरात तथा पूरब में बंगाल तक का समस्त प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत चला आया।¹⁵ महावंश¹⁶ में इसीलिये चन्द्रगुप्त मौर्य को समस्त जम्बू द्वीप का एकछत्र राजा कहा गया है और मुद्राराक्षस नाटक¹⁷ में उसे हिमालय से लेकर दक्षिण समुद्र तक के सभी राजाओं का आश्रयदाता (सम्राट) घोषित किया गया है। चौबीस वर्षों तक दृढ़ता और

सुयोग्यता के साथ शासन करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त परलोक सिंधार गया। उस ने अनुमानतः लगभग ई.पू. 321 से 297 तक राज्य किया था।¹⁸

चन्द्रगुप्त के बाद उस का पुत्र बिन्दुसार पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आया। बौद्ध स्रोतों के अनुसार उसने 28 वर्ष अर्थात् ई.पू. 297 से 269 तक राज्य किया।¹⁹ यूनानी लेखकों ने उसका 'अमित्रोकेट्स' नाम से उल्लेख किया है। अमित्रोकेट्स का संस्कृत रूप 'अमित्रघात' (अमित्रों का घात करने वाला) है, किन्तु डा.पुलीट के अनुसार अमित्रोकेट्स का संस्कृत रूप अमित्रखाद (शत्रुओं को खानेवाला, इन्द्र का एक विरुद्ध) अधिक उपयुक्त है।²⁰ सम्राट बिन्दुसार के राज्यकाल अनुमानतः 297 से 269/270 ई.पू. के संबंध में यद्यपि विस्तार से कोई विवरण उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपने महान पिता से प्राप्त साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। उसने लगभग सत्ताईस वर्ष राज्य किया (पाली स्रोतों के अनुसार पुराणों में उसका राज्यकाल पच्चीस वर्ष दिया गया है)। बिन्दुसार का पुत्र और प्रवीर चन्द्रगुप्त का पोता महाप्रतापी धर्मविजेता अशोक मौर्य वंश का तीसरा एवं अंतिम यशस्वी सम्राट हुआ।

अशोक का सिंहासनारोहण (राज्यकाल अनुमानतः ई.पू.270-233) के संदर्भ में बौद्ध साहित्य (लंका तथा भारत) में अनेक तरह की गाथाएँ या कहानियाँ वर्णित हैं, जिन्हें पूर्णतया ऐतिहासिक इतिवृत्त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। गाथाओं के विवरणों में एकरूपता भी नहीं मिलती। एक गाथा कुछ कहती है तो दूसरी कुछ और। इस प्रकार भारत व लंका की बौद्ध गाथाएँ परस्पर विरोधी विवरण उपस्थित करती हैं, जिससे यह सहज अनुमान किया जा सकता है कि वे अधिकतर मनगढ़न्त हैं और वास्तविक इतिहास प्रस्तुत करना उनका उद्देश्य व ध्येय नहीं रहा है। इन गाथाओं का अभीष्ट स्पष्टतया बौद्ध धर्म की श्रेष्ठता ज्ञापित व प्रकाशित करना था इसीलिये इन गाथाओं में बौद्धधर्म ग्रहण करने से पूर्व के ब्राह्मणधर्मी अशोक को 'काला' (कालाशोक) और 'चण्ड' (चण्डाशोक) कहा गया है और बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने के बाद के अशोक को 'धर्माशोक' के रूप में दर्शाया गया है। निष्कर्षतः अशोक की जीवनी के सत्य-वृत्तान्त अथवा वास्तविक इतिहास के आलेखन के लिए बौद्ध गाथाओं पर विशेष भरोसा नहीं किया जा सकता।²¹

महावंश और दीपवंश के विवरणानुसार बिन्दुसार की सोलह रानियाँ थीं, जिन से उसके एक सौ एक पुत्र हुए, लेकिन नाम केवल तीन के दिये गये हैं- सुमन (ज्येष्ठ पुत्र, उत्तरी गाथाओं के अनुसार सुरभि) और अशोक तथा सहोदर तिष्य (भारतीय अथवा उत्तरी गाथाओं में अशोक के सहोदर भाई का नाम विगताशोक या विताशोक था)। सिंहली गाथाओं के अनुसार अशोक की माता मौर्य कुल की

क्षत्राणी मौरियवंशजा धर्मा थी²² उत्तरी गाथाओं के अनुसार अशोक की माता का नाम शुभद्रांगी था, जो चम्पा के एक ब्राह्मण की कन्या थी (अशोकावदानमाला)।

अशोक के राज्यारोहण के संबंध में महावंश का विवरण इस प्रकार है : 'बिन्दुसार के एक सौ एक पुत्र थे, उनमें सबसे अधिक पुण्य, तेज, बल और समृद्धि वाले अशोक थे। उन्होंने अपने 99 सौतेले भाइयों को मार कर सकल जम्बूद्वीप का एकछत्र राज्य प्राप्त किया और चार वर्ष बाद पाटलिपुत्र में अपना अभिषेक कराया।²³ महाबोधिवंश में अशोक के प्रतिस्पर्धी भाइयों की संख्या, जिन के साथ युद्ध हुआ, 98 कही गयी है।

महावंश और महाबोधिवंश में अशोक को अवन्तिरट्ट अथवा अवन्तिराष्ट्र का उपराज कहा गया है। पिता बिन्दुसार की बीमारी का समाचार पाकर राज्य पर अधिकार करने के लिए अशोक उज्जैन छोड़ पाटलिपुत्र चला गया था। लेकिन उत्तरी गाथाओं में अशोक को खसों के जनपद का 'उपराज' कहा गया है, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी (दिव्यावदान, अशोकसूत्र, कुनालसूत्र)। अशोकावदान के अनुसार बिन्दुसार के समय तक्षशिला में विद्रोह हुआ, जिसे दबाने के लिए अशोक वहां भेजा गया। अशोक के पहुंचते ही विद्रोही शांत हो गये। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि सुशीम (सुमन) तक्षशिला का 'उपराज' था और जो विद्रोह को शांत न कर सका, इसीलिये अशोक वहां भेजा गया था। तक्षशिला में दूसरी बार फिर विद्रोह हुआ, जिसे सुशीम फिर शांत न कर सका। इसी बीच पाटलिपुत्र में बिन्दुसार की मृत्यु हो गयी और अशोक ने शीघ्रता से राज्य पर अधिकार कर लिया। बौद्ध गाथाओं के ये विवरण अस्पष्ट, परस्पर विरोधी और उलझाने वाले हैं।

अब हम पुनः उत्तराधिकार के युद्ध के विवरण पर आते हैं। महावंश में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पहले अशोक और 99 भाइयों के बीच संघर्ष होना कहा गया है। दूसरे स्थान पर उत्तराधिकार का युद्ध केवल अशोक और उसके बड़े भाई के बीच हुआ बतलाया गया है। महावंश का उल्लेख इस प्रकार है : 'बिन्दुसार के बीमार पड़ने पर अशोक पिता के दिये हुए उज्जैनी राज्य को छोड़ पाटलिपुत्र चले आये। पिता के मरने पर नगर को अपने अधीन कर, बड़े भाई को मरवाकर श्रेष्ठ नगर का राज्य अपने हाथ में लिया।²⁴

भारत की बौद्ध गाथाओं के विवरण सिंहली गाथाओं से थोड़ा भिन्न हैं। अशोकावदान में अशोक के पिता बिन्दुसार को नन्द का पुत्र कहा गया है, जो सर्वथा असंगत है। अशोक और उत्तराधिकार के युद्ध के संदर्भ में दिव्यावदान का विवरण इस प्रकार है : 'चम्पा नगर के एक ब्राह्मण की अत्यन्त रूपवती कन्या थी। उसे देख कर भविष्यवक्ताओं ने बताया कि वह रानी होगी और उसके दो पुत्र होंगे, जिनमें एक चक्रवर्ती राजा होगा और दूसरा सन्यास ग्रहण करेगा। जब लड़की के पिता को

यह मालूम हुआ तो वह पाटलिपुत्र चला गया। ब्राह्मण ने अपनी लड़की को अंतःपुर में पहुंचा दिया, लेकिन ईर्ष्यालु रानियों ने उसे राजा (बिन्दुसार) से न मिलने दिया और उससे नाइन का काम कराने लगीं। कुछ समय बाद लड़की ने अवसर पाकर राजा को बतलाया कि वह नाइन नहीं, ब्राह्मण की पुत्री है। राजा ने तब उसे अंगीकार कर अपनी पत्नी बना लिया। इस ब्राह्मण पत्नी (शुभद्रांगी) से राजा के दो पुत्र हुए - अशोक और विगताशोक। एक दिन राजा बिन्दुसार ने दोनों पुत्रों के भविष्य के बारे में साधु पिंगल वत्सजीव से पूछा। अशोक पर राजा का स्नेह नहीं है, यह जान कर साधु सत्य न प्रकट कर सका, लेकिन उसने रानी शुभद्रांगी को स्पष्ट बता दिया कि अशोक राजा होगा।

एक बार तक्षशिला में विद्रोह हुआ। राजा ने अशोक को विद्रोह दवाने भेजा। जब अशोक सेना के साथ तक्षशिला के निकट पहुंचा तो परिजन उसे मिले और कहा कि उनकी नाराजगी केवल अत्याचारी मंत्रियों के प्रति है, राजा अथवा राजा के पुत्र के प्रति नहीं। तक्षशिला और स्वशों (खशों) के जनपद ने राजकुमार अशोक की अधीनता स्वीकार की और तब यथासमय वह राजधानी वापस लौट आया।

एक दिन राजा का ज्येष्ठ पुत्र सुशीम उद्यान से जब प्रासाद लौट रहा था, उसने खेल-खेल में प्रधान मंत्री खल्वाटक के सिर पर खटका गिरा दिया। प्रधान मंत्री इस से बहुत चिढ़ गया। उसने सोचा कि आज इस ने खटका गिराया है, लेकिन जब यह राजा होगा, तो शस्त्र भी चला सकता है। इस का राजा होना उचित नहीं है। अतः वह पांच सौ मंत्रियों के साथ सुशीम की जगह अशोक को राजा बनाने के षडयंत्र में लग गया।

तक्षशिला में दूसरी बार फिर विद्रोह हुआ। बिन्दुसार तब वृद्ध और रुग्ण था। सुशीम विद्रोह न दबा सका। अतः राजा अशोक को वहां भेज, सुशीम को उत्तराधिकार सौंपने के लिए वह पाटलिपुत्र बुला लेना चाहता था, किन्तु मंत्रियों ने ज्येष्ठ पुत्र को पृथक रख कर बिन्दुसार के मरने पर अशोक को सिंहासन पर आसीन कर दिया, 'जिस के सिर पर देवताओं ने स्वयं मुकुट पहना दिया था।'²⁵ सुशीम ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। अशोक और मंत्री राधागुप्त ने नगर के प्रवेश द्वारों की रक्षा के लिए नग्न दैत्यों को नियुक्त किया। सुशीम धोखे से जलते अंगारों के खड्ड में जा गिरा और दुःखदपूर्ण मृत्यु को प्राप्त हुआ।²⁶

सिंहली और भारतीय बौद्ध गाथाओं के विवरणों से स्पष्ट है कि उनके कथानकों में साम्य का अभाव है तथा एक ही गाथा परस्पर विरोधी विवरण उपस्थित करती है। प्रकट है कि ये गाथाएँ ऐतिहासिक वृत्तों पर आधारित न होकर कल्पनाधारित अथवा मनगढ़न्त हैं और उनका प्रच्छन्न ध्येय स्पष्टतया ब्राह्मणधर्म अशोक और बौद्धधर्म अशोक में बुरे व अच्छे का अंतर प्रदर्शित करना था। इसी

के चलते महावंश एक स्थान पर तो कहता है अशोक ने 99 भाइयों को मार कर राज्य प्राप्त किया और दूसरे स्थल पर कहता है कि अशोक ने बड़े भाई को मार कर पाटलिपुत्र पर अधिकार किया। दूसरी तरफ, महाबोधिवंश संघर्ष में मारे जाने वाले भाइयों की संख्या 99 की जगह 98 देता है।

भारतीय (उत्तरी) गाथाओं में बिन्दुसार के पिता का नाम तक सही नहीं दिया गया है और उसको चन्द्रगुप्त के बजाय नन्द का लड़का कहा गया है। अशोक की माता के नाम और वर्ण के संबंध में भी सिंहली और भारतीय गाथाओं में मतैक्य नहीं है। एक उसकी माता को क्षत्राणी 'मौर्य कुल' की धर्मी कहता है और दूसरा उसकी माता को ब्राह्मणी शुभद्रांगी बताता है। इन उदाहरणों से सहज अनुमान होता है कि बौद्ध 'अवदानों' के रचयिताओं का ध्येय अशोक के जीवन का ऐतिहासिक वृत्तान्त उपस्थित करना नहीं था; उनका प्रच्छन्न ध्येय अशोक के माध्यम से बौद्धधर्म के मंगलकारी प्रभाव को प्रकट करना था।

अशोक के राज्यारोहण के संबंध में दिव्यावदान का विवरण सिंहली गाथाओं के बिल्कुल विपरीत है। दिव्यवदान के अनुसार अशोक पिता का स्नेह-भाजन नहीं था, लेकिन था बहुत योग्य। तक्षशिला का विद्रोह दवाने में ज्येष्ठ पुत्र सुशीम जब असफल रहा तो राजा ने अशोक को वहां भेजा था जो सफल रहा। प्रकट है कि ज्येष्ठ पुत्र सुशीम एक अयोग्य व अशक्त व्यक्ति था। प्रधानमंत्री खल्वाटक, मंत्री राधागुप्त तथा मंत्रिपरिषद के पांच सौ मंत्रीगण सभी सुशीम (सुमन) को उच्छृंखल व अयोग्य मानते हुए उसके विरोधी हो गये थे, इसलिये बिन्दुसार के मरने पर उन्होंने सुयोग्य अशोक को सिंहासन पर आसीन किया था। दिव्यावदान से यह भी प्रकट है कि बिन्दुसार के अंतिम समय में सुशीम तक्षशिला में था, अतः जब उस के मरने पर मंत्रियों ने अशोक को राजा बनाया तो सुशीम ने तक्षशिला से आकर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर दी, किन्तु वह शीघ्र ही मार डाला गया।

दिव्यावदान का यह विवरण महावंश के इस विवरण के अनुरूप है कि अशोक ने 'पिता के मरने पर नगर (पाटलिपुत्र) को अपने अधीन कर, बड़े भाई को मरवा, श्रेष्ठ नगर का राज्य अपने हाथ में लिया।' निष्कर्षतः बौद्धगाथाओं के अतिरंजित विवरणों (जैसे 98 या 99 भाइयों की हत्या) को पृथक कर, ऐतिहासिक वृत्त के रूप में इतना ही स्वीकार योग्य है कि बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र सुशीम अयोग्य व अक्षम था और उसके अनाचरण से प्रधानमंत्री आदि भुध्य होकर उसके विपरीत हो गये थे। अतः राजा के मरने पर मंत्रियों ने उत्तराधिकार राजा के छोटे किन्तु सर्वथा योग्य पुत्र अशोक को सौंपा। सुशीम ने इसका विरोध किया, लेकिन वह असफल रहा और संघर्ष में मार डाला गया। इस प्रकार उत्तराधिकार के लिए यदि थोड़ा-बहुत संघर्ष हुआ तो वह अल्पकालिक और केवल अशोक व उसके ज्येष्ठ

भाई के बीच हुआ था। अतः महावंश के इस कथन के आधार पर कि अशोक ने चार वर्ष बाद अभिषेक कराया था, यह समझना कि अशोक का भाइयों के साथ चार वर्ष तक संघर्ष चलता रहा और इस कारण राज्यारोहण के बाद उस का राज्याभिषेक चार वर्ष बाद हुआ, नितान्त असंगत और कल्पनागत है।

महावंश और दिव्यावदान दोनों में यह कहा गया है कि बड़े भाई (सुशीम या सुमन) को मार कर अशोक ने पाटलिपुत्र अपने अधिकार में किया था। स्पष्ट है कि सुशीम के मारे जाने पर अशोक का प्रतिद्वन्दी और प्रतिस्पर्धी समाप्त हो गया था, तब उत्तराधिकार के लिए निरंतर चार वर्षों तक संघर्ष चलते रहने का अनुमान कैसे संगत है? अनेक भाइयों के साथ संघर्ष और उनकी हत्या की बात सत्य और संगत नहीं प्रतीत होती। यह असंगतता गाथाओं के परस्पर विरोधी वर्णन से भी प्रकट है।

सिंहली गाथाओं का कथन है कि अशोक ने अपने सहोदर भाई तिष्य (विगताशोक) को छोड़ 99 या 98 भाइयों को मार डाला था। दूसरी तरफ, दिव्यावदान में केवल बड़े भाई सुशीम से अशोक का संघर्ष होना और उसके मारे जाने का उल्लेख है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने अशोक द्वारा छः भाइयों के मारे जाने का उल्लेख किया है। इस प्रकार बौद्ध गाथाएं स्वयं परस्पर विरोधी विवरण देती हैं। अशोक के शिलालेखों के प्रकाश में, जो उसके 'भाइयों' (एक से अधिक) के होने का साक्ष्य देते हैं, यह सर्वथा प्रकट है कि अशोक द्वारा अनेक भाइयों को मारने और भाइयों के साथ चार वर्ष तक संघर्ष चलते रहने की बात सत्य से परे किंवदन्ती मात्र है।

अतः सिंहली गाथाओं के विवरण के आधार पर अशोक को सहोदर भाई को छोड़ शेष समस्त भाइयों का न तो हत्यारा माना जा सकता है और न महावंश की यह किंवदन्ती स्वीकार की जा सकती है कि अशोक का राज्याभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ था। राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच अंतराल मानने के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि अशोक के कतिपय अभिलेखों में तिथि गणना राज्याभिषेक से की गयी है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं कि राज्यारोहण के साथ अशोक ने मुकुट भी धारण किया था, दूसरे शब्दों में अशोक का राज्यारोहण अभिषेक के साथ ही हुआ था। अतः राज्यारोहण और राज्याभिषेक के मध्य किसी लंबे समय के अंतराल की कल्पना निराधार और असंगत है।²⁷

बौद्धगाथाओं के अनुसार बौद्धधर्म में प्रविष्ट होने से पूर्व अशोक को (जब वह ब्राह्मण धर्मी था) अत्यन्त क्रूर व्यक्ति चित्रित किया गया है। अशोकावदान में अशोक को लोगों को यातना देने के लिए 'नरक' का निर्माता कहा गया है। इस

अवदान के अनुसार एक दिन अशोक ने पांच सौ मंत्रियों के सिर आज्ञा का विरोध करने पर काट डाले थे। दूसरी बार उसने अशोक वृक्ष की पत्तियों को तोड़ने पर प्रासाद की पांच सौ स्त्रियों को जिन्दा जलवा दिया था। मंत्रीगण अशोक की इन क्रूरताओं से बहुत भयभीत हुए और उन्होंने राजा को सलाह दी कि वह स्वयं हत्या करके अपने हाथों को अपवित्र न कर हत्या-कर्म के लिए कोई जल्लाद नियुक्त करे। अशोक ने उनकी मंत्रणा पर तब चण्डागिरिक नाम के एक अत्यंत क्रूर व्यक्ति को मुख्य जल्लाद नियुक्त किया। राजा ने एक नरक का निर्माण करवाया। कोई भी व्यक्ति जब नरक के अन्दर प्रवेश करता था, तो उसे जीवित नहीं छोड़ा जाता था।

एक दिन एक धर्मात्मा साधु जिस का नाम बालपंडित (समुद्र) था, संयोग से नरक के द्वार में प्रवेश कर गया। जल्लाद ने उसे तुरन्त पकड़ लिया और सात दिन बंदी रखने के बाद उसे खीलते हुये कड़ाह में डाल दिया गया। लेकिन जल्लाद ने देखा कि साधु कड़ाह में, जिस के नीचे आग भभक रही थी, शांति के साथ कमल पुष्प पर बैठा है। इस चमत्कार का समाचार पाकर अशोक स्वयं नरक पहुंचा और बालपंडित को देख व उनका प्रवचन सुन, बुद्ध के सत्यधर्म का अनुयायी बन गया। फलतः नरक नष्ट कर दिया गया और जल्लाद को जीवित जला दिया गया।²⁸

महावंश में भी अशोक की क्रूरताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'पाप कर्म करने के कारण जो (अशोक) पहले चण्डाशोक नाम से प्रसिद्ध थे, वही बाद में पुण्य कर्म करने से 'धर्माशोक' के नाम से प्रसिद्ध हुए (पृ.31)।

स्पष्टतया बौद्ध गाथाओं में अशोक पर भाइयों, मंत्रियों और स्त्रियों तथा निरपराध व्यक्तियों की हत्या के लिए 'नरक' के निर्माण आदि के आरोप सर्वथा कल्पित व निराधार हैं। ये आरोप बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व के अशोक को क्रूर प्रमाणित करने के लिए ही लगाये गये प्रतीत होते हैं। प्रत्यक्षतः इन गाथाओं के रचयिता यह दर्शाना चाहते थे कि अशोक जब तक ब्राह्मण धर्म के अनुयायी रहे, तब तक बहुत ही क्रूर थे, लेकिन बौद्ध धर्म ने उन्हें सर्वकल्याणकारी धर्माशोक में बदल दिया।

अशोक के शिलालेखों के विवरण से भी गाथाओं के आरोप असत्य और मनगढ़न्त सिद्ध हो जाते हैं। बौद्धगाथाओं के अनुसार अशोक ने एक सहोदर भाई को छोड़ शेष सब भाइयों को मार डाला था। लेकिन अशोक पांचवें शिलालेख में अपने भाइयों (एक से अधिक) बहिनों तथा ज्ञातियों (संबंधी) के मौजूद होने का उल्लेख करता है। इस लेख से विदित होता है कि उसके कई भाई-बहिन आदि पाटलिपुत्र तथा अन्य प्रादेशिक नगरों में निवास करते थे और सर्वत्र उनके अंतःपुर में धर्मकार्य आदि के लिए धर्म-महामात्र नियुक्त थे। धर्ममहामात्र नाम के अधिकारियों की नियुक्ति अशोक द्वारा प्रथमतः अभिषिक्त होने के तेरह वर्ष बीतने पर की गयी

थी। अतः यदि अशोक ने ई.पू. 269 में राज्य ग्रहण किया तो तेरहवें वर्ष अर्थात् ई.पू. 256 में भी जब धर्ममहामात्रों की नियुक्ति हुई, सम्राट के अनेक भाई-बहिन पाटलिपुत्र व बाहरी जनपदीय नगरों में निवास कर रहे थे। (तेदसवसाभि सितेना ममया धंममहामाता कटा' (14वीं पंक्ति)। हिदा बाहिलेसु चा नगलेसु सवेसु ओलोधनेसु भातिनं चले भगिनिना एवा पि अने नातिको सवता वियापटा (16 पंक्ति, कालसी)।

भाइयों और बहनों के अतिरिक्त अपने समस्त जातियों (जाति बंधुओं) के प्रति अशोक के अभिलेखों की वाणी सेवा के प्रति रस से परिपूर्ण और समस्त प्राणियों के प्रति कल्याण की भावनाओं से गुंजायमान है। पांचवे शिलालेख में भाई-बहिन और अन्य नातेदारों (अने नातिको) का साथ-साथ उल्लेख है। तृतीय अभिलेख में जातियों (नातिक्यानं) समेत मित्र, परिचित, ब्राह्मणों और श्रमणों को दान देना और प्राणियों का अवध (पानानं अनालंभं साधु, कालसी) साधु अर्थात् उत्तम धर्म कहा गया है। चौथे अभिलेख में, जो अभिषेक होने के बारह वर्ष बीतने पर लिखाया गया था, जाति बंधुओं (नातिनं-नातीनां) के प्रति आदर भाव और भूतों के प्रति अहिंसा की वृद्धि होने का उल्लेख है। नवें अभिलेख में 'पानानं संयमं' (कालसी) अर्थात् प्राणियों के प्रति संयम (अहिंसा) को साधु कहा गया है। ग्यारहवें शिलालेख में जाति वालों (नातिक्यानं) को दान और प्राणियों की अहिंसा (पानानं अनालंभे, कालसी) धर्म-दान में शामिल है। तेरहवें शिलालेख में अशोक ने 'सवभूतानां अछति च संयमं च समचैरं च मादय च' (गिरनार) के माध्यम से सब प्राणियों के प्रति सुरक्षा, संयम, समुचित व्यवहार और मृदुता की कामना घोषित की है और छठें शिलालेख में अपना राजधर्म अथवा कर्तव्य 'सर्वलोकहित' (कर्तव्य मते हि मे सर्वलोकहित पंक्ति-9 गिरनार) कहा है और अन्य किसी धर्म को सर्वलोकहित से बढ़ कर नहीं माना है। 'नास्ति हि कंमतरं सर्वलोक हितत्या' (पंक्ति 90-99, गिरनार)। सर्वलोकहित के कर्तव्य से प्रेरित होकर ही अशोक ने अनेक सर्वहितकारी कार्यों का अपने तथा सीमांत के बाहरी राज्यों में संपादन कराया था, जिन का द्वितीय शिलालेख और सातवें स्तम्भ लेख में विस्तार से वर्णन है। निष्कर्षतः अभिलेखों के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि सर्वलोक हितैषी अशोक पर बौद्ध गाथाओं में भाइयों की हत्या व नारकीय क्रूरताओं के जो आरोप लगाये हैं, वे ऐतिहासिकता से रहित निःस्सार, असत्य और गलत हैं। इसी तरह अशोक के बौद्धधर्म ग्रहण करने से संबंधित बौद्ध गाथाएँ भी ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार योग्य नहीं हैं। दिव्यावदान के विवरणानुसार अशोक ने श्रमण 'बाल पंडित' के चमत्कार से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म-ग्रहण किया था। ह्वेनसांग ने भी इसी तरह की गाथा कही है। महावंश के कथनानुसार अशोक अपने बड़े भाई के लड़के

सामनेर न्यग्रोध के उपदेश से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म में दीक्षित हुआ था (पृ. 22-24) किन्तु अशोक के अभिलेख उस के धर्म-परिवर्तन, धर्मकामना और धर्म-पराक्रम के संदर्भ में गाथाओं के विपरीत दूसरा ही विवरण उपस्थित करते हैं।

तेरहवें शिलालेख में अशोक कहते हैं : अभिषिक्त हुए आठ वर्ष हुए थे जब उसने कलिंग पर चढ़ाई की, जिस में सहस्रों आदमी मारे गये व पीड़ित हुए। परिणामस्वरूप कलिंग विजय के बाद उसमें तीव्र धर्मकामना तथा धर्म में निष्ठा बढ़ी अथवा जागृत हुई। आठवें शिलालेख में अशोक कहते हैं कि अभिषेक हुए जब दस वर्ष हो चुके थे तो उन्होंने विहार-यात्रा पर जाने के बजाय 'संबोधि' (बौद्ध गया, जहां भगवान बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था) की यात्रा की। उपर्युक्त दो अभिलेखों से प्रकट है कि कलिंग युद्ध की विभीषिका से प्रभावित होकर अशोक में 'धर्मभाव' अर्थात् प्राणियों के प्रति करुणा, अहिंसा व सर्वकल्याण की भावना का उदय हुआ और बुद्ध के मार्ग का पथिक बन कर वे भगवान के ज्ञान-प्राप्ति के पुण्य स्थान संबोधि गये। अतः अनुमान है कि कलिंग युद्ध के फलस्वरूप बौद्धधर्म के प्रति आस्था अशोक में अभिषेक के 9 वें या 10 वें वर्ष पैदा हुई और तब अभिषेक के 11 वें वर्ष में उन्होंने भगवान बुद्ध के ज्ञान-प्राप्ति के पुण्य स्थान संबोधि की यात्रा की थी।

कुछ समय तक वे सामान्य उपासक मात्र रहे। लघु शिलालेखों (रूपनाथ, सहसराम और वैराट) में अशोक कहते हैं कि प्रायः तीन वर्ष तक वे उपासक रहे और उस समय धर्म के लिए उन्होंने कोई विशेष पराक्रम नहीं किया। अतः प्रकट है कि प्रारम्भ में जब वे अभिषेक के दसवें वर्ष में बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुए, प्रायः तीन वर्ष तक यानी अभिषेक के 13 वें वर्ष तक सामान्य उपासक थे। इसी समय जब उपासक रहते ढाई वर्ष बीत चुके तो उन्होंने 'संघ की शरण ली' (संघ उपेते रूपनाथ, लघु शिलालेख)। तब से, वे कहते हैं, प्रायः दो वर्ष (डेढ़ वर्ष से अधिक) से वे धर्म के लिए पूरी तरह पराक्रम करने लगे हैं। अतः प्रकट है कि अभिषेक के तेरहवें, चौदहवें व पन्द्रहवें वर्ष में उनका धर्म-पराक्रम पूरे देश में प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक ने अभिलेखों के माध्यम से अपने धर्म परिवर्तन व धर्म-पराक्रम के क्रमिक-विकास का स्वयं साधिकार विवरण प्रस्तुत कर दिया है, जिसके सामने गाथाओं का विवरण कौतुकीय हो जाता है।

अशोक ने धर्म-परिवर्तन व धर्म परिवर्धन में अपने ही हृदय की प्रेरणा को कारण और मूल इंगित किया है। यदि किसी यति या साधु-श्रमण के चमत्कार व प्रवचन से अशोक में धर्म क्रान्ति जगी होती, तो कलिंग की घटना से भी महत्वपूर्ण इस घटना को वे अभिलेखों में ज्ञापित करना भूल नहीं सकते थे। वास्तव में 13वें शिलालेख में कलिंग युद्ध के दुष्परिणामों से जनित प्रतिक्रिया को उन्होंने धर्म-क्रान्ति

या धर्मकामना जगाने का हेतु ज्ञापित किया हैं, जिसने उन्हें हिंसा से विरत कर अहिंसा की ओर उन्मुख किया। फलतः भेरी घोष धर्म घोष में बदल गया। निष्कर्षतः अशोक में धर्मानुशिष्टि व धर्मकामना किसी साधु-श्रमण के चमत्कार से नहीं, निजी अनुभूतियों और उदात्त भावनाओं की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुई थी।

गाथाओं में अशोक धार्मिक पक्षपात करने वाले के रूप में भी चित्रित किये गये हैं। महावंश कहता है, अशोक के पिता साठ हजार ब्राह्मणों को भोजन कराते थे। तीन वर्ष तक अशोक भी ऐसा करते रहे, अर्थात् जब तक वे ब्राह्मणधर्मी रहे, ब्राह्मणों को पूर्ववत् जिमाते रहे, लेकिन बौद्ध होने पर यह बंद कर दिया गया (पृ. 21-22)। किन्तु अशोक के अभिलेखों में दान, पूजा और सम्मान के लिए ब्राह्मणों को श्रमणों के साथ न केवल निरंतर समान स्थान दिया गया है, अपितु अभिलेखों में प्रायः श्रमणों से पूर्व ब्राह्मणों का उल्लेख हुआ है। प्रत्यक्ष है कि बौद्ध होने पर भी अशोक ब्राह्मणों का सदा समुचित आदर, मान व पूजा करते रहे और सही बात तो यह है कि वे सभी धार्मिक सम्प्रदायों व सभी धर्मों के परिव्राजकों की पूजा करना व उन्हें दान-मान देना अपना कर्तव्य मानते थे। (वारहवां शिलालेख)। संक्षेप में, अशोक पर बौद्ध गाथाओं में भाइयों की हत्या और अनेक प्रकार की क्रूरता व धार्मिक पक्षपात के जो आरोप लगाये गये हैं, वे सभी अभिलेखों के प्रकाश के सामने झूठे पड़ जाते हैं।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि सम्राट विन्दुसार की मृत्यु होने पर अशोक संभवतया ई.पू. 270 में सिंहासनारूढ़ हुए अथवा उनका अभिषेक हुआ और प्रायः तैंतीस वर्षों के दीर्घकालीन पराक्रमपूर्ण शासन के बाद लगभग ई. पू. 233 में उनका राज्यकाल समाप्त हुआ। महावंश के अनुसार सैंतीस वर्ष शासन करने के बाद अशोक स्वर्ग सिधारे थे (20 परिच्छेद पृ.98)।

अभिषेक दिवस पर उत्सव :- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में निर्देशित किया है कि नये जनपद अथवा राष्ट्र की विजय के अवसर पर, उत्तराधिकारी के सिंहासनारोहण व राजा के पुत्र जन्म के अवसरों पर बंदियों को मुक्त भी किया जाना चाहिये (अधिकरण 2, अध्याय 36)। साफ है कि उक्त अवसरों पर 'उत्सव' मनाया जाता था और उसकी खुशी के उपलक्ष्य में कारागार से बंदियों को मुक्त किया जाता था। इस प्रथा के अनुसार अशोक भी अपने अभिषेक दिवस के उत्सव पर प्रारम्भ से प्रतिवर्ष बंदियों को मुक्त करते रहे। पांचवें स्तम्भ लेख में अशोक कहते हैं 'छब्बीस वर्षों से अभिषिक्त मेरे द्वारा इस काल में पच्चीस बार बंदी कारागार से मुक्त किये गये (यावसडुवसितिवस अभिसितेन मे एताये अंतलिकाये पनवीसति बंधन मोखनिकटानि)।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा द्वारा अपने जन्म के नक्षत्र तथा पूर्णिमा के अवसर पर भी बाल, वृद्ध, व्याधिग्रस्त और अनाथ बंदियों को बंधनागार से मुक्त करने का उल्लेख है (2.36)। पांचवें स्तम्भ लेख में तिष्य और पुनर्वसु नक्षत्रों का

उल्लेख किया गया है। प्रकट है कि ये धार्मिक पवित्रता अथवा पुण्य के अवसर थे। संभव है इन अवसरों पर भी अशोक द्वारा बंदियों को मुक्त किया जाता था। इन दो नक्षत्रों (तिष्य और पुनर्वसु) में एक अवश्य ही राजा के जन्म का नक्षत्र रहा होगा और दूसरा राष्ट्र का।

धौली और जौगुड़ा के पृथक अभिलेखों (प्रथम और द्वितीय) में ऊपर उल्लिखित नक्षत्रों में से केवल तिष्य नक्षत्र का उल्लेख हुआ है। प्रज्ञापित धर्म-लेखों में अशोक ने निर्देश दिया है कि तिष्य नक्षत्र में 'लिपि' (धर्मलिपि) को श्रवण (सुनना) करना चाहिये। श्री भंडारकर का अनुमान है कि चूंकि अभिलेखों में तिष्य को अधिक महत्त्व दिया गया है, इसलिये वह राजा का नक्षत्र रहा होगा और दूसरा नक्षत्र पुनर्वसु शायद देश (मगध) का नक्षत्र था।

धर्मलिपियों का महत्त्व :- अशोक की धर्मलिपियाँ अथवा अभिलेख, जैसा कि हम उल्लेख कर चुके हैं, 'धर्म' के प्रचार के लिए प्रज्ञापित किये गये थे किन्तु साथ ही अशोक के जीवन-वृत्तान्त तथा उनके समय के समाज व प्रशासन आदि के संबंध में जानकारी प्राप्त करने के वे सत्य स्रोत हैं। ये अभिलेख शिलाखण्डों, पाषाण-स्तम्भों एवं गुफाओं पर अभिलिखित हैं। अभिलेखों के प्रकार इस तरह हैं-

1. चौदह (चतुर्दश) शिला-अभिलेख। ये अभिलेख, गिरनार, कालसी, मानसेहरा, धौली और जौगुड़ा में मिले हैं। इनके साथ धौली और जौगुड़ा के दो-दो (प्रथम और द्वितीय) पृथक अभिलेख भी हैं।
2. लघु (गौण) शिला अभिलेख। ये रूपनाथ, सहसराम, वैराट, गुजरा, मास्की, ब्रह्मागिरी, सिद्धपुर, जटिंग-रामेश्वर, एरंगुडि, गोविमठ, पालकि गुंडी, राजुल मंडागिरी और अहरोरा में मिले हैं।
3. गुहा लेख तीन हैं, जो बराबर पहाड़ी की गुफाओं में मिले हैं।
4. पाषाण स्तम्भ लेख- इनकी संख्या सात है। ये टोपरा (दिल्ली), मेरठ (दिल्ली), लौरिया अरराज, लौरिया नंदन गढ़, रामपुरवा, कौसाम्बी (प्रयाग) में मिले हैं।
5. लघु (गौण) स्तम्भ लेख। ये सांची, सारनाथ, कौसाम्बी (प्रयाग), रुम्भिनदेई और निगली सागर में मिले हैं।

सम्राट अशोक का परिवार - पांचवें शिलालेखों में अशोक के अनेक भाई-बहिनों व जाति बन्धुओं (संबंधियों) का स्पष्ट उल्लेख है, जो पाटलिपुत्र तथा बाहरी जनपदों के नगरों में निवास करते थे। किन्तु भाइयों व बहिनों आदि का नाम से उल्लेख नहीं हुआ है। बौद्ध गाथाओं के अनुसार अशोक के भाइयों की संख्या लगभग सौ थी, लेकिन नाम से केवल तीन का ही उल्लेख मिलता है- तिष्य (विगताशोक, सहोदर भाई), महेन्द्र तथा सुमन (सुशीम, ज्येष्ठ सौतेला भाई)।

रानियां तथा पुत्र-पुत्रियाँ :- पांचवें शिलालेख में अशोक के अनेक अवरोधों

अथवा अंतःपुरों का उल्लेख है जो पाटलिपुत्र तथा बाहरी जनपदीय नगरों में अवस्थित थे। प्रकट है कि अशोक की एक से अधिक रानियां थीं जो पाटलिपुत्र एवं राज्य के अन्यान्य नगरों में निवास करती थीं। किन्तु अभिलेख में रानियों के नामों में केवल द्वितीय देवी (रानी) कारुवाकी का नाम आया है, जो तीवल (तीवर) की माता थी, (दुतीयाये देविये ति तीवलमातु काजुवाकि रानी, स्तम्भ लेख प्रयाग, कोसल-स्तम्भ)।

बौद्धगाथाओं से भी हमें अशोक की एक से अधिक रानियों और पुत्र-पुत्रियों के नाम ज्ञात होते हैं। महावंश से यह भी ज्ञात होता है कि उसकी एक रानी पाटलिपुत्र से बाहर विदिशा में निवास करती थीं। इस रानी का नाम देवी था। महाबोधि वंश में इस रानी को विदिशा महादेवी और शाक्यानी अथवा शाक्य कुमारी कहा गया है क्योंकि वह शाक्य कुल में उत्पन्न हुई थी जो एक श्रेष्ठी (सेठ) की पुत्री थी। अशोक जब अवन्तिराष्ट्र के उपराज नियुक्त होने पर उज्जैन के लिए रवाना हुए थे तो मार्ग में वे विदिशानगर में रुके और तभी उन का सेठ की पुत्री देवी से प्रणय हुआ था। इस रानी से अशोक की दो संतानें हुई - पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा।²⁹

राजा की प्रथम रानी अथवा अग्रमहिषी का नाम महावंश के अनुसार असंधिमित्रा था। महादेवी असंधिमित्रा भगवान बुद्ध की परम भक्त थी। अशोक उन्हें बहुत प्यार करता था। अशोक के शासन काल के तीसवें वर्ष वह स्वर्ग सिधार गयी। डा० थॉमस का अनुमान है कि महेन्द्र और संघमित्रा की माता देवी का ही नाम शायद असंधिमित्रा था।³⁰

असंधिमित्रा के बाद अशोक ने शासन काल के तैत्तीसवें वर्ष तिष्यरक्षिता को अग्रमहिषी बनाया। वह अत्यन्त रूपवती थी। उसे लगा कि सम्राट अशोक उस से अधिक 'महाबोधि' को प्यार करता है, इसलिये उसने क्रोध में आकर महाबोधि को नष्ट करा दिया।³¹

दिव्यावदान में तिष्यरक्षिता के अलावा अशोक की एक अन्य रानी का उल्लेख है, जिसका नाम पद्मावती था। उससे अशोक का धर्मविवर्धन नाम का पुत्र हुआ। धर्मविवर्धन की आंखें हिमालय के कुणाल पक्षी की आंखों जैसी सुन्दर थी, जिस कारण अशोक ने उसे कुणाल नाम दिया। (दिव्यावदान परिच्छेद 27)। फाहयान ने फा-इ (70-70) नाम से धर्मविवर्धन का उल्लेख करते हुए उसे गांधार का शासक कहा है।

इस प्रकार - अशोक की रानियों में हमें अभिलेख से कारुवाकी का और गाथाओं से देवी, असंधिमित्रा, पद्मावती और तिष्यरक्षिता के नाम मिलते हैं।

अशोक की अनेक रानियों अथवा पत्नियों का सातवें स्तम्भ लेख में भी उल्लेख है। इसमें देवी (अग्रमहिषी) के साथ ही अन्य राज-दाराओं व अनेक अवरोधों का उल्लेख है (दालकानां-दारकाणां-राज दाराएँ, पंक्ति 27) प्रोफेसर मुखर्जी ने 'दालकानां' से उन राजपुत्रों का अर्थ लिया है जो कुमारों से नीचे स्तर के थे।

पुत्र :- तीवल (स्तम्भ लेख में उल्लिखित द्वितीय रानी कारुवाकी से उत्पन्न), महेन्द्र (देवी से उत्पन्न), कुणाल (पदमावती से उत्पन्न) और जालौक (कल्हण-राजतरंगिणी 1.107-122)।

अशोक के अभिलेखों में साम्राज्य के चार प्रान्तों के उपराज अथवा वाइसराय 'कुमार' व 'आर्यपुत्र' कहे गये हैं। ये चारों निःसन्देह राजकुल के ही पुरुष थे। आर्यपुत्र संभवतया 'युवराज' था। कुमारों में अशोक के अन्य पुत्र व भाई भी शामिल हो सकते हैं। अभिलेख में यद्यपि नाम केवल तीवल का आया है, लेकिन सातवें स्तम्भ-लेख में 'देवी कुमालानं' (देवी कुमाराणाम् पंक्ति 27) के उल्लेख से प्रकट है कि अशोक के एक से अधिक पुत्र थे।

पुत्रियाँ :- संघमित्रा (विदिसा की देवी से) और चारुमती (नेपाली गाथा)।

दामाद- अग्नि ब्रह्मा (संघमित्रा का पति, अशोक का भाणजा-महावंश परिच्छेद 5पृ.30) और देव पाल (क्षत्रिय कुमार, चारुमति का पति)।

पौत्र और नाती- सम्प्रति (कुणाल का पुत्र), दशरथ (नागार्जुन गुहालेख)। सुमन (नाती, संघमित्रा का पुत्र)।

अशोक की निजी जीवनचर्या :- प्रशासनिक और सामाजिक कार्यों के पश्चात् सम्राट निजी व व्यक्तिगत जीवन किस प्रकार व्यतीत करते थे, इसका अभिलेखों व गाथाओं से कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। छठे शिलालेख से इस संदर्भ में थोड़ी-बहुत जानकारी अवश्य मिल जाती है। इस अभिलेख में अशोक कहते हैं 'पहले भूतकाल में सब समय 'अथ कमे' (अर्थ कर्म-राज्य का कार्य) अथवा 'परिवेदना' (प्रतिवेदना-कार्य की सूचना) नहीं होती थी। (लेकिन) मैंने ऐसा किया है कि सब समय (सबे काले-सर्वकाल), चाहे मैं भोजन करता रहूँ (भुंजमानस मे-भुज्जंत मे), अवरोधन (ओरोधनम्हि-अवरोधने-अंतःपुर) में रहूँ, गर्भागार (गभागारम्हि-गर्भागारे) अथवा शयनगृह में रहूँ, वज्र (वचम्हि-व्रजे) अथवा पशुशाला में रहूँ, विनीत या सवारी (रथ अथवा पालकी पर-विनीताम्हि) पर रहूँ या उद्यान (च उद्यानेसु-च उयानेषु) में रहूँ, सर्वत्र प्रतिवेदक उपस्थित होकर मेरी जनता के अर्थ अथवा कार्य की (मुझ से) प्रतिवेदना करें (सर्वत्र परिवेदका स्तिता अथे मे जनस परिवेरेथ इतिसर्वत्र प्रतिवेदका स्थिताः अर्थ में जनस्य प्रतिवेदयन्तु इति)।

छठे अभिलेख के उपरोक्त विवरण से इंगित होता है कि राजकार्य की समाप्ति के बाद सम्राट का समय भोजन करने, अंतःपुर में रानियों के साथ रहने या

गर्भागार में आराम करने, या रथ व पालकी पर सैर करने या राजकीय पशुशाला का निरीक्षण करने या प्रमोदवन में विचरण करने में व्यतीत होता था, किन्तु इस निजी समय में भी वे प्रजा का कार्य देखने-करने लगे थे।

उपयुक्त अभिलेख में अशोक ने 'भोजन' का उल्लेख किया है। भोजन में कौन-कौन से पदार्थ शामिल होते थे, इस का अभिलेखों में उल्लेख नहीं है। पहले अभिलेख से इतना अवश्य मालूम होता है कि पहले राजकीय महानस (पाकशाला) के लिए सहस्रों जीव (हिरण, मोर आदि) सूप व मांस के लिए मारे जाते थे, जिनकी संख्या बाद में शायद अहिंसा व्रत धारण करने पर घटा कर दो मोर और एक मृग कर दी गयी थी। प्रकट है अशोक के आहार अथवा भोजन का एक मुख्य भाग मांस व उस का शोरबा भी था। वैसे सामान्यतः भोजन में, जैसा कि कौटिल्य अर्थशास्त्र व मेगास्थनीज आदि यूनानी लेखकों के विवरण से हमें ज्ञात है, दाल, भात, साग-सब्जी, फूल-फल, दूध-दही आदि शामिल थे। प्रथम अभिलेख से यह भी लक्षित होता है कि सम्राट मुख्यतया मोर और हिरण का मांस व सूप अधिक पसन्द करते थे, इसीलिये जब अनेकानेक पशुओं का पाकशाला के लिए भारना बंद किया गया, तो भी पूर्णतया शाकाहारी होने तक दो मोर और एक मृग ये तीन पशु पक्षी पाकशाला के लिए मारे जाते रहे और इन में भी मृग कभी-कभी ही सूप के काम में लाया जाता रहा। (दो मोरा एको मगो। लो पि मगो न ध्रुवो-द्वौ मयूरो एकः मृगः। सः अपि च मृगः न ध्रुवम्)।

अशोक की आत्मीय अथवा निजी जीवनचर्या के संबंध में आठवें शिलालेख में भी हमें थोड़ी और जानकारी उपलब्ध होती है। इस शिलालेख में सम्राट अशोक विहार-यात्राओं का उल्लेख करते हुए कहते हैं 'विगत समय में राजा लोग (मनोरंजन अथवा विनोदार्थ) विहार यात्रा पर जाया करते थे। इसमें मैं मृगया (आखेट) और अन्य इसी प्रकार के आमोद (मनोरंजन) होते थे, किंतु देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा अभिषेक के दसवें वर्ष में संबोधि (बोध गया) गये। तब से यह धर्मयात्रा प्रारम्भ हुई। इसमें यह होता है - ब्राह्मण और श्रमणों का दर्शन तथा उन को दान, वृद्धों का दर्शन और हिरण्य (धन) से उनके पोषण की व्यवस्था, जनपद के लोगों का दर्शन-धर्म का आदेश और धर्म के संबंध में परिप्रश्न'।

इस अभिलेख से प्रकट है कि धर्मयात्रा के प्रारम्भ होने के पूर्वकाल में अशोक एवं उसके पूर्ववर्ती राजा गण मनोरंजन के लिए विहार यात्रा अर्थात् आखेट पर जाया करते थे। अभिषेक के दसवें वर्ष के पूर्व तक सम्राट अशोक भी मृगया व अन्य इसी प्रकार के प्रमोद में रुचि रखते रहे, किन्तु धर्म में प्रीति बढ़ने पर अशोक ने विहार यात्राओं का त्याग कर दिया और उसकी जगह संबोधि (बौद्धगया, जहां

तथागत ने ज्ञान-लाभ किया था) जैसे धार्मिक स्थानों की यात्रा करने लगे। इन यात्राओं में वे ब्राह्मण-श्रमणों को दान देते, वृद्धों के परिपालन के लिए धन द्वारा व्यवस्था करते और जनपद के लोगों को धर्म का उपदेश, आदेश एवं धर्म के विषय पर चर्चा किया करते थे। अर्थशास्त्र और यूनानी लेखकों से भी विदित होता है कि विहार यात्रा अथवा आखेट पर जाना राजाओं का प्रमुख मनोविनोद था। कौटिल्य ने आखेट को उत्तम व्यायाम बतलाते हुए कहा है कि आखेट से अत्यधिक चर्वा, पसीना और पित्त की शांति होती है। आखेट द्वारा चलती-फिरती तथा स्थिर वस्तुओं पर लक्ष्य बांधने और क्रोधित पशुओं के स्वभाव का ज्ञान होता है आदि (कौटिल्याज अर्थशास्त्र, शामशस्त्री, बुक 8, चैप्टर 3)।

चन्द्रगुप्त मौर्य के आखेट खेलने के तरीकों का यवन लेखकों ने इस प्रकार वर्णन किया है, 'सम्राट युद्धों के अवसर के अलावा, न्यायाधिकरण में जाने, होम के लिए जाने तथा आखेट के लिए जाने जैसे अवसरों पर राजप्रासाद से बाहर प्रस्थान किया करते हैं। आखेट के लिए सम्राट (चन्द्रगुप्त मौर्य) बकैनैलियन ढंग पर रवाना होते हैं। स्त्रियों (सभी अंगरक्षक) की काफी बड़ी संख्या उन्हें घेरे रहती हैं। स्त्रियों के घेरे के बाद भाले वाले सैनिक रहते हैं। राजमार्ग रस्सियों से घिरा होता है। घेरे की रस्सी को लांघना निषिद्ध है। यदि कोई स्त्री अथवा पुरुष रस्सी के घेरे को लाघें, तो उसे प्राण दण्ड दिया जाता है। आखेट यात्रा के जुलूस के आगे बाजे वाले रहते हैं। प्रवेष्टित स्थान में बने मंच से तीर चला कर सम्राट आखेट करते हैं। लेकिन खुले स्थान से आखेट करने के समय सम्राट हाथी के पीछे से तीर चलाते हैं, आखेट में साथ जाने वाली स्त्रियां रथ, घोड़े व हाथियों पर सवारी करती हैं। ये स्त्रियां अस्त्र-शस्त्रों से इस प्रकार सुसज्जित होती हैं मानो युद्ध पर जा रही हों।' (एन्शियंट इण्डिया, मैगस्थनीज एण्ड एरियन, मैक्रिण्डल पृ.71)।

सम्राट अशोक भी संभवतया धर्मयात्रा से पूर्व इसी परम्परागत विधि से आखेट यात्रा पर जाया करते थे।

बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पूर्व अशोक

बौद्ध धर्म को अंगीकृत करने से पूर्व सम्राट अशोक का जीवन किस प्रकार का था, इस का निश्चय के साथ आकलन करना कठिन है। प्रथम शिलालेख में सम्राट अशोक ने कहा है, 'यहां (मेरे साम्राज्य में) कोई जीव मार कर हवन न करे और न समाज किया जाय क्यों कि देवानांप्रिय समाज में बहुत दोष पाते (देखते) हैं। लेकिन कुछ समाज ऐसे भी हैं, जो राजा (अशोक) के मन में साधु (उत्तम) हैं।

'पहले देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा की पाकशाला में प्रतिदिन कई लाख प्राणी

शोरवे (सूप) के लिए मारे जाते थे। परन्तु आज जब यह धर्मलिपि लिखायी गयी, तीन ही प्राणी मारे जाते हैं। दो मोर और एक मृग। वह मृग भी निश्चित रूप से नहीं। ये तीन प्राणी भी बाद में नहीं मारे जायेंगे।

शिलालेख का यह कथन कि राजकीय पाकशाला के लिए लाखों प्राणी मारे जाते थे, बहुत विस्मयपूर्ण हैं। क्या इतने प्राणी राजकीय परिवार के लोगों के हित काम आते थे? किन्तु मात्र राजपरिवार के लिए सहस्रों प्राणियों का वध संभव नहीं प्रतीत होता है। यदि साधारणतया हिसाब लगाया जाय तो एक पशु तथा हिरन छः स्त्री पुरुषों के लिए काफी है। अतः इस हिसाब के अनुसार सौ सहस्र अर्थात् एक लाख पशुओं को $100000 \times 6 = 600000$ अथवा छः लाख स्त्री-पुरुष खा सकेंगे। चूंकि शिलालेख बहुवचन का प्रयोग करता है, इसलिए 200000 पशुओं को 120000 आदमी खाने को चाहिये। यदि यह भी माना जाय कि इन जीवों में आधी संख्या पशियों की भी है, तो भी 600000 आदमी अनिवार्य हैं। तब क्या यह सम्भव है कि सम्राट के अपने परिवार में नौकरों तथा सेवकों समेत 600000 स्त्री-पुरुष थे? ऐसा होना तो असम्भव है, अतः यह कहा जा सकता है कि सारी राजनगरी की प्रजा को जिमाने के लिए ही सम्राट इतने जीवों को मरवाया करते थे। यह बात अधिक आश्चर्यजनक नहीं समझनी चाहिए। महाभारत में भी रन्ति देव नाम के एक ऐसे राजा का उल्लेख आया है जो अपनी प्रजा को जिमाने के लिए रोज कई सहस्र जीवों का शोरबा बनवाया करते थे।³² महावंश के अनुसार सम्राट अशोक भी बौद्धधर्म ग्रहण करने से पहले 60000 ब्राह्मणों को जिमाया करते थे (महावंश प्रकरण 5)। अतः स्पष्ट है कि कई सौ सहस्र प्राणियों का वध प्रजा को जिमाने के लिए ही किया जाता था। इन वृत्तों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बहुत से प्राचीन राजाओं में प्रजा को जिमाने की प्रथा प्रचलित थी। साथ ही, जिस परिस्थिति में चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राजसिंहासन पर अधिकार प्राप्त किया था, उस कारण सम्भवतया अभी भी बहुत से लोग मगध में ऐसे थे जो मौर्य-शासन को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। अतः इन लोगों के असन्तोष के कारण अशोक को भी राज्य के खो जाने का भय बना हुआ था, इसीलिए अशोक सम्भवतया लोगों को अपनी ओर लाने के लिए उन्हें भोज दिया करते थे। इस बात पर आश्चर्य न करना चाहिए, क्यों कि हमें मालूम है कि अलाउद्दीन खिलजी ने जब जलादुदीन खिलजी को मारकर शासन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो प्रजा के असन्तोष के भय से उसने लोगों को अपना पक्ष ग्रहण करवाने के लिए खूब धन बांटा था, जिससे लोग पहले वाले राजा को भूल जायें और उसकी ही उदारता की सराहना करने लगे।

समाज

शासन के प्रारम्भिक भाग में सम्राट अशोक 'समाज' द्वारा प्रजा का मनोरंजन किया करते थे। ये 'समाज' क्या हुआ करते थे, यह हमको मालूम करना है। सेनार्ट 'समाज' को उत्सव कहता है।³³ व्यूलर समाज को 'मेला' बतलाता है।³⁴ खारवेल के हाथी गुम्फा लेख में भी समाज को उत्सव कहा गया है। महामारत में धनुर्युद्ध को समाज कहा गया है।³⁵ 'हरिवंश' मल्ल युद्ध को समाज कहता है। मेगस्थनीज के विवरण से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के समय में घोड़े और बैल-गाड़ियों की दौड़ तथा हाथी, वारहसिंहा, सांड, मेढ़ा आदि की लड़ाई मनोविनोद के लिए हुआ करती थी। इन सब विवरणों के आधार पर कह सकते हैं कि समाज वे उत्सव थे, जिनमें धनुर्युद्ध, मल्ल युद्ध, घोड़ागाड़ी और बैल-गाड़ियों की दौड़ तथा जानवरों की लड़ाई हुआ करती थी। व्यूलर के अनुसार समाज में खान-पान तथा गोष्ठी भी हुआ करती थी, अतः इस अवसर पर लोग मांस तथा मदिरा का खूब व्यवहार करते थे। यही कारण है कि सम्राट ने बौद्ध धर्म ग्रहण करने के उपरांत इन सभाओं को बुरा कह कर बन्द करवा दिया। निःसन्देह ये समाज हिंसात्मक तथा अमर्यादित होने के कारण धर्म को आघात पहुंचाने वाले थे। व्यूलर की सम्मति में ये समाज राज विद्रोहात्मक भी हुआ करते थे, अतः सम्राट का इन सभाओं को बन्द करवाना अनिवार्य एवं नीतियुक्त था। इसके अतिरिक्त एक और प्रकार का समाज भी हुआ करता था, इस समाज को सम्राट ने अच्छा कहा है। यह समाज क्यों अच्छा था- इसका स्पष्टीकरण चतुर्थ शिलालेख कर देता है। चतुर्थ शिलालेख में सम्राट कहते हैं- 'अज देवेन प्रियस प्रियद्रशिनेर ने धर्मचरणेन भेरिघोष, अहां ध्रमघोष विमन द्रशन, अगि कन्धानि अंजनि च, दिविन रूपनि- द्रशेतिजनस (मानसेरा)।' अर्थात् 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप भेरीनाद (वीर घोष) धर्मघोष हुआ तथा लोगों को विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये गये।' इस वृत्त से स्पष्ट होता है कि इस दूसरे प्रकार के समाज में विमान के दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि धार्मिक दिव्य रूपों के दर्शन कराये जाते थे और इसी कारण यह समाज अच्छा माना जाता था।

कलिंग विजय और सम्राट का धर्म-परिवर्तन

अशोक के जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है, कलिंग का युद्ध। कलिंग युद्ध न केवल सम्राट अशोक के जीवन का परिवर्तन काल माना जाता है, अपितु यह युद्ध सम्राट के जीवन को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागों में बांट देता है। पूर्वार्द्ध जीवन जन्म से प्रारम्भ होकर कलिंग युद्ध में समाप्त हो जाता है। इसके बाद

अशोक के जीवन का उत्तरार्द्ध आरम्भ होता है। इस भाग में सम्राट अपने नवीन रूप में धर्मघोष करते हुए प्रकट होते हैं और अन्त तक धर्मपराक्रम करते चले जाते हैं।

इतिहास के चरित्राख्यानों में हम कोई भी चरित्र ऐसा नहीं पाते, जिसका हृदय वच्चों जैसा कोमल, फूलों के समान सुन्दर भावनाओं से सुरभित, कवि या भावुक और राजा होते हुए भी मानवीय गुणों से परिपूर्ण रहा हो। किन्तु ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत के इतिहास में एक ऐसे भी चरित्र का प्रादुर्भाव हुआ था, जो विश्व के इतिहास में भिक्षु सम्राट अशोक के नाम से प्रख्यात हुआ।

सम्राट अशोक मुख्यतः मानव थे। एक समय राजकीय भावावेश में आकर अशोक ने युद्ध में परास्त कर कलिंग को विजय किया, किन्तु विजय करने के उपरान्त सम्राट को भली भांति मालूम हो गया कि 'विजय' और 'युद्ध' का अर्थ कितना भयानक और भीषण है। युद्ध के दानवी परिणामों को देख कर सम्राट का कोमल हृदय विचलित हो उठा और यह युद्ध अंत तक सम्राट के जीवन मार्ग का पाषाण बन कर रहा। यह कलिंग युद्ध सम्राट अशोक का प्रथम और अन्तिम युद्ध रहा। इस भयंकर युद्ध का वर्णन करने से पहले पाठकों को अशोक के समकालीन कलिंग देश की एक झाँकी दिखला देना आवश्यक है। इससे पढ़ने वालों को विदित हो जाएगा कि विजित होने से पहले कलिंग की क्या स्थिति थी।

कलिंग प्रान्त का वर्णन करते हुए चीनी यात्री ह्वेन सांग लिखता है, 'इस कलिंग प्रदेश की परिधि 200 ली है। इसकी राजनगरी 20 ली है। यह प्रांत खूब उपजाऊ है। यहां खेती का कार्य विधिवत किया जाता है। यह प्रदेश फल और फूलों के वृक्षों से गुलजार है। इस प्रदेश में सैकड़ों ली तक फैले हुए मनोरम वन्य और आटवी (जंगल) हैं। यहां बड़े-बड़े भूरे हाथी पाये जाते हैं। इन हाथियों की पड़ोसी देशों में बड़ी मांग है। जलवायु सूर्योत्पल और तापपूर्ण है। यद्यपि यहां के लोग अधिकतर रुक्ष और असभ्य हैं किन्तु वे सत्यवादी तथा विश्वसनीय हैं।' कलिंग देश का यह वर्णन उस समय का है, जब ह्वेनसांग भारत आया था। आगे चलकर ह्वेन सांग फिर लिखता है 'प्राचीन काल में कलिंग राष्ट्र बहुत ही घना वसा हुआ था। यहां की जनसंख्या अगण्य थी। यहां के लोगों के कंधे (स्कन्ध) एक दूसरे से रगड़ खाते थे, वहां के लोगों के रथ के पहिये (धुरियां) आपस में टकराते थे। अपितु जब वे अपने हाथों की आस्तीनों को ऊपर उठाते थे तो एक सम्पन्न उपकारिका या खेमा तैयार हो जाता था। वहां पांच आध्यात्मिक शक्तियों वाला एक ऋषि उच्चस्थान पर समाधि लिए पवित्र मंत्र जपा करता था। अपनी शक्ति के क्षीण होने पर कलिंग के लोगों ने उसका तिरस्कार किया। इस तिरस्कार से क्रुद्ध हो ऋषि ने शाप दिया कि कलिंग की सभी जनता वृद्ध, बाल, युवा सब विनष्ट हो जायें। इस

शाप के फलस्वरूप ज्ञानी, भोले, सरल, निरपराध, तरुणी, युवा, वच्चे सबकी एक ही गति हुई। इस प्रकार कलिंग की सम्पूर्ण जनता नष्ट हो चली।³⁶

यह वृत्तांत सम्राट के शिलालेख में दिए हुए भयानक हत्याकांड का साक्षी है, अपितु उसी हत्याकांड का उल्लेख करता हुआ सा मालूम पड़ता है। इन विवरणों से ज्ञात होता है कि कलिंग एक सुसम्पन्न और समृद्धशाली प्रान्त था। इस देश की जनसंख्या काफी ज्यादा थी। यह प्रान्त काफी उपजाऊ था और लोग खुशहाल थे। वहां के हाथी हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ हुआ करते थे। ये हाथी बहुमूल्य थे क्योंकि प्राचीन काल में हाथी-सेना ही प्रधान शक्ति समझी जाती थी। इन्हीं हाथियों को देख कर सिकन्दर महान भी भयभीत हो उठा था। ऐसे समृद्धशाली देश, विशाल जनसंख्या और हस्तियों के प्रदेश का राजा कैसा शक्तिमान होगा, इसका अनुमान मेगस्थनीज के वर्णन से किया जा सकता है। 'कलिंग राज के रक्षकों में 60000 पैदल, 10000 अश्वारोही और 700 हाथी थे।'³⁷

सम्राट के शिलालेख से भी हमको कलिंग की अपार सेना का उल्लेख मिलता है। 13वां शिलालेख कहता है 'अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग-विजय किया। यहां से डेढ़ लाख मनुष्य बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे कहीं अधिक मरे।'

इस शिलालेख से साफ होता है कि कलिंग की सैन्य-संख्या बहुत भारी थी, यहां से डेढ़ लाख आदमी कैद कर बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और जो मरे, यदि उनकी संख्या आहत होने वालों से तिगुनी की जाय, अर्थात् उनकी संख्या तीन लाख हो, तो कुल सैन्य की संख्या होगी $1/1/2 + 1+3=5/1/2$ लाख। अतः स्पष्ट है कि कलिंग जैसे छोटे प्रदेश के वीर सैनिकों की संख्या, जिसने सबल राष्ट्र के अनुचित आक्रमण के विरुद्ध स्वतंत्रता की वेदी पर सहर्ष अपने प्राणों की आहुति दी, निःसन्देह साढ़े पांच लाख के लगभग थी।

प्रकट है कि कलिंग राज की विशाल वाहिनी एक प्रबल राष्ट्र की सेना से किसी भी प्रकार कम न थी। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अशोक ने कलिंग राज्य को विजय करने की क्यों ठानी? इसका कारण क्या हो सकता है? इस प्रश्न को श्री भंडारकर इस प्रकार हल करते हैं। 'कलिंग सम्राट अशोक की राजनीति में कलंक स्वरूप था। 13वें शिलालेख से ज्ञात होता है कि आन्ध्र और परिन्दा के प्रान्त अशोक के साम्राज्य के अन्तर्भूत थे। सामान्यतः आन्ध्र, कृष्णा और कावेरी मण्डल (जिले) का प्रदेश था क्योंकि सम्राट की राजनगरी पाटलिपुत्र थी। अस्तु यह अनुमान करना असंगत नहीं कि वर्तमान बंगाल का गुरुतर भाग साम्राज्य के अन्तर्गत था। इससे ज्ञात होता है कि (यदि मेरा अनुमान सत्य हो) 'परिन्दा' सम्भवतः साम्राज्य की पूर्वी सीमा पर, कहीं बंगाल में था। इस तरह कलिंग आंतरिक राजनीति में एक कील की तरह गड़ा था, जो कभी भी दक्षिण के चोल राज्य से गुप्त-मंत्रणा कर

सकता था। अतः राष्ट्र की कुशलता और एकीकरण के लिए कलिंग विजय करना परम आवश्यक था और यही सम्राट ने किया भी।

उपरोक्त कारण के अतिरिक्त हम इस युद्ध के कुछ और कारणों का अनुमान भी कर सकते हैं। खारवेल-लेख से मालूम होता है कि कलिंग नन्दवंशीय राजाओं के अधिकार में था, किन्तु जिस समय चन्द्रगुप्त मौर्य ने विद्रोह किया, सम्भवतया उसी समय कलिंग भी मगध राष्ट्र से स्वतंत्र हो चला था। अतः कलिंग नन्दवंशीय राजाओं के समय से ही मगध साम्राज्य का एक अंग था। इसलिए मगध राष्ट्र के खोये हुए प्रान्त को फिर से मिलाने की अभिलाषा से भी प्रेरित होकर अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की थी। अतः स्पष्ट है कि मगध साम्राज्य कलिंग पर अपना स्वत्व समझता था, जिस हेतु उसे असंख्य प्राणियों का रक्त बहाना पड़ा। दूसरा सम्भव कारण कलिंग की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई शक्ति थी। कलिंग एक समृद्धिशाली एवं वीर प्रदेश था। उसकी सेना असंख्य थी तथा वह सर्व प्रकार उन्नति पर था। अतः मौर्य साम्राज्य के लिए उसकी प्रबलता घातक बन रही थी। कलिंग के कारण मौर्य-राष्ट्र का एकीकरण होना भी असम्भव था, अपितु कलिंग की प्रबलता एक दिन मौर्य साम्राज्य के लिए घातक भी हो सकती थी।

अतः इन्हीं सब कारणों से कलिंग विजय करना आवश्यक था, किन्तु इस विजय का परिणाम क्या हुआ- यह 'धर्म' के अगले प्रकरणों से मालूम होगा। वस्तुतः यह युद्ध कलिंग विजय समेत 'आध्यात्मिक' विजय का भी कारण बना। इस युद्ध के समय से ही सम्राट का धार्मिक जीवन प्रारम्भ हुआ और अब सम्राट की विजय शस्त्र के वजाय धर्म से चरितार्थ की जाने लगी। कलिंग युद्ध के अनन्तर सम्राट ने कहा था कि 'भेरीघोष अब धर्मघोष' में परिवर्तित कर दिया गया है।

कलिंग युद्ध के सिवा शिलालेखों से हमें अन्य युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः प्रतिज्ञानुसार कलिंग विजय के बाद सम्राट ने शस्त्रों से विजय करना छोड़ दिया। कश्मीरी गाथाओं के अनुसार अशोक ने कश्मीर को भी विजय किया था, किन्तु कश्मीर की विजय निःसन्देह कलिंग से पहले की है। सम्भवतया कश्मीर को चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही पहले विजय कर लिया था।

कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट का उत्तरार्द्ध जीवन आरम्भ होता है। यह जीवन सम्राट के धर्म पराक्रम, धर्म विजय तथा धर्म प्रचार का जीवन है। इसका वर्णन अगले प्रकरणों में किया जायेगा।

अध्याय-2

साम्राज्य की सीमाएँ और विस्तार

इतिहास की धुँधली गोधूली में खड़े होकर हमें अशोक के साम्राज्य का पता लगाने तथा उसकी सीमाओं को निर्धारित करने में पुनः शिलालेख आदि के धीमे प्रकाश को ही हाथ में लेकर चलना पड़ता है। बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित होती यदि सम्राट अशोक उस दूरस्थ विगत-काल से शिलालेखों के माध्यम द्वारा अपनी उस पावन वाणी में हमसे बातें न करता, वह वाणी जो अभी भी पाषाणों में जीवित है और हमें द्रवीभूत करती है।

अशोक प्रतापी मौर्य चन्द्रगुप्त का पोता था जिसने, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, जनरल सेल्यूकस और सिकन्दर की विजयों को पुनर्जीवित करने के उपक्रम को विनष्ट कर, उत्तरी भारत पर एकछत्र शासन स्थापित किया था। इस भांति मौर्य राज्य एक सुदृढ़ राष्ट्र था, जिसका अधिपति धार्मिक अशोक हुआ। उन्हें इसके विस्तार तथा रक्षा के लिए खड्ग की शरण नहीं लेनी पड़ी। अशोक ने करीब 261 ई० पू० में केवल कलिंग विजय किया था। इस कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट का नवीन जन्म हुआ। इस युद्ध की भीषणता से सम्राट दुःखित हो चले। तत्पश्चात् उन्होंने बुद्ध के कल्याण मार्ग का अनुसरण किया और शस्त्रों की विजय त्याग कर धर्म विजय आरम्भ की। उस धर्म विजयी सम्राट का साम्राज्य कहां तक निश्चित रूप से फैला हुआ था, इसी विषय का हम इस प्रकरण में यथासम्भव पूर्णरूप से विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

प्रथम, अशोक के राज्य का विस्तार हम शिलाभिलेखों तथा स्तम्भों के भौगोलिक विभाजन से मालूम करते हैं। ये शिलाभिलेख समस्त भारतवर्ष में मिलते हैं। शिलाभिलेख द्वारा हमें दो तरह से राज्य की सीमाओं का ज्ञान होता है। एक तो जिन जगहों पर वे पाये जाते हैं, अर्थात् शिलालेखों और दूसरे शिला और स्तम्भों की लेखमाला से। इन दो आधारों पर ही हम उनके साम्राज्य का विस्तार मालूम कर सकते हैं।

शिलालेखों आदि के भौगोलिक बंटवारे का निदर्शन करने के लिए प्रथम उत्तर से चलें। उत्तर की ओर चतुर्दश शिलालेखों की तीसरी प्रति हमें कालसी नामक एक गांव में उपलब्ध होती है। कालसी देहरादून जिले के अन्तर्गत है। यह गांव चक्रौता के रास्ते में पड़ता है। यह प्रति उसी जगह पर पायी गयी है, जहां से यमुना अपने जन्मदाता हिमालय की गोद से विदा लेती है।

पश्चिम की ओर चलते हुए हमें चौथी और पांचवी दो प्रतिमाँ उपलब्ध होती हैं। इनमें से एक प्रति 'मानसेरा' में पाई गयी है। यह मानसेरा ऐबटाबाद से 15 मील की दूरी पर उत्तर की ओर हजारा जिले में है। दूसरी प्रति पेशावर जिले के शाहबाजगढ़ी नाम के स्थान पर पायी गई है। शाहबाजगढ़ी पेशावर के उत्तर-पूर्व में चालीस मील की दूरी पर है। यहां से दक्षिण की ओर मुड़ते हुए पश्चिमी किनारे पर पहुंच कर हमें एक और प्रति गिरनार या जूनागढ़ के समीप सौराष्ट्र (काठियावाड़) में मिलती है। ये लेख सुरम्य झील के ऊपर एक पाषाण पर खुदे हैं। यह झील 'सुदर्शना' के नाम से प्रख्यात है। रुद्रदमन के लेख से (150ई0) विदित है कि यह मनोहारी झील जूनागढ़ के समीप रैवा और उरायत पहाड़ियों पर पालिसिनी तथा अन्य नदियों के पानी को रोक कर मौर्य राजाओं द्वारा निर्मित की गई थी।

दूसरी प्रति सोपारा थाणा जिले में मिली है। सोपारा बम्बई से 37 मील उत्तर की ओर है। चतुर्दश शिलालेखों की एक दूसरी प्रति आन्ध्र प्रदेश में कुरनूल जिले के एरंगुडि नामक स्थान पर उपलब्ध हुई है। दूसरा शिलालेख हमें धौली में प्राप्त हुआ है। धौली पुरी जिले में भुवनेश्वर के पास स्थित है। एक अन्य प्रति जौगुडा में मिली है। जौगुडा गंजाम जिले में ऋषिकुल नदी के ऊपर स्थित है। इसके अलावा गौण शिलाभिलेखों की प्रतियाँ उत्तर मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले में निम्न स्थानों पर पायी गयी हैं, सिद्धपुर, जतिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरी। जबलपुर के पास रूपनाथ नामक एक तीर्थ-स्थल है। यहां पर भी गौण शिलाभिलेख की एक प्रति उपलब्ध हुई है। वैराट, जयपुर राजपूताना में भी गौण शिलालेख मिले हैं। वैराट की एक दूसरी पहाड़ी आवरु में भी गौण शिलालेख की एक प्रति प्राप्त हुई है। इसके अलावा आन्ध्र में मास्की नामक स्थान पर भी गौण शिलालेख उपलब्ध हुआ है। इन शिलाभिलेखों के स्थानों का निदर्शन कर अब स्तम्भ लेखों के स्थान का निर्णय किया जायेगा।

स्तम्भ लेख निम्नलिखित स्थानों पर स्थापित किये गये थे, 1- अम्बाला के पास तोपारा में, 2- मेरठ में, कहा जाता है कि इन दोनों स्तम्भों को देहली का सुल्तान फिरोजशाह तुगलक बड़ी कठिनाई एवं प्रयत्न के साथ वहाँ ले गया था। इन स्तम्भों को ले जाने हेतु 42 पहियों की गाड़ी बनायी गयी थी। प्रत्येक पहिए पर रस्सी बंधी थी और प्रत्येक पहिए को खींचने के लिए दो सौ आदमी तैनात थे। 3- तीसरा स्तम्भ कौशाम्बी में खड़ा किया गया था। इस स्तम्भ को सम्भवतया अकबर कौशाम्बी से हटा कर इलाहाबाद ले गया था। 4- चौथा स्तम्भ लौरिया अरराज (चम्पारन जिले के राधिया नामक स्थान पर)। 5-6 लौरिया नन्दनगढ़ (चम्पारन जिले में ही) रामपुरवा (चम्पारन जिले में) था।

गौण स्तम्भ लेखों के स्थान, जहां वे पाये गये हैं-

1. बनारस के पास सारनाथ में।

2. नेपाल के रुमिनिन्दी नामक स्थान में।

3. निगलिवा (नेपाल) की तराई में।

शिलालेखों, गौण शिलाभिलेखों, स्तम्भों और गौण स्तम्भों के इस विस्तृत भौगोलिक विभाजन से स्पष्ट है कि अशोक का साम्राज्य अत्यंत विशाल था। उसके शासन में सूर्य की प्रखर स्वर्णिम किरणें हिमालय के श्वेत मस्तक का आलिगन करती हुई समुद्र के अधरों का चुम्बन करती थीं। इसी से चतुर्दश शिलालेख में सम्राट गौरव के साथ कहते हैं-‘मेरा साम्राज्य अत्यंत विस्तृत है और पृथ्वी (सम्पूर्ण विश्व) मेरे अधीनस्थ है।’ सम्राट का यह कथन निःसंशय अक्षरशः सत्य है।

शिलाभिलेखों और स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त सम्राट के स्तूपों से भी साम्राज्य का विस्तार मालूम होता है।

एक समय सम्राट ने आचार्य मोगलिपुत्र तिस्स से पूछा- ‘भगवान के क्या सिद्धांत हैं?’ इस पर मोगली पुत्र तिस्स ने उत्तर दिया। जब राजा को मालूम हुआ कि धर्म के 84000 मत या अभिप्राय हैं, तो वह बोला - ‘मैं प्रत्येक के लिए एक विहार समर्पित करूँगा।’ चौरासी हजार विहारों के लिए नब्बे हजार (90000) घोड़े और कोटि खजाना वितरण करते हुए अशोक ने स्थानीय राजाओं द्वारा जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरों में विहार बनवाये और पाटलिपुत्र (पुष्पहपुर) के ‘अशोकराम’ विहार का कार्य अपने ऊपर लिया।¹ इसी गाथा को फाहियान ने दूसरे शब्दों में लिखा है, इस वर्णन के अनुसार ‘अशोक आठ स्तूपों (तोप) को नष्ट कर उनकी जगह चौरासी हजार तोप अथवा स्तूप बनवाना चाहता था।² गाथाएं जो कुछ भी कहें, किन्तु अशोक द्वारा निर्मित कुछ स्तूपों का अवश्य पता लगा है। कश्मीर और नेपाल में अशोक के स्तूपों का पाया जाना इसका प्रमाण है कि ये दोनों देश साम्राज्य के अन्तर्गत थे। कल्हण की राजतरंगिणी (ग्रंथ 1, 101, 207) के अनुसार जैसा कि हम पहले कह आये हैं, अशोक कश्मीर का सम्राट था। कश्मीर की राजनगरी श्रीनगर का निर्माण अशोक ने ही करवाया था। नेपाल में भी अशोक ने एक नगर बनवाया था।

ह्वेनसांग को काफिस (काफिरस्तान) में भी अशोक के स्तूप मिले थे। जलालाबाद (उत्तर-पश्चिम में) और उदयन में भी ह्वेनसांग ने अशोक के स्तूपों को देखा था। ताम्रलिप्ति में भी सम्राट का स्तूप था, इससे सिद्ध होता है कि बंगाल भी साम्राज्य के अन्तर्गत था। ताम्रलिप्ति (बंगाल) प्राचीनकाल में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। दक्षिण के यात्री बहुधा इसी बन्दरगाह से सामुद्रिक-यात्रा किया करते थे। ह्वेनसांग को एक और स्तूप समाताता (ब्रह्मपुत्र का डेल्टा) की राजनगरी में भी मिला था। इनके अलावा कई अन्य स्तूप निम्नलिखित स्थानों पर मिले थे-

1. पुण्ड्रवर्धन (उत्तरी बंगाल)

2. कर्नसुवर्न (वर्तमान बर्धमान)
3. वीर भूमि
4. मुर्शिदाबाद जिले में
5. चोड़ (प्रान्त)। हवेनसांग को यहां एक स्तूप मिला था।
6. द्रविण में भी हवेनसांग ने (अशोक का) स्तूप देखा था।

इन स्तूपों से भी साम्राज्य के विस्तार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। महावंश तथा राजशास्त्र के अनुसार भी, जहां कहीं स्तूप पाये जाते हैं, उन सबका अधीनस्थ होना अनिवार्य है। राजा अपने अधीनस्थ प्रदेशों में ही स्तूप का निर्माण करवाते थे।

साम्राज्य के विस्तार अथवा राज्य की सीमाओं को निर्धारित करने के लिए शिलालेखों की अन्तरंग साक्षी भी बड़े काम की वस्तु है। इन शिलालेखों में अशोक ने अपने समकालीन राजाओं का उल्लेख किया है। इन लेखों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से साम्राज्य का विस्तार पूर्णरूप से निर्धारित हो सकता है। सीमाओं का निर्णय करने के लिए द्वितीय, पंचम और त्रयोदश शिलालेख प्रमुख हैं।

द्वितीय शिलालेख (गिरनार) लिखता है, 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अपने विजित राज्य तथा अन्य सीमान्त प्रदेशों में जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र (या सत्यपुत्त) केरल पुत्त और ताम्रपर्णी प्रदेशों में तथा यवन राज एंतीओकस और अन्य राजा जो उस एंतीओकस के पड़ोसी राजा हैं (वहां) और प्रत्येक जगह दो प्रकार की चिकित्साओं (मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा) का प्रबन्ध करवाया है।'

पंचम शिलालेख (मानसेरा) में महामात्रों का उल्लेख करते हुए सम्राट कहते हैं, 'विगत काल में धर्ममहामात्र न नियत किये जाते थे (न थे), किन्तु अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धर्मों) में धर्म की स्थापना और उन्नति के लिए नियत हैं। वे धर्मगामी लोगों के सुख और भलाई के लिए नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, वैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा प्रांत (के लोगों) या (अपरन्ता) के अन्य लोगों के लिए नियत हैं। वे भट और दास, वेतन भोगी नौकरों, ब्राह्मण, साधु और गृहस्थों, असहायों और जीर्ण (वृद्धों) की भलाई और सुख के लिए नियत हैं तथा धर्मानुगामी लोगों की रक्षा के लिए नियुक्त हैं।'

त्रयोदश शिलालेख (शाहबाजगढ़ी) लिखता है- 'ऐसा कोई जनपद नहीं है, जहां वे वर्ण (जातियां) न पाये जाते हों। सिवाय यवन जनपद के ऐसा कोई जनपद नहीं है, जहां के मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। कलिंग युद्ध में जितने लोग आहत हुए, मारे गये और बन्दी बनाये गये, यदि उनका सौवा या हजारवां भाग भी आहत किया जाता, मारा जाता या बन्दी बनाया जाता, तो आज

यह देवताओं के प्रिय को असीम दुःखदायक होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो बुराई करे, उसे भी यदि हो सके तो क्षमा किया जाय। जो वन निवासी देवताओं के प्रिय के विजित राज्य में हैं, उनको भी वह मानता है और धर्ममार्ग पर लाना चाहता है कि जिससे देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। उन्हें यह बता दिया गया है कि देवताओं के प्रिय के पछतावे में भी कितनी शक्ति है, जिससे वे अपने दोषों पर लज्जित हों और नष्ट न हों (मारे न जायें)। देवताओं का प्रिय सर्वजीवों की अक्षति, संयम, समता (अपक्षपात) और आनन्द का अभिलाषी है। जो धर्म विजय है, (वही) उसे ही देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है। यह विजय (धर्म विजय) देवताओं के प्रिय को यहां (अपने विजित राज्य में) तथा सब सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहां यवन राज्य अंतियोकस तथा अन्य चार राजा तालमी (तुरमय), अन्तिगोनस, (अन्तिकिन), मग तथा अलिकसुन्दर (के राज्य) हैं, तथा नीचे (दक्षिण की ओर जहां) चोड़, पांडव तथा ताम्रपर्णी पर (यह धर्म विजय) प्राप्त हुई है।

उक्त शिलालेखों से हमें दो प्रकार के राज्यों अथवा राजाओं का पता लगता है। इन दो प्रकार के राज्यों में से कुछ राज्य (राजा) साम्राज्य की सीमाओं पर थे। ये राज्य बहुधा स्वतंत्र अथवा अर्धस्वतंत्र थे। अन्य राज्य वे थे जो विजित होने से साम्राज्य में सम्मिलित थे। शिलालेखों में अशोक के समकालीन इन राजाओं का नाम दिया गया है। (1) तुरमय (टालिमी), अन्तिगोनस (अन्तिकिन) मग, अलिक-सुन्दर। ये राजा स्वतंत्र थे, इन्हें अशोक के अधीनस्थ न लेना चाहिए। साम्राज्य की दक्षिणी सीमा पर ये राज्य थे चोड़, पांडय सत्यपुत्र (सत्यपुत्त) केरल पुत्र (केरल पुत्त) और ताम्रपर्णी के राज्य। अशोक ने स्वयं इन राज्यों को सीमान्त कहा है, अतः ये राज्य भी साम्राज्य से अलग स्वतंत्र थे (13वां प्रज्ञापन)।

13वें शिलालेख (शहवाज) गढ़ी में निम्न राज्य-यवन, कम्बोज, भोज, पितनिक, आंध्र और पुलिन्द³ साम्राज्य के अन्तर्भूत दिये गये हैं, किन्तु पंचम शिलालेख में इन्हीं को (राज्यों की) पश्चिमी सीमा पर अवस्थित बतलाया गया है। साम्राज्य के विस्तार को व्यवस्थित रूप से निर्धारित करने के लिए उपरोक्त यवन (वैदेशिक) राज्यों के निर्दिष्ट स्थान का ठीक-ठीक निश्चय करना आवश्यक है। प्रथम यवन राज्यों को ही लीजिए, ये यवन कौन थे तथा उनके राज्य कहाँ-कहाँ पर थे? यवन, यूनानी (यूनान के) थे, यह तो निश्चय ही है, परन्तु उनके राज्य किन-किन स्थानों पर थे, यह हमको देखना है। एक बात कम से कम सम्राट के 12वें शिलालेख से स्पष्ट है कि वे साम्राज्य में सम्मिलित थे। अतः प्रश्न यह है कि वे साम्राज्य के किस भाग पर स्थित थे? क्यों कि निःसन्देह साम्राज्य के अन्तर्गत होने से यह स्पष्ट है कि वे ग्रीक या सीरिया के यवन न होंगे। इन यवनों के विषय में

श्री आर.के. मुकर्जी लिखते हैं 'ये यवन निश्चय ही यूनानी होंगे। आयोनियन जो अशोक के साम्राज्य के अपरन्ता प्रान्त में बस गये थे। उनके निर्दिष्ट स्थान का अनुमान कम्बोजों के समीपस्थ किया जा सकता है, जिनके साथ शिलालेख में उनका समागम किया गया है। मनु भी यवन और कम्बोजों का साहचर्य प्रकट करता है। कम्बोज काबुल नदी पर अवस्थित थे तथा यवन भी। यह यूनानी उपनिवेश जायसवाल द्वारा नीसा की सीटी-स्टेट से समीकृत (मिलान किया) गया है। सिकन्दर और उसकी सेना को, हेलेनिक रीति-रिवाजों को देख कर नीसा में घर की अनुभूति हुई थी। नीसा के अधीश का नाम अकौभी था। इस नाम की उत्पत्ति काबुल नदी के वैदिक नाम कुभा से है। लैसन ने इसको इंडस के किसी पश्चिमी प्रान्त से मिलाया है, जिसे सिल्यूकस ने (सन्धि में) अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त को प्रदान किया था। एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि यवन रथ (यवनों का प्रदेश) उन प्रदेशों में से एक था, जहां महावंश के अनुसार अशोक के नेतृत्व में की गई तीसरी बौद्ध सभा द्वारा धर्म प्रचारक भेजे गये थे। साइरस, डेरियस और जरकसीज के समय में ही यवन, आयोनियन्स या ग्रीक लोग अपने देश को छोड़ कर इधर चले आये थे। भारत की सीमा के बाहर इनका प्रथम उल्लेख पाणिनि के यवनानी लिपि और मज्झिम निकाय के उद्धरण से मिलता है।⁴ उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त पर जो यवन (ग्रीक) बस गये थे, कुछ लोग इनमें गुजरात में बसे हुए शक आदि को भी शामिल करते हैं, किन्तु गान्धार और कम्बोज के सान्निध्य से तथा इस बात से कि गुजरात साम्राज्य का अंग था, यह ठीक नहीं जान पड़ता।⁵ 13वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'कोई ऐसा प्रदेश नहीं है, जहां ब्राह्मण और श्रमण आदि सम्प्रदाय न हों, सिवाय यवनों (यवन जनपद) के।' इस उद्धरण से मालूम होता है कि इन यवन प्रान्तों पर आर्य सभ्यता और संस्कृति का अधिक प्रभाव न था तथा ये लोग हेलेनिक सभ्यता अर्थात् यूनानी सभ्यता के ही पोषक और उपासक थे।

पांचवा शिलालेख (मानसेरा) लिखता है, 'वे (महामात्र) यवनों, कम्बोजों, गान्धारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों तथा पश्चिमी सीमा प्रान्त में रहने वालों या अपरन्ता के अन्य लोगों के लिए नियत हैं।' इस पद से सुस्पष्ट है कि शिलालेख में वर्णित यवन जनपद अथवा राज्यों से अभिप्राय यूनान या सीरिया के यवन राज्यों से नहीं है, अपितु ये राज्य भारत की सीमा पर यूनानियों द्वारा बसाये गये उपनिवेश थे। यूनानियों से उपनिवेशों का बसाया जाना बहुधा पाया जाता है। हेलेनिक सभ्यता को विकीर्ण अथवा प्रस्फुटित करने के उद्देश्य से जगह-जगह प्राचीन यवनों द्वारा उपनिवेश बसाये गये थे। इस रूप में मिस्र का उपनिवेश अग्रगण्य था। यहां पर यूनानी सभ्यता को यथेष्ट रूप से उत्कर्ष मिला था। प्रसिद्ध रेखागणितज्ञ यूक्लिड यहीं पर हुआ था।

आश्वलायन में उच्चारित बुद्ध भगवान के निम्न वाक्य 'क्या तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे सीमा प्रान्तों में केवल दो वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग हैं - आर्य (विशिष्ट वर्ग) और दास (नौकर)। आर्य दास हो सकता है या आर्य दास बन सकता है? इस विवरण से स्पष्ट है कि बुद्ध और आश्वलायन के आद्यकाल से ही तथा सिकन्दर के आक्रमण से कई वर्ष पूर्व यवन, कम्बोज आदि उपनिवेश बना कर भारतीय सीमाओं पर आ बसे थे। ये लोग भारतीय संस्कृति से अछूते रहे। भारतीय सभ्यता का उन पर कोई प्रभाव न पड़ा। इस उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि यवन और कम्बोज दोनों समीपवर्ती प्रान्त थे। दोनों का उल्लेख साथ-साथ प्रयुक्त होने से यवन और कम्बोजों का साहचर्य स्पष्ट है। श्री भण्डारकर इस बात को स्वीकार करते हैं कि सिकन्दर के आने से पहले ही यवन लोग कोफिन और इण्डस नदी के मध्य उपनिवेश स्थापित कर रहने लगे थे।

यवन शब्द की उत्पत्ति

यवन शब्द का मूल आयोनियन है। आयोनियन जाति ही सर्वप्रथम व्यापारियों के रूप में बाहर निकली थी। पर्शियन लोग इन्हें यवन कह कर पुकारते थे तथा पीछे जो ग्रीक लोग आये, उन्हें भी ये लोग यवन ही कहने लगे। यदि यवन लोग कोफन और इण्डस के मध्य में रहा करते थे, तो यह प्राचीन जगह, जिसके अवशेष शाहबाज गढ़ी के निकट, जहां पर अशोक का एक शिलालेख मिला है तथा जिसे हवेनसांग यो-लु-शा लिखता है, अशोक के बाहरी प्रान्तों का प्रमुख स्थान था। अतः यवन साम्राज्य उत्तर-पश्चिम भाग में कोफन और इण्डस के मध्य कम्बोज और गान्धार के समीपस्थ था।

कम्बोज और गान्धार

कम्बोजों का प्रदेश यवनों के पास स्थित था, यह हम मालूम कर ही चुके हैं। महाभारत, बुद्ध के वार्तालाप तथा शिलालेख आदि में सभी जगह यवनों, कम्बोजों और गांधारों का साथ ही उल्लेख किया गया है। इन विवरणों से तीनों का सान्निध्य और साहचर्य स्पष्ट विदित होता है। जर्मन विद्वान हुल्श कम्बोजों और गान्धारों को यूनानी, काबुली तथा उत्तर-पश्चिमी पंजाबी कहता है। इस वृत्त से भी यवनों और कम्बोजों का सान्निध्य प्रकट होता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'अशोक की धर्मलिपियाँ' (प्रथम खण्ड, पृष्ठ 51 नोट-6) गान्धार और कम्बोजों के प्रति इस तरह लिखता है—'गान्धार-कम्बोज पूर्वी अफगानिस्तान से सिन्धु नदी तक के पश्चिमी हिमालय और पश्चिमोत्तर पंजाब के वासी, जिनकी भाषा कहीं-कहीं ईरानी सी थी, वर्तमान कंदहारी और काबुली हो सकते हैं।'।

कम्बोज के बारे में श्री भण्डारकर लिखते हैं- 'द्रोणपर्व में कम्बोजों की राजनगरी राजपुर का नाम आया है। यदि यह राजपुर ह्वेनसांग द्वारा वर्णित 'हो-ली-शी-पू-लो' है, जिसको कनिंघम ने कश्मीर के दक्षिणी भाग पर अवस्थित राजौरी स्वीकृत किया है, तो कम्बोजों का प्रान्त ठीक तौर पर निश्चित किया जा सकता है। अतः कम्बोजों का प्रान्त राजौरी के आस पास था तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त का हजारा जिला भी इसी में मिला हुआ था। इसके अलावा 'मानसेरा' भी, जहां पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख की एक प्रति मिली है, इसी कम्बोज प्रदेश के अन्तर्गत रहा होगा।' इन सब विवरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि कम्बोज यवनों के पास ही अवस्थित थे। इनका प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमा पर था तथा सम्भवतया ये लोग काबुली, गान्धारी और उत्तर-पश्चिमी पंजाबी तथा कश्मीरी थे।

नाभक, नाभपन्ति या नाभाक के नाभपन्ति:- इनके प्रति इतिहासकार व्यूत्तर वैवर्त पुराण से एक उद्धरण देता है। इस पद में नाभक पुर नाम के एक नगर का उल्लेख आया है। यह नगर उत्तरी कुरुओं के अधीन था। इस विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि नाभपन्ति या नाभक उत्तर-पश्चिमी में बसी हुई हिमालय की कोई जाति थी। ये लोग कम्बोजों के पड़ोसी थे। पांचवें शिलालेख मानसेरा में नाभक की जगह गान्धार आया है, किन्तु तेरहवें शिलालेख में नाभक कम्बोज और पितनिक के मध्य आया है। अतः भण्डारकर का कहना है कि 'इसी हेतु हमें नाभक को एक ओर यवन और कम्बोजों के मध्य और दूसरी ओर भोज तथा पितनिकों के मध्य स्थित करना चाहिए।' फलतः नाभकों का प्रदेश उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश और भारत के पश्चिमी तट के मध्य कहीं पर था।

राष्ट्रिक पैठानिकों के बारे में भण्डारकर लिखते हैं- 'आगन्तुर निकाय में राष्ट्रीय पैठानिकों का गौण शासक के रूप में उल्लेख किया गया है। इस शब्द का अर्थ 'वंशक्रमानुगत या मौखिक अथवा निज सत्त्व का अधिकारी, किया गया है। अतः शिलालेख के राष्ट्रिक यवनिकों को सम्मिलित रूप में ही लेना चाहिए। राष्ट्रिक और पैठानिक अलग-अलग दो शब्द नहीं हैं। राष्ट्रिक पैठानिक का अर्थ है - वह जो किसी राष्ट्र या प्रान्त का वंशक्रमानुगत (पितृक्रमागत) उत्तराधिकारी अथवा शासक है। हो सकता है कि आदिकाल में उसका पूर्वज किसी सम्राट द्वारा शासक (अधिपति) नियुक्त किया गया हो। भारतवर्ष में ऐसे शासकों की कमी न थी। दक्षिण के लेखों से मालूम होता है कि वहां पर ऐसे कई सामन्त या शासक थे। इन्हीं को महारि भी कहा गया है। बम्बई के थाना और कोलाबा जिलों तथा पूना के आस-पास के स्थानों पर वे सामन्त और महारि शासन करते थे। तेरहवें शिलालेख के भोज-पितनिक और पांचवें शिलालेख के राष्ट्रिक भी इसी प्रकार के शासक थे।' हुल्लज लिखता है कि रिठि या राष्ट्रि से अभिप्राय काठियावाड़ के लोगों

से है क्योंकि रुद्रदमन के जूनागढ़ लेख में उसके शासक (गवर्नर) का नाम राष्ट्रीय दिया गया है।

भंडारकर के मतानुसार पितनिक किसी राष्ट्र विशेष से अभिप्राय नहीं रखता। अपितु उसका अर्थ वंशक्रमानुयायी (उत्तराधिकारी) से है जो भोज और राष्ट्रिकों के आगे विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह धारणा कुछ कमजोर सी मालूम होती है क्यों कि हमें विभिन्न प्रकार के पितनिकों का सन्दर्भ, जैसे राटिक पितनिकान और राटिकानाम पितनिकान तथा तेरहवें शिलालेख में संयुक्त भोज-पितनिकेसु और पितनिकेसु मिलता है। ब्यूलर ने 'विदर्भ' को भोजों का प्रदेश कहा है। हुल्ट्ज (Hultz) उनके प्रदेश को कहीं पश्चिम की ओर स्थित कहता है। भोजों का एक सम्राट कश्मीर के राजा का समकालीन था, जैसा कि कल्हण लिखता है। सम्भव है कि कौशल और महाकौशल की तरह राष्ट्र और महाराष्ट्र भी रहे हों। यद्यपि राष्ट्र अब केवल शिलालेख में ही अवशिष्ट है। अलवर का हिस्सा अभी तक राट कहलाता है। काटियावाड़ और मालवा का मध्य भाग भी राट कहलाता है। सीमाप्रान्त तथा उत्तर गढ़वाल में भी राट व आरट् जाति पायी जाती है, किन्तु इनसे यहां पर कोई तात्पर्य नहीं है। पैठानिक से अभिप्राय गोदावरी के तट पर स्थित प्रतिष्ठान से है (ब्यूलर)। अतः ये नाम उन जातियों के हैं। संभवतया ये जातियां महाराष्ट्र (दक्षिण) के पड़ोसी प्रदेशों में रहती थीं। ये लोग अशोक के शासन में पूर्ण रूप से सम्मिलित न थे।⁶

अपरन्ता

संस्कृत साहित्य में यह शब्द पश्चिमी भारत के लिए प्रयुक्त हुआ मालूम पड़ता है। पुराण में भारतवर्ष के निम्न पांच भाग किये गये हैं-

1. मध्य देश या मध्य भारत, 2. उदीची (उत्तर), 3. प्राच्य (पूर्व), 4. दक्षिणापथ (दक्षिण) और अपरन्ता (पश्चिम)। इन पांच विभागों को काव्य मीमांसा इस प्रकार उल्लेख करती है-

 1. पूर्व देश- वाराणसी से पूर्ववर्ती प्रदेश।
 2. दक्षिणापथ - महिष्मती से दक्षिण की ओर विस्तृत प्रदेश।
 3. उत्तरापथ - पृथुदका के उत्तर ओर या थानेश्वर के पश्चिम का प्रदेश।
 4. अन्तर्वेदी - मध्यदेश, विनासेन और प्रयाग, गंगा-यमुना के मध्य का प्रदेश।
 5. पश्चिम देश - पश्चिमी प्रदेश, जिसे पुराणों में अपरन्ता कहा गया है, के अन्तर्भूत निम्न प्रदेश दिए गये हैं- देवसभा, सौराष्ट्र, दासरका (मालवा) भावन, भृगुकच्छ, कच्छछीया, आमर्त्त (गुजरात) अरबुदा, (आबू पहाड़ के पास), यवन आदि। मालूम होता है कि सम्राट के शिलालेख में आये हुए

यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक सभी अपरन्ता के अन्तर्गत थे। पांचवाँ शिलालेख मानसेरा इस पक्ष की पुष्टि करता है। यह शिलालेख लिखता है - 'वे (धर्ममहामात्र) सब धर्मों (सम्प्रदायों) के लिए नियुक्त हैं। वे धर्म की स्थापना और वृद्धि के लिए हैं तथा धर्मानुरागी लोगों के सुख और हित के लिए हैं। वे यवनों, कम्बोजों, गान्धारों, राष्ट्रिकों, पैठानिकों और जो कोई भी पश्चिमी सीमा प्रान्त या अपरन्ता के लोग हैं, उनके (हित और सुख के) लिए नियत हैं।' अतः यवन, कम्बोज आदि लोगों का प्रदेश, पाश्चात्य प्रदेश अथवा अपरन्ता के नाम से विख्यात था। महावंश के अनुसार इस अपरन्ता को, तीसरी बौद्ध महासभा द्वारा, एक धर्म-मिशनरी (बौद्ध धर्मप्रचारक) भेजी गयी थी। पाली साहित्य के अनुसार अपरन्ता की राजनगरी शरपराका, वर्तमान थाना जिले का सोपारा, जहां पर चतुर्दश शिलाभिलेखों की एक प्रति मिली है, थी। जायसवाल ने अपरन्ता और अन्ता दो विरोधी शब्द लिये हैं, उनके अर्थानुसार 'अन्ता' साम्राज्य के अन्तर्गत लोग थे और 'अपरन्ता' वे लोग थे जो साम्राज्य के बाहर बसे थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र (शामशास्त्री, प्रकरण दो 2,50) 'पश्चिमी प्रदेशों के हाथी अथवा अपरन्ता के हाथी मध्यम प्रकार के होते हैं।' अतः कौटिल्य पश्चिमी भारत के लिए अपरन्ता का प्रयोग करता है। इसी ग्रंथ (भाग दो के 24 वें प्रकरण) में वर्षा का उल्लेख करते हुए कहा गया है 'जंगल प्रदेश में वर्षा का नाप 16 द्रोण है, जलदि प्रदेशों (अनुपान) में इससे आधा अधिक और जो प्रदेश खेती योग्य हैं, वहां 24 द्रोण, असम के प्रदेश में 13/1/2 द्रोण, अवन्ती में 23 द्रोण और पश्चिमी प्रदेशों (अपरन्ता) में बहुत ज्यादा पानी बरसता है।' शाम शास्त्री ने अपरन्ता को 'कोंकण' प्रदेश से मिलाया है।

अपरन्ता को पश्चिमी सीमान्त प्रदेश के रूप में लेना चाहिए। गिरनार शिलालेख में यह पद दिया गया है - 'इधराज विसयमिहो यो' अर्थात् जो राज्य (राजा) साम्राज्य के अन्तर्गत है, किन्तु पूर्ण शासन में नहीं है। दूसरे शिलालेख में इन (अपरन्ता) के लिए 'विजतसि' आया है। 'सवता विजतसि देवानांप्रियसा पियदसिसा लाजिने।' संभवतः अपरन्ता पश्चिमी सीमा प्रान्त के यवन व ग्रीक आदि थे। ये सम्राट अशोक के पड़ोसी राज्य थे, जिन्हें तेरहवां शिलालेख साम्राज्य के अन्तर्गत कहता है, किन्तु जो पांचवें शिलालेख के अनुसार स्वतंत्र सीमान्त प्रदेश कहे गये हैं। इसी अपरन्ता का एक यूनानी तुहमाष्य सम्राट अशोक के गिरनार प्रान्त का शासक था। मालूम पड़ता है कि अपरन्ता के लोग सम्राट के प्रभुत्व का आदर करते थे, स्वतंत्र रहते हुए भी वे अशोक का लोहा मानते थे तथा उनकी विशाल शक्ति को देख कर भयभीत थे। ये लोग हमेशा सम्राट के स्नेहाभिलाषी थे और उनकी अधीनता मानते थे,⁸ किन्तु सम्राट से उनको पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। अशोक

उनका आंतरिक राजनीति में हस्तक्षेप न करते थे, फलतः विजित होते हुए भी सीमान्त प्रान्त स्वतंत्र थे। देखिए कलिंग शिलालेख द्वितीय 'सीमान्त प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे समझें कि सम्राट की अभिलाषा है कि वे मुझसे भय न खायें। मुझ पर विश्वास रखें कि उन्हें मेरे द्वारा सुख ही मिलेगा, दुख नहीं। वे यह भी समझ लें कि जितना वह उनको क्षमा कर सकता है, क्षमा करेगा, कि वे मेरे द्वारा धर्म पर चलने के लिए प्रोत्साहित किये जायेंगे, जिससे वे इस लोक और परलोक दोनों का सुख लाभ कर सकें।' इस वृत्त से सम्राट की सीमान्त नीति पर भी प्रत्यक्ष प्रकाश पड़ता है।

आन्ध्र, कृष्णा और गोदावरी नदी का मध्यवर्ती प्रदेश - वर्तमान आन्ध्र, आन्ध्रों का निवास स्थान (प्रान्त) था, किन्तु आंध्रों का यही मूल स्थान था, इसका निर्णय करना कठिन है। मौर्य राजाओं के समय में उनका कौन सा प्रान्त था, इसका निर्णय निश्चयात्मक रूप से नहीं किया जा सकता। बुद्ध जातक के अनुसार तेलवाहा नदी पर स्थित आन्ध्र पुरा, आन्ध्र की राजनगरी थी। भंडारकर ने इस तेलवाहा नदी को तल या तेल गिरि नदी से मिलाया है। ये नदियाँ मद्रास और मध्य प्रदेश की सह सीमाओं पर बहती हैं। 'फलतः प्राचीन आन्ध्र प्रान्त में जैपुर, मद्रास प्रेसीडेन्सी, विजयापट्टम के जिले तथा मध्य प्रदेश के निकटवर्ती जिले (प्रान्त) सम्मिलित थे। संभवतः आन्ध्र के अन्तर्गत निजाम के राज्य का दक्षिणी हिस्सा, वर्तमान तेलंगाना तथा कृष्णा और गोदावरी के जिले भी शामिल थे।'।

डाक्टर भण्डारकर ने ठीक ही आन्ध्र का इतना विस्तृत विस्तार सूचित किया है। मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में लिखा है कि 'मौर्यकाल में आन्ध्र मामूली शक्तियों में से न था। विशाल राष्ट्रों में से आंध्र का भी प्रमुख स्थान था। आन्ध्र का राष्ट्र यदि मौर्य राष्ट्र से अधिक न था, तो कम भी न था। विजयी मौर्य चन्द्रगुप्त की विश्वविजयिनी सेना का स्थान यदि प्रथम था तो द्वितीय स्थान आन्ध्र की सेना का था।' अतः निश्चय ही आन्ध्र एक विशाल और शक्तिशाली प्रदेश था, जिसका विस्तार कृष्णा नदी के मुहाने तक था। मौर्य साम्राज्य का सूर्य अस्त होने पर, सम्राट अशोक की मृत्यु के पश्चात्, इन आन्ध्रों ने एक शक्तिपूर्ण वैभवशाली राज्य की स्थापना की थी। इस आन्ध्र साम्राज्य ने 400 वर्ष की दीर्घ आयु तक शासन किया। पुलिंदः हुलश या हुल्लज इन्हें पूर्वयि कहता है। वायु पुराण में पुलिन्दों का उल्लेख 'विन्ध्यपुलीया' (विन्ध्याचल के नीचे रहने वाली जाति) के साथ आया है। महाभारत में इन्हीं का स्थान 'चेदि' के समीपस्थ दर्शाया गया है। आन्ध्र और पुलिन्दों का शिलालेख में साहचर्य है। दोनों प्रान्तों का साथ ही उल्लेख आया है। इससे मालूम होता है कि आन्ध्रों की भाँति पुलिंद भी अवश्य पूर्वीय लोग थे। जैसा कि हुल्लज का मत है ये लोग अशोक के साम्राज्य के दक्षिणी-पूर्वी या पूर्वी भाग पर रहते थे। अतः

स्पष्ट होता है कि रूपनाथ भी मध्य देश के जबलपुर जिले में, जहां पर अशोक के गौण शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है, साम्राज्य के अन्तर्गत रहा होगा।

ये पूर्व निर्दिष्ट राज्य अशोक के पूर्णतया शासनाधीन न थे, अपितु उन्हें पूर्ण आन्तरिक स्वातंत्र्य प्राप्त था। इनमें से कई राज्य पूर्णरूपेण स्वाधीन थे तथा कुछ को अर्द्ध स्वतंत्रता प्राप्त थी। उनकी स्वतंत्रता संयमित थी। सम्राट ने स्वयं इन सीमान्त राज्यों के प्रति कहा है, कि 'जहां तक वह उन्हें क्षमा कर सकता है, क्षमा करेगा।' (कलिंग शिलालेख द्वितीय) अर्थात् जब तक ये धर्म पथ पर चलेंगे, स्वतंत्र रहेंगे। इन सीमावर्ती राज्यों के मौर्य राजागण भली प्रकार ध्यान रखते थे। सम्राट चन्द्रगुप्त के समय इन सीमान्त प्रदेशों की देखभाल के लिए अन्तपाल नियुक्त किये गये थे। कौटिल्य लिखता है कि 'साम्राज्य की सीमा पर गढ़-निर्माण करवाना चाहिये। ये गढ़ अन्तपाल के रक्षण में होंगे। उनका कार्य साम्राज्य के द्वार की रक्षा करना होगा।' स्पष्ट है कि अशोक के साम्राज्य में समस्त उत्तरापथ तथा पश्चिमोत्तर भाग शामिल था। साम्राज्य के उत्तर-पश्चिम भाग की यह सीमा थी।

अब हमें दक्षिणी साम्राज्य का विस्तार कहां तक था, यह निर्धारित करना है। अशोक के शिलालेखों में एक निश्चितता पाई जाती है। वह यह कि चतुर्दश शिलालेख जबकि बाह्य प्रान्तों के राजनगर में मिले हैं, गौण शिलालेख साम्राज्य की सीमाओं पर, जो सम्राट के साम्राज्य से स्वतंत्र तथा अर्द्ध स्वतंत्र राज्यों को पृथक करते हैं, पाये गये हैं। चतुर्थदश शिलालेख की दो प्रतियां (धौली और जौगुडा) दूरस्थ प्रान्त की राजनगरी तोसाली में उपलब्ध हुई हैं। शिलालेखों की तीसरी प्रति सौराष्ट्र की राजनगरी जूनागढ़, प्राचीन गिरनार में पायी गयी है। चौथी प्रति बम्बई के पास सोपारा में मिली है, किन्तु गौण शिलालेख, राजनगरियों में नहीं, अपितु सीमान्त पर पाये जाते हैं। बहुत से ऐसे घने जंगलों में मिले हैं, जहां पर कोई प्राचीन अवशेष तक नहीं पाया जाता। ये गौण शिलालेख अशोक तथा बाह्य राजाओं के राज्य की सीमाओं को दो भागों में विभाजित करते हुए मालूम होते हैं। इन सीमान्त प्रान्तों के शासक 'अंता' कहलाये थे। अंता संस्कृत शब्द है।¹⁰ अंता दो तरह के थे, प्रथम वे जिनके राज्य भारत के भीतर ही कहीं पर स्थित थे और दूसरे वे जो भारत के बाहर थे। (देखिए द्वितीय प्रज्ञापन कालसी- 'सवता विजितसि देवानं पियसा पियदासिसा लाजिने, येच अंता अथा चोडा, पंडिया, सति पुत्तों, केलिपुत्तों, तंबपंनि)।'

प्रथम श्रेणी के अंतों (अंता-शासक) में निम्न राज दिये गये हैं- 'चोल, पांड्य, सत्यपुत्र और ताम्रपर्णि।' यहां उल्लेखनीय है कि सत्यपुत्र और केरल पुत्र द्वितीय प्रज्ञापन (कालसी) में एक वचन तथा चोड़ और पांड्य बहुवचन में प्रयुक्त हुए हैं। इस बहुवचन से सम्राट का अभिप्राय क्या चोड़ और पांड्य जातियों से है? किन्तु

ऐसा होना संभव नहीं प्रतीत होता, क्योंकि इसी प्रजापन में सत्यपुत्र और केरल पुत्र का एक वचन में प्रयुक्त किया जाना इस बात को लक्षित करता है कि सम्राट का अभिप्राय यहाँ पर जातियों (मनुष्यों) से नहीं, अपितु राज्यों (शासक अंता) से है। फलतः अशोक के समय दो चोड़ और पांड्य राज्य थे। तालिमी ने भी दो चोड़ राज्यों का उल्लेख किया है। प्रथम चोड़ राज्य शोरटाई था। इस राज्य की राजधानी ओरथरा थी। वह 'शोरा' तमिल 'चोरा' से समीकृत किया जा सकता है। शोरटाई के लिए शोरनागा भी लिखा है, (तालिमी)। अतः यह शोरनागा, चोड़ नागा भी हो सकता है। अस्तु वह राजा जिसकी राजनगरी ओरथरा थी, नागकुल का होगा, और चूँकि उसका प्रदेश, चोड़ (प्रदेश) था, अतः वह चोर-चोड़नाग हुआ। कनिंघम ने ओरथरा को त्रिचनापल्ली के समीपस्थ उदयपुर से मिलाया है। अतः यही दक्षिणी चोड़ राज्य था।

उत्तरी चोड़ राज्य, वेटीगा और एडिसथरोस पहाड़ियों के बीच के प्रदेश में यायावार शोराई रहा करते थे। आरकेटौस उनकी राजनगरी थी। इस आरकेटौस को आर्कट के साथ मिलाया गया है। शोराई लोग यायावार थे। वह एक आदिम जाति थी, जिन्हें आर्य लोग घृणा से शोर अथवा चोर (लुटेरे या डाकू) कहा करते थे। अतः लगता है कि चोड़ साम्राज्य दो थे, 1. दक्षिणी चोड़ राज्य और 2. उत्तरी चोड़ राज्य। दक्षिणी चोड़ की राजधानी ओरथरा (उदयपुर) थी और उत्तरी चोड़ की राजधानी आरकेटौस अथवा अर्काटा के नाम से प्रख्यात थी।

तालिमी ने पांड्य के लिए पाण्डिनोई लिखा है। पाण्डिनोई की राजधानी का नाम मोदोरा, वर्तमान मदुरा (मद्रास राज्य) था। तालिमी के अनुसार पांड्यों का प्रदेश, दक्षिण में त्रिनीवेली और उत्तर में कोयम्बटूर के समीपस्थ पर्वतीय भूमि तक विस्तृत था। तालिमी ने एक ही पांड्य राज्य का उल्लेख किया है। किन्तु 'पांड्य' शिलालेख द्वितीय (कलिंग) बहुवचनांत है। तब क्या अशोक के समय दो पांड्य राज्य थे? बराहमिहोर इस बात को प्रकाशित करता है कि द्वितीय शताब्दी में उत्तर पांड्य अलग राज्य था। इससे लक्षित होता है कि पांड्यों का दूसरा राज्य दक्षिण पांड्य अलग राज्य था। अतः सम्भवतः अशोक के समय पांड्यों के दो राज्य रहे होंगे।

सत्यपुत्र या सत्यपुत्र :- विसैंट स्मिथ ने 'सत्यपुत्र' प्रदेश को कोयम्बटूर जिले के सत्यमंगलम् तथा पश्चिमी घाट मैसूर के सीमांत (देश) मालावार, कोयम्बटूर और कुर्ग के प्रदेशों से मिलाया है। मैसूर के गैजलहाटी दर्रे पर, पहले इसी नाम का एक नगर अवस्थित था। यह नगर उस समय युद्ध कौशल का एक प्रमुख नगर माना जाता था। यह प्रदेश साम्राज्य अन्तर्गत न था।

चन्द्रगुप्त के समय भद्रबाहु के महादेशान्तरगमन द्वारा यह प्रदेश अधिवासित

हुआ था। दुर्भिक्ष की आशंका से ही भद्रबाहु और उसके शिष्य 12 वर्ष के लिए (यह दुर्भिक्ष 12 वर्ष का पड़ा था) दक्षिण में सत्य मंगल प्रदेश गये थे। भद्रबाहु चरित्र में दुर्भिक्ष का उल्लेख इस प्रकार आया है-

‘अथैकस्मिन् दिने भद्रौ भद्र बाहुः समाययौ।
 श्रेष्ठिनो तिदास्यास्य कायस्थित्यै निकेतने।
 तत्र शून्ये गृहे चैथो विघते केवलं शिशुः।
 झोलिकान्तर्गत षष्ठि दिवस प्रमितस्तदा।
 गच्छ-गच्छ वचो ऽवादीव तच्छ्रुवा, मुनिन द्रुतम।
 निमित्तज्ञा ननोऽ ज्ञासीन्मुनिरूत्पातमद्रुतम।
 शरद द्वादश पयुर्यन्त दुर्भिक्षं मध्य मण्डले।’

इस 12 साल के दुर्भिक्ष के फलस्वरूप (वृहत चारनं) ही बड़े पैमाने पर देशान्तरगमन हुआ था।¹¹ जे.आर.ए.एस.1618, पृ.541, लिखता है ‘सत्यपुत्र का प्रदेश वर्तमान कांचीपुर था।’ हवेनसांग लिखता है कि यहां अशोक के स्तूप विद्यमान थे। इस प्रदेश का दूसरा नाम सत्यव्रत भी था। जे.आर.ए.एस.-412. इस प्रदेश का नाम सत्यभूमि बताता है। यह प्रदेश केरल के उत्तर में था, जैसा कि तमिल साहित्य में मिलता है। राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि ‘अन्य अक्षर, पुत्र (पुत्त) भूमि (प्रदेश) या जन्मभूमि के पुत्र के द्योतक हैं।¹² यदि इसे सत्य समझा जाय तो निश्चय ही अनुमान किया जा सकता है कि मूल रूप में केरल और सत्य नाम की जातियां उत्तरी भारत में रहा करती थीं। अतः उत्तर भारत से ही ये जातियां दक्षिण पहुंचीं और वहां उपनिवेश बना कर रहने लगीं। इस प्रकार प्राचीन काल में ये केरलपुत्र और सत्यपुत्र के नाम से प्रख्यात हुईं। जातियों के नाम से प्रदेश का नाम पड़ना आश्चर्य का विषय नहीं है, प्राचीन काल में बहुधा ऐसा हुआ करता था। अस्तु हम कह सकते हैं कि सत्यपुत्र में निम्न प्रदेश शामिल थे, कोयम्बटूर, मालाबार, पश्चिमी घाट और मैसूर की सीमाएं (कांचीवरम् के आस पास का प्रदेश) तथा कुर्ग।

केरल, चेरा या मालावारः अतः मालाबार, समुद्र तट का प्रदेश केरल पुत्र का था। पेरिप्लस के लेख के समय मोजिरिस, वर्तमान कारांगनौर, केरल पुत्र राज्य की राजधानी थी। टालिमी ने इसकी राजनगरी को करोरा के भीतरी भाग में स्थित कहा है। कास्सर वर्तमान कोयम्बटूर जिले में अमरावती पर अवस्थित है।

इन विचित्र विवरणों के कारण केरल पुत्र राज्य की निश्चयात्मक रूप से सीमा निर्धारित करना कठिन है। किन्तु सम्भवतः पूर्व निर्दिष्ट स्थान पर ही ये लोग रहा करते थे। इतना स्पष्ट है कि इन दक्षिण राज्यों (चोड़, पांडय, सत्यपुत्र और केरल

पुत्र) की सीमाएं आपस में मिली हुई थीं और दक्षिण का वह भाग जो अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित न था, इन्हीं चार राज्यों में परस्पर बंटा हुआ था।

इसी संदर्भ में एक बात और ध्यान देने की है कि सम्राट ने अपने शिलालेख में एक और प्रदेश अटवी या आटव्य का उल्लेख किया है। 13 वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं-

‘गुरुमतं यो देवनं प्रियस यो पिच
अपकरेयसि छमित वियमते वो देवनं प्रियस य
शको छमनये य पिच देवनं प्रियस
विजिते योति न पि अनुनेती
अनुनिज्ञ पेती अनुतेप पि च प्रभवे देवनं प्रियस
वचुति तेष किति अवम् पेयु
न च भेयसु इदति हि देवनं प्रियो।’

(शाहबाजगढी)

‘देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है, वह भी क्षमा के योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। जो जंगली जातियाँ (अटवी) सम्राट के साम्राज्य के अन्दर हैं, उनको भी वह अनुगामी और धर्म मार्ग पर लाना चाहता है। वह उन्हें इस बात का ध्यान करवाता है कि सम्राट के पछतावे (अनुतपे) में भी कितनी शक्ति है (प्रभव-प्रभाव), जिससे वे लज्जित हों और नष्ट न होने पावें।’

इस निर्देश से स्पष्ट है कि जंगली जाति (अटवी) पूर्णतया सम्राट के शासनाधीन न थीं, यद्यपि उन्हें विजित किया जा चुका था। इससे मालूम होता है कि आटव्य राज्य अर्द्ध स्वतंत्र थे या ये लोग विद्रोही बनकर शासन को भंग करने का प्रयत्न किया करते थे। शायद इसी शासन का उल्लंघन करने को सम्राट ने अपकार कहा है। यही कारण है कि सम्राट सहृदयता के साथ उन्हें बिना किसी रक्तपात के शान्ति मार्ग पर लाना चाहते हैं। लेकिन जब वे हर तरह से समझाने पर भी अनुशासन भंग करते ही गये, तो सम्राट को अन्ततः उन्हें बागदण्ड देना पड़ा, और अटवी जाति की भर्त्सना करते हुए कहना पड़ा, ‘सम्राट उन्हें धर्म पथ पर लाना चाहते हैं, (ध्यान रहे), सम्राट के पछतावे में पूर्ण शक्ति है, अर्थात् यदि अटवी जाति भली प्रकार आचरण करेगी तो उनके साथ अच्छा बर्ताव किया जायेगा, उनके पूर्व दोष क्षमा कर दिये जायेंगे, नहीं तो सम्राट की प्रभापूर्ण शक्ति उन्हें दबाएगी।’ इस प्रभापूर्ण शक्ति का संकेत सम्राट कलिंग हत्याकांड से कराते हैं, जिससे सम्राट की महान शक्ति का पूर्व परिचय मिल जाता है। इस भांति जंगली जाति पर आक्रोश करते हुए सम्राट अपनी दण्ड देने की शक्ति का परिचय देकर उन्हें लज्जित करते

हैं कि उनके कल्याण के हेतु और उन्हें नष्ट न करने के अभिप्राय से ही, उनके अपकारों को शक्ति भर क्षमा किया गया है, किन्तु यदि उत्तरोत्तर यही क्रम रहा तो उन्हें भली तरह दण्ड दिया जायेगा।

अटवी राज्य का अधिपति अटाविका कहलाता था।¹³ कौटिल्य के समय अटवी का शासन विशेष अधिकारी अटवी पाल के अधीन था। कौटिल्य ने दो प्रकार की विजयों का उल्लेख किया है, प्रथम अटवी विजय अथवा जंगली जातियों को विजित करना और द्वितीय ग्रामादि विजय अथवा निश्चित प्रदेश व गांव आदि को विजय करना।¹⁴

पुराण में इस जंगली जाति आटव्य का पुलिन्द, विंध्यमूलीय और वैदर्भों के साथ उल्लेख किया गया है। एक ताम्रपत्र में परिद्राजक राजा हारितन को, दाभाल राज्य के सहित अठारह जंगली राज्यों (अटवी राज्य) का अधिपति लिखा गया है। दाभाल दहाला का रूपान्तर विदित होता है। दहाला से अभिप्राय बुन्देलखण्ड से है।

गुप्तकाल में भी प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त ने 18 छोटे-छोटे अटवी राज्यों को विजय किया था। मालूम होता है कि अटवी राज्य बघेल खण्ड से लेकर ठीक उड़ीसा के समुद्र तट तक विस्तृत थे। यही कारण है कि गौण शिलाभिलेखों की दो प्रतियां रूपनाथ, मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में और सहासराम विहार के शाहाबाद जिले में पाई गई हैं। रूपनाथ और सहसराम अटवी प्रदेश की पूर्वी और पश्चिमी सरहद या सीमा पर अवस्थित थे। धौली और जौगुडा शिलालेखों में सम्राट अपने कर्मचारियों को, सीमाप्रान्त के राज्यों के साथ क्षमा, प्रेम और सहानुभूति की नीति से काम लेने का आदेश देते हैं। उड़ीसा के पास स्वतंत्र या अर्द्ध स्वतंत्र अटवी राज्य के सिवा, मौर्य साम्राज्य के समीपस्थ और कोई राज्य न था।

सारांश में समस्त भारतवर्ष, केवल दक्षिण के उस थोड़े से भाग को छोड़ कर जो चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरल के पास रहा, अशोक के शासनाधीन था। सम्राट अशोक ने शिलालेखों में बहुत से अपने समकालीन राजा अथवा राजाओं का उल्लेख करते हुए उनके नाम भी दिये हैं। 13 वां शिलालेख (शहबाजगढ़ी) लिखता है-

‘अतेषु अषषु पि योजन शतेषु यत्र अंतियोको
नम योन राज परं च तेन अंतियांकेन
चतुरे रजनि तुरमये नम अंतकिनि
नम मक नम अलिक सुदेर नम निचं।।’

अतः निम्न राजा अशोक के समकालीन थे- 1. अंतियोक (यवन राज),
2. तुरमय, 3. अंतकिन, 4. मग और पांचवां अलिकसुन्दर या अलिक सुदर।

अंतियोक

अंतियोक सिकन्दर महान के प्रख्यात जनरल सिल्यूकस का पोता (पौत्र) था। सीरिया, वैक्ट्रिया और पश्चिमी एशियाई प्रदेशों का यवन-अधिपति यही अंतियोक था। यह साम्राज्य मौर्य-राष्ट्र का पड़ोसी साम्राज्य या राष्ट्र था। उसने 261 से 244 ई.पू. तक राज्य किया। शिलालेख द्वितीय में भी उसका उल्लेख आया है।

तुरमय

यह मिन्न का अधिपति द्वितीय फिलाडेलफस था। सम्भवतः इसने 285 ई.पू. से लेकर 247 ई.पू. तक शासन किया। यह मौर्य साम्राज्य से यथेष्ट दूरी का राज्य था।

अन्तिकिन या अन्तिकिनि

ब्यूलर ने इसे यूनानी नाम अन्तिनिनेस से मिलाया है, पर चूंकि इस नाम का कोई राजा नहीं मिलता, अतः अंतकिन को विद्वानों ने सफलतापूर्वक अन्तिगोनस गोनोटस से मिलाया है। यह अन्तिगोनस मैसिडोनिया (मकदूनिया) का राजा था। इसका राज्य काल 278-276 ई.पू. से 239 ई.पू. के लगभग है।

मग या मक

मग मिन्न के राजा टालमी फिलाडेलफस का भाई था। वह कैरीन का अधिपति था। कैरीन मिन्न के पश्चिम में है। इसका राज्य काल 300 ई.पू. से लेकर 252 ई.पू. के लगभग पड़ता है।

अलिक सुन्दर या अलिक सुदर

इस राजा के प्रति विद्वानों में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान अलिक सुन्दर को एपिरस का राजा सिकंदर बताते हैं (272-258 ई.पू.) और कोई उसे कोरिन्थ का राजा अलेक्जेंडर कहता है, जिसका समय लगभग 252 से 246-44 ई.पू. तक माना जाता है।¹⁵ (इन राजाओं की तिथि कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया वाल्यू. 1, पृ. 502 से ली गयी है)।

अंतियोक, शिलालेख के कथनानुसार अशोक के साम्राज्य का निकटवर्ती राज्य था। शेष अन्य चार राजा, अन्तियोकस के समीपस्थ और अशोक के राज्य से दूरस्थ थे। प्रमाण के लिए कालसी अभिलेख देखिए-

‘नाम योन पल चा चेना अन्तियोगेन, चतालि, लजोन, तुलमेद नाम अन्तिकिने।’
प्रथम अन्तियोग (अंतियोकस) कहा गया है और उससे परे जो अन्य चार राजा हैं,

उनका उल्लेख हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि और राज्यों से अंतियोकस का राज्य साम्राज्य के निकटवर्ती था।

क्या इन बाह्य वैदेशिक राजाओं के साथ सम्राट अशोक का कोई सम्बंध था? हम इस बात को पहले से ही जानते हैं कि सिल्यूकेडियन साम्राज्य और मौर्य साम्राज्य के मध्य परस्पर दूतों का आवागमन आरम्भ हो गया था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय मेगस्थनीज सिल्यूकस का दूत बन कर भारत आया था। मेगस्थनीज ने भारत का जो वर्णन लिखा है, वह इतिहास के लिए अमूल्य निधि है।

यह भी उल्लेखनीय है कि मौर्य सम्राट बिन्दुसार ने एशिया माइनर के अधिपति अंतियोकस को सूखे अंजीर, अंगूरी मदिरा तथा यूनानी सोफिस्ट खरीद कर भेजने के लिए लिखा था।¹⁶ मिस्र के राजा टालमी फिलाडेलफस (285-247 ई.पू.) ने, जो अशोक का समकालीन था तथा जिसका नाम 13वें शिलालेख में 'मग' आदि चार राजाओं के साथ आया है, बिन्दुसार के समय में अपना एक राजदूत डायोनिसियस मौर्य दरबार में भेजा था।¹⁷ यह दूत बहुत काल तक बिन्दुसार के दरबार में रहा। मेगस्थनीज की भांति इस राजदूत ने भी भारत का विवरण लिखा था। प्लिनी ने डायोनिसियस के इस विवरण से बहुत कुछ सन्दर्भ लिए हैं, किन्तु खेद है कि डायोनिसियस का लिखा भारत का विवरण अब प्राप्त नहीं है।

स्ट्रेबो लिखता है कि सिल्यूकस ने डिमैकस को राजदूत बना कर चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र अमिन्द्रोकेटस (बिन्दुसार) के राज दरबार में भेजा था (अशोक के शिलालेख)। अतः स्पष्ट है कि मौर्य काल में (सम्राट अशोक के पूर्वजों के समय) वैदेशिक राजदूतों का आदान-प्रदान स्थापित हो चुका था। क्या अशोक का भी इन बाह्य राजाओं के साथ किसी भी प्रकार का संबंध था? यदि था तो उसका कोई माध्यम अवश्य होना चाहिए। सम्राट और वैदेशिक राज्यों की (बीच की) दूरी क्या पारस्परिक सम्बन्धों में बाधक न थी? 13वां शिलालेख इन दोनों प्रश्नों को हल कर देता है। वह लिखता है - नम योन राज परंच तेन अंतियोकेन, चतुरे राजानि तुरमेय नम अंतकिनि, नम मक नम अलिक सुन्दरो नम विचं देवानं प्रियस ध्रमनुशति अनुवटांति यत्र पि देवानं प्रियस दुत न बचंसि ते। अर्थात् यवन नाम के अंतियोक और उससे परे जो और चार अंतकिन, मकर (मग), तुरमय, अलिक सुन्दर नाम के राजा हैं, देवताओं के प्रिय के धर्मानुशासन का अनुसरण करते हैं और जहां देवताओं के प्रिय के दूत भी नहीं जा पाते हैं, वहां भी धर्मानुशासन पर आचरण किया जाता है। 'देवताओं के प्रिय के दूत' से सिद्ध होता है कि अशोक के समय में भी वैदेशिक राज्यों में दूत भेजने की प्रथा थी। अशोक के दूत यवन राजाओं (अंतकिनि, मक, तुरमय, अलिक सुन्दर) के राज्य में 'धर्म प्रचार' के लिए आते जाते थे, इसमें सन्देह नहीं। अतः वैदेशिक (यवन) राज्यों के साथ अशोक का

सम्बन्ध भी पूर्ववत् बना हुआ था। दूतों का काम इन राज्यों में धर्म का प्रचार करना था।¹⁸

सम्राट अशोक के राज्य काल की तिथि

सम्राट अशोक के राज्य-प्राप्ति की तिथि का निर्णय करने के लिए उनके समकालीन (यवन) राजाओं की तिथि का अध्ययन आवश्यक है। इन्हीं यवन राजाओं की तिथि के आधार पर अशोक की तिथि का ठीक से निर्णय किया जा सकता है। इसके लिए पहले हमें यह जानना होगा कि यवन राजाओं का उल्लेख करने वाले द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेख किस समय लिखे गये? सेनार्ट का मत है कि ये दोनों लेख सम्राट के राज्याभिषेक के चौदहवें वर्ष अभिलिखित हुए। इसका अन्य अंग्रेजी विद्वानों ने भी समर्थन किया है, किन्तु हाल ही में एक बंगाली विद्वान हरितकृष्णा देव एम.ए. ने यह दावा किया है कि द्वितीय और त्रयोदश शिलालेख 27 वें वर्ष प्रेषित हुए थे।

यदि हम मानें कि उक्त शिलालेख अभिषिक्त होने के 27वें वर्ष प्रकाशित किए गये थे, तो इस तारीख को उनके समय के अनुरूप होना चाहिए जब कि पांचों यूनानी राजा जीवित थे। यदि 12वें शिलालेख का अलिक सुन्दर, ऐपिरस का राजा अलिक सुन्दर लिया जाये तो इस वर्ष को 272 ई०पू० से लेकर 258 ई० पू० के मध्य आना चाहिये, किन्तु यदि हुल्लज के मतानुसार कोरिन्थ का राजा अलिकसुन्दर है तो इस साल को 252 से 244 ई०पू० के मध्य आना चाहिए। चूंकि इस 13वें शिलालेख में उक्त राजा का वर्णन आया है, वह सम्राट के 27वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, अतः अशोक का वह वर्ष, जब उन्होंने इन यवनों का उल्लेख किया, 252 ई०पू० है। फलतः अशोक का राज्याभिषेक 279 ई०पू० में हुआ होगा।

अब दूसरे प्रकार से लीजिए, कैरीन के राजा मग का समय 300-250 ई०पू० है। 250 ई०पू० में इस राजा की मृत्यु हुई थी। इस मग का शिलालेख (त्रयोदश) में उल्लेख आया है। इससे स्पष्ट होता है कि ये यवन राजा लगभग 250 ई०पू० तक अशोक के समकालीन थे। इस निधन की खबर पाटलिपुत्र तक पहुंचने में मार्ग की असुविधा अथवा वर्तमान सुविधाओं के अभाव के फलस्वरूप 1-2 वर्ष का समय लगा होगा। अतः यह खबर अशोक को 249 ई०पू० में मिल सकी होगी। किन्तु यह भी निश्चित है कि त्रयोदश शिलालेख के प्रकाशन के समय वह जीवित था क्योंकि शिलालेख में उसका उल्लेख किया गया है। फलतः इस शिलालेख के प्रकाशन का समय 251-252 ई०पू० होना चाहिए और चूंकि त्रयोदश शिलालेख अभिषेक के 27वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, इसलिए अशोक के राज्यकाल की तिथि (जब अशोक सिंहासनरुढ़ हुए थे) लगभग 278-279 ई०पू० में पड़नी चाहिए।

तीसरे प्रकार से हम अशोक के राज्याभिषेक की तिथि का निर्णय चन्द्रगुप्त का समय निर्धारित करके कर सकते हैं। चन्द्रगुप्त की तिथि जानने के लिए हमें निम्न संदर्भों पर ध्यान देना चाहिए। सिल्यूकस ने इण्डस को पार कर भारतीयों के राजा सैन्ड्राकोटस् पर चढ़ाई की। अन्त में उसने उससे मैत्री करके विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया।¹⁹ स्ट्रेबो के अनुसार सिल्यूकस ने इण्डस के पश्चिमी प्रदेश का कुछ भाग चन्द्रगुप्त को भेंट किया और बदले में पांच सौ हाथी पाये। 'सैन्ड्रोकोटस् भारत पर उस समय शासन करता था, जिस समय सिल्यूकस अपने भावी उत्कर्ष के निर्माण में संलग्न था। सैन्ड्राकोटस के साथ सन्धि कर सेल्यूकस पूरव में अपने कार्यों की व्यवस्था ठीक कर अण्टीगोनस् के विरुद्ध युद्ध में संलग्न हो गया।' (ई०पू० 302)²⁰

यह स्पष्ट हो चुका है कि चन्द्रगुप्त ही सैन्ड्राकोटस् था। सिल्यूकस नैकेटर (312-280 ई०पू०) लगभग 302 ई०पू० में, इपिसस की लड़ाई के पूर्ववर्ती साल, कैपोडोकिया में पहुंचा था। यहां से भारतवर्ष पहुंचने में कम से कम दो ग्रीष्म व्यतीत करने पड़े होंगे। अतः सम्राट चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि का वर्ष 304 के ग्रीष्म में और कम से कम शरद (जाड़ों) में पड़ेगा। इस तरह सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त की सन्धि 304 ई०पू० में हुई थी, जिस समय सेल्यूकस ने मेगस्थनीज को मौर्य दरबार में भेजा था।²¹

पुराणों में भी चन्द्रगुप्त का उल्लेख मिलता है-

The - Prophetic account of the Purana runs thus- "Kautilya or Chanakya will establish king Chandragupta in the Kingdom. Chandragupta, will be king 24 years, Bindusara 25 years, Ashoka 36 years".²² पुराणों के इस उल्लेख का महावंश समर्थन करता है-

"Kalasoko had ten sons, these brothers (conjointly) ruled the empire righteously, for twenty two years. Subsequently there were nine, they also according to their seniority righteously reigned for twenty two years, Thereafter the Brahman Chanakya in gratification of an implicable hatred born towards the ninth serving brother, called Dhana-Nando, having put him to death, he installed to the sovereignty over the whole of Jambudipo, a descendant of the dynasty of Mauryan sovereigns endowed with illustrious and beneficent attributes surnamed Chandragupta."²³

पुराणों के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने 24 वर्ष तक राज्य किया अर्थात् लगभग 323 से 299 ई०पू० तक। चूंकि पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने 25 वर्ष तक

शासन किया, इसलिए बिन्दुसार का शासन-काल 299 ई०पू० से लेकर 275-274 ई०पू० तक रहा। अतः सिद्ध है कि अशोक को 274 ई०पू० में राज्य हस्तगत हुआ होगा। यहां पर महावंश लिखता है 'अशोक अपने धर्म और अद्वितीय प्रतिभा के कारण पूर्ण शक्तिशाली था। अपने निन्यानवे भाइयों की हत्या कर वह जम्बूद्वीप का एकच्छत्र अधिपति बना।'²⁴ राज्यारोहण के चार साल बाद, इस अद्वितीय प्रतिभाशाली सम्राट ने पाटलिपुत्र में अपना अभिषेक उत्सव किया।' महावंश के अनुसार अशोक का विधिवत अभिषेक राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ। यदि यह ठीक समझा जाय तो अशोक के अभिषेक की तिथि 269-268 ई०पू० में पड़ेगी, किन्तु शिलालेखों के विभिन्न उल्लेखों से हम 279 ई०पू० पर ही पहुंचते हैं। शिलालेखों की सत्यता अधिक प्रमाणयुक्त होनी चाहिए, इसलिए यदि 269 ई०पू० के बदले 279 ई०पू० को ही सम्राट का अभिषेक काल मानें तो अधिक भूल होने की सम्भावना न रहेगी।



अध्याय-3

अशोक की शासन-व्यवस्था

दूसरे अध्याय में हम मौर्य राष्ट्र की सीमाओं का उल्लेख कर आये हैं, अतः स्पष्ट है कि अशोक के समय मौर्य-साम्राज्य एक अत्यंत विस्तृत साम्राज्य था। अशोक के शासन काल के पहले 13 वर्षों के बारे में हमें कुछ मालूम नहीं है। अशोक का यह समय बौद्ध धर्म ग्रहण करने से पहले का है। इस समय का यदि कुछ उल्लेख मिलता है तो सिंहल की बौद्ध कथाओं से ही, जो अशोक को तब चांडाल व दुराचारी के घृणित नामों से पुकारते हैं। गाथाएं कहती हैं कि एक दिवस क्रोध में आकर उसने अपने ही हाथों में तलवार लेकर पांच सौ मंत्रियों का वध कर डाला। दूसरे दिन उसने 500 स्त्रियों को जीवित जलवा डाला, क्योंकि इन स्त्रियों ने प्रासाद के अशोक वृक्ष से पत्तियां तोड़ कर सम्राट अशोक का परिहास किया था। ये कहानियां निरी गप्प हैं।

कहने का आशय यही है कि अशोक के प्रति इस समय का हमें कुछ ज्ञान नहीं है और सम्राट के जीवन का यह काल अप्रकाशित है। अशोक के बारे में हमें जो कुछ मालूम है, वह उन्हीं के शिलालेखों से। अन्य शिलालेख हमें इस काल का कुछ परिचय नहीं देते। इसलिए निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि सम्राट इस समय किस प्रकार शासन करते रहे होंगे। यों हमें मेगस्थनीज से मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त के समय राजनगरी की शासन प्रणाली क्या थी। अतः इसी विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि कम से कम अशोक के शासन काल के प्रथम दिनों में भी शासन का वही रूप रहा होगा।

मौर्य शासन का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज ने लिखा है कि बाजार, नगर, सैन्य आदि के शासनार्थ विभिन्न कर्मचारी नियत थे। नदियों की देखरेख तथा भूमि की पैमाइश के लिए भिन्न कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राजस्व वसूल करने के लिए भी अलग प्रकार के अधिकारी हुआ करते थे। कुछ राज्य-कर्मचारियों का कार्य सड़क बनवाने का था। इन कर्मचारियों को प्रत्येक 10 स्टेडिया पर अलग-अलग रास्तों तथा दूरी का निदर्शन करने के हेतु स्तम्भ भी गाड़ने पड़ते थे।

पाटलिपुत्र का शासन 30 सदस्यों की एक सभा द्वारा होता था। यह सभा 6 उप-सभाओं अथवा समितियों में विभाजित थी। प्रत्येक सभा में 5 सदस्य हुआ करते थे। पहली सभा का कार्य दस्तकारी की देखभाल करना था। दूसरी सभा

विदेशियों की आवभगत और देखभाल करने के लिए थी। यदि कोई विदेशी वीमार हो जाय तो इस सभा को उसका इलाज कराना होता था और यदि वह मर जाये तो उसकी मृतक क्रिया भी करनी पड़ती थी। तीसरी सभा को जन्म और मरण का हिसाब रखना पड़ता था। चौथी सभा तिजारत और व्यापार की देखभाल के लिए थी। यह सभा नाप-तौल की भी जांच किया करती थी। पांचवी सभा को बने हुए माल की विक्री का प्रबन्ध करना होता था। छठी सभा का कार्य बिके हुए माल पर चुंगी वसूल करना था। इस चुंगी की दर 10 पण प्रति सैकड़ा थी। चुंगी न देने पर अंग-भंग तथा फांसी तक का दंड भी दिया जा सकता था।

सेना के शासन के लिए भी 30 सदस्यों की एक सभा थी। यह सभा 6 उप सभाओं में बंटी हुई थी। प्रत्येक सभा में 5 सदस्य होते थे। ये 6 सभाएं या समितियां 1. जल, 2. बैलगाड़ी, 3. पैदल, 4. अश्वारोही, 5. रथ, 6. हाथी सेनाओं आदि के प्रबन्ध का कार्य करती थीं।¹ मेगस्थनीज ने राज-दरवार का वर्णन भी किया है। प्राच्य सम्राटों की भांति ही मौर्य दरवार वैभवपूर्ण था। सम्राट के अतिरिक्त राज कर्मचारी भी सोने की पालकी में बैठ कर दरवार में आते थे। राजकीय सवारी के साथ सजी-धजी स्त्रियां भी हुआ करती थीं। धनुषधारी स्त्रियां और दरबारी निरन्तर सम्राट की परिचर्या में लगे रहते थे। शिकार के समय भी ये स्त्रियां साथ रहा करती थीं। इन स्त्रियों का कार्य लोगों को राजकीय मार्ग पर चलने से रोकना था। राजमार्ग पर कोई नहीं चल सकता था और यदि कोई बिना आज्ञा के राजमार्ग पर चला जाय तो उसे फांसी की सजा मिलती थी। घोड़े, बैल आदि पशुओं की बहुधा लड़ाई हुआ करती थी, सम्राट इन लड़ाइयों को बहुत पसन्द किया करते थे। इसी प्रकार की लड़ाई आदि उत्सव मनाने को अशोक ने अपने शिलालेख में 'बुरा समाज' कहा है।

मौर्य शासन व्यवस्था को समझने के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र भी यथेष्ट सहायक है, किन्तु हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि कौटिल्य के विधान के अनुरूप ही मौर्य चन्द्रगुप्त तथा अन्य मौर्य सम्राटों ने शासन किया होगा। अर्थशास्त्र यद्यपि चन्द्रगुप्त के परम सहायक और मंत्री कौटिल्य का लिखा है किन्तु वह सब नृपतियों के मार्गदर्शन के लिए हैं। अतः यह कहना कठिन है कि मौर्य राजाओं ने दृढ़ता के साथ कौटिल्य की नीतियों पर ही शासन कार्य किया था, किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि मौर्य राजाओं की नीति पर अर्थशास्त्र का यथेष्ट प्रभाव रहा और सम्भवतः इसी आदर्श को लेकर मौर्य राजाओं ने शासन चलाया।

कौटिल्य की शासन-नीति के परिप्रेक्ष्यः मौर्य शासन विधान का कुछ ज्ञान करने के लिए संक्षेप में यहां पर कौटिल्य की नीति उद्धृत की जाती है। चाणक्य ने शासन के निम्न अवयव बतलाये हैं-

1. राजा - राजा को प्रजा के हितार्थ सब कार्य पराक्रम सहित करना चाहिए (जैसा अशोक ने किया)
2. प्रिवी-कौंसिल-सहकारिन सभा या परिषद (अथवा मंत्री परिषद)
3. विभाग-जैसे गुप्तचर विभाग, राजदूत विभाग आदि।
4. छः सभाएं, जिन छः सभाओं का मेगस्थनीज ने उल्लेख किया है, उनके संदर्भ में कौटिल्य से हमें कोई परिचय नहीं मिलता।
5. चुंगी-विके हुए माल पर चुंगी एकत्रित करने को अध्यक्ष नियत थे। (मेगस्थनीज ने भी इसका उल्लेख किया है।)
6. जन्म और मरण की गणना- इस कार्य के लिए 'नागरक नियम' थे। इस नागरक को जनगणना का और जन्म मरण का लेखा रखना पड़ता था।
7. राजशुल्क-विदेशी मदिरा जो कपिसा अथवा अफगानिस्तान तथा यवन प्रदेशों से भारत आती थी, उस पर 'कर' वसूल करने के लिए कराध्यक्ष हुआ करते थे।
8. दंड-संहिता या पेनल कोड-दण्ड बहुत कड़ा दिया जाता था। दण्ड की निष्ठुरता इतनी अधिक थी कि यदि कोई सरकारी आदमी आठ पण के मूल्य तक की कोई वस्तु चुरा ले, तो उसे फांसी का दण्ड दिया जाता था। यदि कोई अन्य आदमी जो राज-कर्मचारी न हो, 40 से 50 पण तक चुरा ले, तो उसे भी मृत्यु दंड दिया जाता था।
9. सत्य की परख-किसी अभियुक्त से सत्य जानने अथवा किसी बात को उससे कबूल कराने के लिए कई प्रकार से कष्ट देना न्याय संगत माना जाता था। यहां तक कि यह विधान स्वच्छन्दतापूर्वक काम में लाया जाता था।

यहां पर निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अशोक ने भी कौटिल्य नीति का एकदम पालन किया या उसकी नीति को एकदम छोड़ दिया, किन्तु अशोक की शासन-नीति, जैसी कि शिलालेखों में मिलती है, थोड़े बहुत उलट-फेर के साथ यही है। वस्तुतः अशोक ने भी अपने दादा और पिता की पूर्वनीति पर ही काम किया, यद्यपि राजनीति के पूर्व नियमों में कुछ परिवर्तन तथा सुधार कार्य अवश्य किया गया जैसा कि शिलालेखों से प्रकट है।

अशोक का शासन - (शिलालेखों के आधार पर) पूर्व की भांति मौर्य साम्राज्य कई प्रान्तों में बंटा हुआ था। अशोक राजकुमार अवस्था में उज्जैन तथा तक्षशिला का प्रान्तीय शासक रह चुका था। इसी नीति का अनुसरण करते हुए सम्राट अशोक ने भी बेहतर शासन के लिए मौर्य राष्ट्र को विभिन्न प्रांतों में बांटा था। प्रांतों के शासन के लिए प्रान्तीय शासक अथवा उपशासक नियुक्त थे। इन प्रांतों में कुछ प्रान्त अत्यधिक राजनैतिक महत्व के थे। अतः ऐसे प्रांतों के लिए राजघराने के कुमार ही नियत किये जाते थे। इन प्रमुख प्रांतों की संख्या 4 थी-

1. **गान्धार** - इस प्रान्त की राजनगरी तक्षशिला थी। सिकन्दर के आक्रमण के समय, जैसा कि ग्रीक इतिहासज्ञों से मालूम होता है, तक्षशिला सुस्थित और समृद्धशाली नगर था। इसी का राजा आम्भी था, जिसने मेसिडोनिया की प्रभुता को अंगीकार किया था। मध्य एशिया के साथ व्यापार करने का यह प्रमुख वाणिज्य स्थान अथवा केन्द्र था। तक्षशिला आर्य-विद्या का भी प्रमुख स्थान रह चुका था और सम्भवतः सिकन्दर के आगमन से 50 वर्ष पूर्व अद्वितीय व्याकरणाचार्य 'पाणिनी' यहां पढ़ाया करते थे। इस नगर के खण्डहर वर्तमान रावलपिण्डी तहसील के साहधरी गांव से मिलते-जुलते हैं। तक्षशिला बौद्धधर्म के प्रमुख तीर्थस्थानों में एक था। कहा जाता है कि इसी नगरी में बुद्ध भगवान ने अपने सिर का दान किया था। इसके पश्चात तक्षशिला इतिहास से ओझल हो जाता है और अन्ततः 20वीं शती में सम्पन्न खुदाई से उसका पता लगता है। व्यापार का केन्द्र तथा सीमांत प्रदेश होने के कारण इसका अशोक के समय यथेष्ट राजनैतिक महत्व था, इसलिए इसका शासक राजघराने का राजकुमार था।
2. **कलिंग** - यह प्रान्त सम्राट अशोक ने ही विजय किया था। अतः यह प्रदेश भी कम राजनैतिक महत्व का न था। नव-विजित प्रदेश होने के कारण उसके लिए एक तेजतर्रार तथा विश्वस्त शासक की आवश्यकता थी, जिससे प्रजा में शान्ति स्थापित रहे और कहीं विद्रोह न होने पाये। अतः इस प्रांत का शासन भी राजकुल के कुमार के पास था।
3. **उज्जैन** - यह प्रांत न सीमान्त था और न नवीन विजित प्रदेश ही, किन्तु व्यापार का मुख्य केन्द्र था। अतः यह प्रांत भी राजकुमार द्वारा नियंत्रित किया जाता था। प्राचीनकाल में यह 'अवन्ती' के नाम से विख्यात था। अवन्ती का स्थान आज भी प्रमुख तीर्थ-स्थानों में है। आर्य ज्योतिषविदों के अनुसार उज्जैन का वही महत्व है, जो आधुनिक ग्रीनवीच का।
4. **दक्षिणी प्रांत** - अंतिम मुख्य प्रदेश दक्षिण के चोल और पांड्य राजाओं की सीमाओं को छूता हुआ दक्षिण का दूरस्थ प्रान्त था। स्वतंत्र राज्यों के पास स्थित होने के कारण यह प्रांत राजनैतिक दृष्टि से यथेष्ट महत्व का था। अतः इस प्रान्त का शासन भी राजकुल के 'आर्यपुत्र' के अधीन था। इस प्रदेश की राजनगरी स्वर्णगिरि थी।

यहां पर एक बात ध्यान देने की है - अशोक के शिलालेखों में पूर्व निर्दिष्ट तीन प्रान्तों के शासकों के लिए 'कुमार' नाम आया है, किन्तु स्वर्णगिरि के शासक को ब्रह्मगिरि लेख (गौण शिलालेख प्रथम) में आर्यपुत्र कहा गया है। मालूम होता है कि 'आर्यपुत्र' कुमारों के अतिरिक्त पद में बढ़ा था। महाभाग में आम्रपाली

लिच्छवी राजाओं के लिए 'आर्यपुत्र' शब्द का प्रयोग करती है। इससे मालूम होता है कि आर्यपुत्र कुमारों के अतिरिक्त राजाओं के लिए भी प्रयुक्त किया जाता था। इसी तरह भास अपने नाटक 'स्वप्न वासवदत्ता' में उदयन को तीन बार 'आर्यपुत्र' सम्बोधित करता है। स्पष्टतः आर्यपुत्र का पद कुमारों से बढ़ कर था, जिससे यह मालूम होता है कि आर्यपुत्र 'युवराज' था।¹²

पूर्वनिर्दिष्ट प्रमुख प्रान्तों को छोड़ कर और भी प्रान्त थे। ये प्रांत अधिक राजनैतिक महत्व के न थे, अतः इन प्रान्तों का शासन राजकुमारों के पास न था। इन प्रान्तों के शासकों के बारे में शिलालेखों से हमें कुछ भी नहीं मालूम होता। रुद्रदमन के जूनागढ़ लेख से विदित होता है कि सौराष्ट्र का शासक अशोक के समय यवन राज तुहषाष्प था तथा उनके दादा के समय पुष्पगुप्त वहां का शासक था।¹³ सौराष्ट्र प्रदेश का शासक यवन क्यों बनाया गया? इस प्रश्न का निरूपण करते हुए भण्डारकर कहते हैं कि यदि अकबर के समय हिन्दू मानसिंह और वीरबल प्रान्तों के शासक हो सकते थे तो फिर अशोक के समय में किसी विदेशी यवन के अधिपति होने में क्या आश्चर्य? हो सकता है कि यह सम्राट की एक राजनीतिक चाल हो, जिससे वे अपने देश में बसे हुए यवनों को भी पूरे हक देकर खुश रखना चाहते हों। भण्डारकर के 'मानसिंह' वाले उदाहरण से यदि अनुमान किया जाय तो यह भी कह सकते हैं कि शायद सम्राट तथा तुहषाष्प यवन राज के मध्य वैवाहिक संबंध भी रहा हो। इसमें आश्चर्य नहीं किया जा सकता क्योंकि हम जानते हैं कि यवन सिल्यूकस की पुत्री स्वयं अशोक के प्रतापी पितामह चन्द्रगुप्त को व्याही थी। तीसरा कारण स्वयं अशोक की विश्व प्रेम भावना और निष्पक्षता हो सकती है। सर्वजीव कल्याण ही उनका पावन सिद्धान्त था। जीवों व मानवों के मध्य कोई अन्तर नहीं था, उन्हें तो शासन के लिए एक योग्य और कुशल व्यक्ति की आवश्यकता थी, चाहे वह किसी भी जाति, रंग और श्रेणी का क्यों न हो। यह विश्व भावना ही सम्राट अशोक के अद्वितीय होने का कारण भी है। उनकी महानता कोरा आदर्शवादी होने में नहीं बल्कि आदर्शों तथा मनोगत भावों के प्रत्यक्षीकरण में निहित है। उनका आदर्शवाद कृत्रिम तथा काल्पनिक न था वरन उनके संकल्पों में इष्टसिद्धि और सक्रियता थी।

प्रान्तीय कुमारों के अधिकार- प्रान्तीय कुमार (उपशासक) बहुधा स्वतंत्र हुआ करते थे। उनकी शक्ति सम्राट से संकलित न थी। उन्हें यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त थी। उज्जैनी और तक्षशिला के कुमारों को अपने आप महामात्र नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। प्रति तीसरे वर्ष शासन की देखभाल और जांच के लिए कुमार शासकों को इन्हें (महामात्रों को) प्रान्तों में दौरा करने को भेजना पड़ता था। (पृथक कलिंग शिलालेख), किन्तु तोषाली प्रान्त के कुमार को यह अधिकार प्राप्त न था।

जबकि अन्य प्रान्तों के कुमार (उपशासक) स्वयं महामात्रों को नियुक्त करते थे वहीं तोपाली के महामात्रों की नियुक्ति स्वयं सम्राट ही करते थे। इस प्रकार उज्जैनी और तक्षशिला के प्रान्त कुमार शासकों के पूर्ण अधिकार में थे, लेकिन तोपाली का प्रान्त कुमार तथा महामात्रों के सम्मिलित शासन के आधिपत्य में था, जिसका पूर्ण नियंत्रण पुनः सम्राट के हाथों में था। सुवर्णगिरि का शासक, जिसके द्वारा सम्राट (अशोक) ने कुछ आज्ञाएं व अनुशासन इसिला के महामात्रों को भेजे थे, अन्य कुमार उपशासकों से पद में बढ़ कर था। शिलालेखों में सर्वत्र 'कुमार' राजघराने के शासकों के लिए प्रयुक्त हुआ है, किन्तु प्रथम और द्वितीय शिलालेख में कुमार की जगह 'आर्यपुत्र' आया है। इससे मालूम होता है कि इन दो शब्दों (कुमार और आर्यपुत्र) में कुछ पद सूचक भिन्नता है। कलिंग लेख तोपाली, उज्जैनी तथा तक्षशिला के उपशासकों को कुमार लिखता है। केवल मैसूर के दो गौण शिलालेख सुवर्णगिरि के उपशासक को 'आर्यपुत्र' लिखते हैं, जिससे मालूम होता है कि आर्यपुत्र, कुमार पद से उच्च पद का सूचक है। एक ही पद के लिए दो विभिन्न शब्दों का प्रयुक्त होना कुछ असंगत सा लगता है। अतः भण्डारकर का मत ही श्रेयस्कर विदित होता है। उनकी सम्मति के अनुसार 'आर्यपुत्र' युवराज था। सम्राट के अनन्तर साम्राज्य का अधिकारी भी यही युवराज होता था।

यहां पर इतना और कहना होगा कि तोपाली प्रान्त को छोड़ कर अन्य प्रान्तों का पूर्णभार और शासन कुमारों के ही कन्धों पर था। उनके शासन कार्य में सम्राट कुछ भी हस्तक्षेप न करते थे। जब सम्राट को कुमार उपशासकों के अधीनस्थ विभाग या उपविभागों के महामात्रों को कोई अनुशासन भेजना होता था, तो ये आज्ञाएं या अनुशासन सम्राट कुमारों द्वारा ही महामात्रों को भिजवाते थे। 'इसिला' के महामात्रों को 'आर्यपुत्र' द्वारा ही आज्ञाएं प्रेषित की गई थीं। जो प्रान्त सीधे सम्राट के अधीनस्थ थे, उनके शासकों तथा महामात्रों को सम्राट स्वयं आज्ञाएं भेजते थे जैसे कौसाम्बी तथा सारनाथ के महामात्रों को सम्राट ने सीधे सम्बोधित किया है।

राज्य के प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व कुमार या उपशासक तथा महामात्रों, दोनों पर था। सम्राट जब कभी प्रान्तों को आज्ञाएं प्रेषित करते थे, तो वे आज्ञाएं कुमार तथा महामात्र दोनों के संयुक्त नाम पर भेजी जाती थीं। इसी प्रकार कुमार शासक भी जब कभी अपने अधीनस्थ महामात्रों को आज्ञा भेजते थे, तो वे आज्ञाएं कुमार अपने और महामात्र दोनों के सम्मिलित नामों से प्रेषित करवाते थे। अतः प्रान्तों के शासन का उत्तरदायित्व कुमार तथा महामात्र दोनों पर था।

राज्य के अन्य कर्मचारी - इतने विशाल राज्य के शासन कार्य के लिए अन्य कई श्रेणियों के राजकर्मचारी भी रहे होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु उन सब

का ठीक-ठीक पता लगाना कठिन है। हां, तीसरे शिलालेख से हमें अवश्य तीन और कर्मचारियों का पता लगता है- 1. प्रादेशिक (प्रादेसिके, पाडेसिके) 2. रज्जुक, 3. युक्ता¹ जो प्रमुख प्रादेस्तिर (जो राजा के मंत्रिमंडल का सदस्य होता था) के अधीनस्थ होते थे।¹⁵ किन्तु कर्न, ब्यूलर व सेनार्ट का कहना है कि प्रादेशिक संभवतः प्रान्तीय शासक थे। ब्यूलर इनको ठाकुर, रावल, राव आदि का पूर्वज मानता है।¹⁶

भण्डारकर कर्न के पक्ष का समर्थन करते हुए कहते हैं कि प्रादेशिक प्रान्तीय शासक होते थे,⁷ किन्तु थामस का पक्ष अधिक प्रबल है और प्रादेशिक का वही अर्थ होना चाहिए जैसा कि वह कहते हैं। प्रादेशिक की व्युत्पत्ति प्रदेश से है, जिससे प्रभावित होकर निःसन्देह बहुत से विद्वानों ने उन्हें प्रदेश का शासक करार दिया, परन्तु यदि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को अच्छी तरह से देखा जाय तो विदित होगा कि प्रदेशों का अर्थ रिपोर्ट या आवेदन भी है।

अर्थशास्त्र लिखता है 'वैदेह कव्यज्जनों वा सार्थ प्रमाण राज्ञःप्रेषयेत्। तेन प्रदेशेन राजाशुल्काध्यक्षस्य सार्थ प्रमाण मुपादिशेत्।' यहां पर तेन प्रदेशेन का अर्थ होता है उसकी रिपोर्ट अथवा आवेदन पर। अतः प्रादेशिका की व्युत्पत्ति इन प्रदेशों (न) से भी प्रमाणित हो जाती है। इससे मालम होता है कि प्रादेशिक का कार्य रिपोर्ट सुनना तथा रिपोर्ट पर कार्यवाही करना था। फलतः इस प्रादेशिका का अर्थ विशेषतः कार्य-निर्वाहक, निर्वाहक अधिकारी के रूप में लेना चाहिए। इसके अलावा नगर रक्षण तथा राजस्व उगाहने का कार्य भी उनके जिम्मे था। संभवतः अशोक के शिलालेख का 'प्रादेशिका' शब्द कौटिल्य के 'प्रदेशेता' के समरूप है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार प्रादेसिका अथवा 'प्रादेसितर' का कार्य था गोप (Village accountant) और स्थानिक (District officer) के कार्य का निरूपण अथवा निरीक्षण करना, गांव और जिले के अधिकारियों की कार्यवाही की जांच पड़ताल करना तथा मुख्यतः धम्म-कर 'बलि' वसूल करना। उन्हें अधिकार था कि वे पिछले अवशिष्ट कर को बलपूर्वक संग्रह कर लें। वे दुष्ट अधिकारियों को दंड भी दे सकते थे।¹⁸

रज्जुक : जातकों में रज्जुक का कार्य नापने तथा सीमा निर्धारित करने का दिया गया है। जनार्दन भट्ट की राय है कि रज्जुक लिपिकार थे।¹⁹ 'अशोक की (धर्म लिपियां, काशी नागरी प्रचारिणी सभा) सम्मति में 'रज्जुक राज्य के भूमिकर और प्रबन्ध के प्रधान अधिकारी होते थे। यह नाम या तो भूमि की पैमाइश करने की रज्जु (रस्सी, जरीब) का लक्षण होने से या राज्य की डोर उनके हाथ में रहने से पड़ा है। ये प्रादेशिकों से उच्च कोटि के होते थे।' भण्डारकर के अनुसार 'रज्जुक न्यायाधीश और पैमाइश के प्रमुख कर्मचारी थे।' ब्यूलर भी रज्जुक का सम्बंध रज्जु (रस्सी) से मिला कर उन्हें कर और पैमाइश का अधिकारी कहता है।¹⁰ डा० थामस

की भी राय है कि रज्जुक स्थानीय शासक के अलावा पैमाइश बन्दोबस्त और सिंचाई के अध्यक्ष भी थे।¹¹

रज्जुक अथवा रज्जु का संभवतः 'राजा' शब्द से सानिध्य है। अतः पाली के अनुरूप इस शब्द का अर्थ महामात्य या महामात्र हो सकता है तथा वे अधिकारी, जिनके पास जीवन या मृत्यु की शक्ति हो, अथवा जिन्हें दंडित को फांसी एवं मुक्त करने दोनों की शक्ति प्राप्त हो।¹² चाइल्डस की यह सम्मति ठीक जंचती है। महावंश में भी राजा के लिए 'राजको' प्रयुक्त हुआ है। यह राजको शब्द रज्जुक से मिलता है। अतः मालूम होता है कि रज्जुक उच्च पदाधिकारी थे एवं उपशासकों के अनुरूप प्रातीय शासकों में थे, जैसा कि चतुर्थ स्तम्भ लेख से सर्वथा स्पष्ट है। यह लेख इस प्रकार है, 'रज्जुक को मैंने सैकड़ों-हजारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है। मैंने रज्जुक को शासन और दण्ड का पूर्ण अधिकार दे दिया है।' इस वृत्त से प्रकट है कि रज्जुक हजारों प्राणियों पर शासन करते थे तथा उनकी शक्ति पूर्ण और स्वतंत्र थी। उन्हें शासन और दण्ड का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। इसके अतिरिक्त जनपद की पूरी तरह देखभाल, सुख और दुख की चिन्ता एवं जनपद के लोगों के हित, इहलोक और परलोक दोनों की सुव्यवस्था करना भी उन्हीं का कार्य था।¹³ अतः स्पष्ट है कि प्रान्तीय शासक और उपशासक की भांति ही रज्जुक को कार्य करना पड़ता था, इसलिए उनका स्थान भी उपशासकों के अनुरूप ही था।

रज्जुक के उच्च पद का विश्लेषण आगे चल कर चतुर्थ स्तम्भलेख स्वयं ही कर देता है। इस लेख में सम्राट कहते हैं, 'जिस तरह कोई आदमी अपने बच्चे को किसी प्रवीण धाय को सौंप कर यह विचार कर निश्चिन्त हो जाता है कि 'प्रवीण धाय मेरे बच्चे का अच्छी प्रकार पालन करेगी', इसी भांति मैंने रज्जुकों को प्रजा के पालन, सुख एवं हित के लिए नियुक्त किया है।' धाय को अपना बच्चा सौंप कर जैसे कोई पिता निश्चिन्त हो जाता है, उसी तरह रज्जुक को प्रजा का शासन देकर सम्राट निश्चिन्त हो जाते हैं। इस कथन की उपमा से रज्जुक के कार्य तथा उच्च पद पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। अशोक का रज्जुक पर पूर्ण भरोसा था और इसी लिए रज्जुक पूर्णतः शासन करने या दण्ड के व्यवहार में स्वतंत्र थे। अतः स्पष्ट है कि रज्जुकों का स्थान उप शासकों के सन्निकट था और वे प्रान्त के स्वतंत्र शासक थे।

चतुर्थ स्तम्भ लेख में रज्जुकों के स्वतंत्र अस्तित्व का उल्लेख करते हुए सम्राट कहते हैं कि मैंने रज्जुकों को स्वतंत्रता प्रदान की है। क्यों? इसीलिए कि वे भय-रहित, सन्देश रहित और भ्रांति रहित हो अपने कार्य में लगे तथा न्याय व शासन कार्य करें।' पांचवें शिलालेख के अनुसार न्याय-विधान और शासन की

त्रुटियों को सुधारने का कार्य अथवा अधिकार धर्म-महामात्र को दिये गये थे। चतुर्थ स्तम्भ लेख से प्रकट होता है कि धर्म महामात्रों का वह कार्य अब रज्जुकों को भी दे दिया गया। अतः स्पष्ट है कि रज्जुकों को धीरे-धीरे उच्च अधिकार प्राप्त होते गये और वे स्वतंत्र प्रांतीय शासक बना दिए गए।

यहां पर यह ध्यान रखना होगा कि चतुर्थ स्तम्भ लेख अभिषिक्त होने के 26वें वर्ष का है, जबकि प्रथमतः 'रज्जुक' तृतीय शिलालेख में अन्य दो कर्मचारियों अर्थात् युक्त तथा प्रादेशिक के साथ आया है, किन्तु उस समय रज्जुकों को चतुर्थ स्तम्भ लेख के अधिकार प्राप्त न थे। तृतीय स्तम्भ लेख अभिषेक के 12वें वर्ष प्रकाशित हुआ था, अतः चतुर्थ स्तम्भ लेख के अधिकार रज्जुक को तृतीय शिलालेख के 13वें वर्ष के पश्चात प्राप्त हुए थे। उससे प्रथम वे केवल साधारण कर्मचारी ही रहे होंगे, क्योंकि यदि पहले से ही उनको न्याय एवं दंड की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती, तो फिर से चतुर्थ स्तम्भ लेख में उनके अधिकारों का उल्लेख करने की आवश्यकता न थी। अतः कह सकते हैं कि पूर्व निर्दिष्ट विद्वानों ने रज्जुक का जो अर्थ लगाया, उस समय उन्होंने चतुर्थ स्तम्भ लेख पर ध्यान नहीं दिया। यदि चतुर्थ स्तम्भ लेख की अवहेलना न की जाती तो प्रकट था कि रज्जुक प्रांत के उतरदायी एवं स्वतंत्र शासक थे, जिनका पद उप शासक कुमारों के बाद निश्चित किया जाना चाहिए।

हम ऊपर लिख आये हैं कि पांचवें शिलालेख में जो अधिकार आदि धर्म महामात्रों को प्राप्त थे, वे अब रज्जुक को भी दे दिये गये। अतः ध्यान रहे कि रज्जुक (युक्त और प्रादेशिक) का कार्य केवल शासन-संबंधी अथवा ऐहिक सुख के लिए लोगों के हित की व्यवस्था करना ही न था अपितु, जैसा कि स्तम्भ लेख से स्पष्ट है, उन्हें लोगों के पारलौकिक हित तथा सुख की व्यवस्था भी करनी पड़ती थी। इसे हम अशोक का सुधार कार्य कह सकते हैं क्योंकि उनसे पहले धर्म के निमित्त किसी ने कोई कार्य न किया और न करवाया। यही कारण है कि सम्राट तृतीय शिलालेख में रज्जुक आदि को शासन कार्य के अतिरिक्त धर्मानुशासन के लिए दौरा करने का आदेश देते हैं। सम्राट का ध्येय ही प्रजा को हर प्रकार से सुख पहुंचाना था। उनका आदर्श था, 'नास्ति हि क्रमतर सब्र लोक हितेन' 'सर्व लोक हित से बढ़ कर और कोई कार्य अथवा कर्म नहीं है।' उनकी पावन वाणी थी, 'इ अ च प सुख यानि परम च स्वयं अरधेतु ति'। कुछ प्राणियों को इहलोक में सुख पहुंचा सकूं, जिससे वे दूसरे लोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें। अतः स्पष्ट है कि सम्राट के राजकर्मचारियों को स्वर्ग और शासन दोनों के सुख की प्रजा के निमित्त व्यवस्था करनी होती थी।

कलिंग के पृथक शिलालेख में एक और राजकर्मचारी का नाम आया है।

कलिंग शिलालेख (धौली) लिखता है, 'देवानांप्रिय के वचनानुसार (अथवा आदेश के अनुसार) तोपाली के महामात्र और नगर-व्यवहारिकों को ऐसा आदेश दिया जाय (अथवा कहा जाय)।' नगर व्यवहारिकों के जायसवाल ने दो भाग किये हैं - नगर और व्यवहारिक, इसी पक्ष का समर्थन करते हुए सत्यकेतु विद्यालंकार कहते हैं - 'निःसंदेह नागरिकों का कार्य-व्यवहार वे नियंत्रित करते थे और व्यवहारिकों का कार्य शासन होने के कारण वे दण्ड देते थे।' किन्तु ऐसा कहना कुछ हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। इसका क्या अर्थ है कि एक बन्धन करे और दूसरा दण्ड दे? यह उचित नहीं जान पड़ता। नगर-व्यवहारिक, कौटिल्य के पुर-व्यवहारिक महामात्र के समकक्ष है (कौटिल्य अर्थशास्त्र 1,12)। इस नगर व्यवहारिक को एक ही शब्द मानना चाहिए। जौगुडा प्रज्ञापन में 'महामाता नगल व्यवहाल' प्रयुक्त हुआ है, इसी प्रकार नगर-प्रमुख के लिए कौटिल्य ने नागरिक महामात्र शब्द का प्रयोग किया है (कौटिल्य अर्थशास्त्र 4,5)। इससे ज्ञात होता है कि नगर व्यवहारिक के लिए महामात्र शब्द अथवा उपाधि का प्रयोग किया जाता था। जिस प्रकार समाहर्ता जनपद का प्रमुख था, उसी भाँति नगर का प्रमुख नागरिक (कौटिल्य अर्थशास्त्र 35,36) अथवा नगर व्यवहारिक या महामात्र नगर व्यवहारिक हुआ करता था। नगर का अर्थ 'पुर' से है और व्यवहार का अर्थ शासन या व्यवस्था से है। अतः प्रकट है कि नगर व्यवहारिक से तात्पर्य उस राजकर्मचारी से है, जिसके पास नगर के शासन का भार सौंपा गया था, अर्थात् नगर का शासक नगर व्यवहारिक कहलाता था।¹⁴

कलिंग शिलालेख प्रथम (धौली) में सम्राट कहते हैं, 'जो कुछ भी मैं ठीक या हितकर समझूँ उसे, मेरी कामना है कि, किसी प्रकार कार्य रूप में लाऊँ और भली प्रकार पूरा कर सकूँ। इस अर्थ की सिद्धि के लिए मैं मुख्य उपाय शिक्षा देना अथवा अनुष्टि समझता हूँ। तुम लोग (नगर व्यवहारिक) अनेक सहस्रों प्राणियों के ऊपर नियत हो, क्यों? इसीलिए कि तुम सब मनुष्यों से प्रेम करो या सब मनुष्यों के प्रेम को पा जाओ। सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं' आदि। इस लेख में सम्राट अशोक ने राजा एवं शासक के कर्तव्यों को प्रकट किया है। सम्राट नगर-व्यवहारिक अथवा शासकों को स्मरण कराना चाहते हैं कि वे प्रजा अथवा (मेरे पुत्रों) के साथ स्नेह वर्ताव करें क्योंकि 'मनु' भी कहता है-

'स्याच्चायानायपरों लोके वर्तते पितृवन्नुषु' (सातवां अध्याय, 80)।

सम्राट के नगर व्यवहारिकों को इस भाँति आदेशित एवं अनुशासित करने से मालूम होता है कि उन पर शासन व्यवस्था का यथेष्ट उत्तरदायित्व था और इसी उत्तरदायित्व को पूर्ण रूप से निभाने के निमित्त ही सम्राट उनको इस तरह निर्देश

करते हैं। इसके सिवा 'बहूसु पान साहसेसु आयुता' (धौली कलिंग शिलालेख) अर्थात् 'तुम बहुत से प्राणियों के उपर शासन के लिए नियुक्त हो' से भी सर्वथा स्पष्ट है कि इन नगर व्यवहारिकों का शासन क्षेत्र एवं अधिकार विस्तृत थे तथा जनपद के शासकों के अनुरूप ही उनका शासन आदि में ऊंचा स्थान था।

13वें शिलालेख में तीन और राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं 1. धर्म महामात्र 2. स्त्रीध्यक्ष महामात्र और 3. व्रजभूमिक।

धर्ममहामात्र : सम्राट अशोक बौद्ध हुए थे, उन्होंने शाक्यमुनि के नियमों को अपनाया था, इसीलिए कि भगवान गौतम की भांति वे संसार के सुख-दुख का कारण समझना चाहते थे एवं जिससे विश्व शान्ति स्थापित हो सके, जिससे संसार के प्राणी सुख प्राप्त कर सकें, उसी वस्तु को वे ढूँढना चाहते थे। अपने इस अन्वेषण में वे सफलीभूत भी हुए। उन्हें आभास हो गया कि सम्पूर्ण सुख और दुख के मूल में 'धर्म और अधर्म' ही हैं। मनु भी कहते हैं - 'अधर्म प्रभव चैव दुःखयोगं शरीरिणाम्। धर्मार्थं प्रभवं चैव सुख संयोगक्षयम्॥64॥ अध्याय-6।' अर्थात् अधर्म से दुख और धर्म से ब्रह्म का साक्षात्कर होने से अक्षय ब्रह्म सुख (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। अतः इसी 'धर्म' के हित सम्राट ने सर्व प्रकार से पराक्रम तथा उद्योग किया क्योंकि वे सबके हित एवं सुख के अभिलाषी थे। सम्राट के अपने प्यारे शब्द थे, 'सर्वभूतानां, अछतिं च, संयम च, समचेरां च, मादवं च' अर्थात् मैं (अशोक) सर्व प्राणियों के हेतु परित्राण, इन्द्रियजय, मनः शान्ति एवं सुख का अभिलाषी हूँ।' अतः इसी अर्थ के लिए सुचारु शासन व्यवस्था समेत वे प्रजा में 'धर्म' का भी प्रचार करने की युक्ति विचारने लगे। प्रथमतः इस सुपथ का आलोक तृतीय शिलालेख में दिख पड़ता है। सम्राट कहते हैं 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि अभिषिक्त होने के 12वें वर्ष मैंने इस प्रकार आज्ञा दी कि मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति 5वें वर्ष जिस प्रकार शासन संबंधी कार्य के लिए दौरा करते हैं, उसी तरह बारी-बारी से धर्म प्रचार के लिए भी दौरा किया करें।' किन्तु इसके अनन्तर सम्राट ने 'धर्म' की अभिवृद्धि तथा प्रचार के लिए नवीन प्रकार के अधिकारी नियत कर दिए। सातवां स्तम्भ लेख कहता है 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार धर्म की प्रजा में उन्नति हो, किन्तु लोग धर्म के अनुरूप न बढ़ सके। इस पर मुझे यह विचार आया कैसे लोगों को धर्म पर आचरण कराया जा सकता है? किस तरह धर्म के अनुरूप मैं उन्हें (लोगों अथवा प्रजा को) बना सकता हूँ। इसलिए मैंने विविध धर्मानुशासन प्रेषित किए हैं। मेरे पुरुष धर्म का आदेश कर प्रचार करेंगे। रज्जुकों को भी, जो सैकड़ों हजारों प्राणियों के लिए नियत हैं, मैंने आज्ञा दी है कि धर्मयुक्त लोगों को इस प्रकार (धर्म के प्रति) उत्साहित करो।

देवताओं का प्रिय कहता है कि यह ज्ञात करके (धर्म प्रचार के हेतु), मैंने धर्म स्तम्भ स्थापित किये, महामात्रों (धर्म महामात्रों) की नियुक्ति की तथा धर्म लिपियां लिखवाई। इस वृत्त से सर्वथा स्पष्ट है कि धर्म प्रचार हेतु ही प्रथमतः सम्राट अशोक ने धर्म महामात्रों को नियत किया था। पांचवें शिलालेख में सम्राट स्वयं धर्म महामात्रों का वर्णन करते हुए उनके कार्यों का उल्लेख करते हैं। पांचवां शिलालेख कहता है, 'विगत काल में धर्म महामात्र नहीं नियत किये जाते थे (अथवा धर्म महामात्र न थे), किन्तु अभिषिक्त होने के 13वें वर्ष मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया। वे सब सम्प्रदायों (धर्मों) में धर्म की स्थापना एवं उन्नति के लिए नियत हैं। वे धर्म महामात्र लोगों के सुख और भलाई के लिए नियत हैं। वे यवन, कम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिकों, वैठानिकों तथा पश्चिमी सीमाप्रान्त या अपरन्ता के लोगों के लिए नियत हैं। वे भट, दास, वेतनभोगी, नौकरों, ब्राह्मणों, साधु गृहस्थों, असहायों और जीर्ण वृद्धों की भलाई और सुख के लिए नियत हैं तथा धर्मानुगामी लोगों की रक्षा के लिए नियत हैं। वे बन्धन (कैद करने), प्राण दण्ड देने, बाधाओं से रक्षा करने, स्वतंत्र करने (मुक्त करने) के लिए, जिसके बहुत से बाल बच्चे हों, जो विपत्तियों से ग्रसित हों या वृद्ध हों, उनके हित के लिए नियत हैं। वे धर्म महामात्र यहां तथा बाह्य दूरस्थ नगरों में मेरे तथा भाइयों और बहनों के अन्तः पुर और मेरे अन्य सम्बंधियों के यहां सर्वत्र नियत हैं। जो मेरे विजित प्रदेश में धर्म के कार्य में लगे हैं (धर्म युक्तेसु) जो धर्मरत हैं, जो धर्म के अभिलाषी हैं या धर्म में अधिष्ठित हैं या दान के कर्म में रत हैं (उन सबके हित) धर्म महामात्र नियत हैं।' सम्राट के इस अनुशासन से स्पष्ट है कि धर्म महामात्र उन्होंने ही सर्वप्रथम नियत किये थे। उनके कार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था एवं उनके अधिकार उपशासक एवं सम्राट के अधिकारों के बराबर थे। उन्हें प्रत्येक मनुष्य, राजकीय परिवार तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की देखभाल तथा सबके धर्म हित की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। सातवें स्तम्भ लेख से विदित होता है कि दूसरे शिलालेख में वर्णित सामाजिक हित के कार्यों का सम्पादन भी इन्हीं महामात्रों को सौंपा गया था। वे धर्म प्रचार के लिए नियत किये गये थे, वे शासन की क्रूरता और अन्याय तथा अत्याचारों की शान्ति के लिए नियत थे, उन्हें सम्राट और राजकीय परिवार के दान कर्म आदि की व्यवस्था करनी पड़ती थी (सातवां स्तम्भ लेख) तथा वे सर्व मनुष्यों एवं सम्प्रदायों के हित के लिए नियत थे। स्पष्ट है कि प्रजा को धर्मयुक्त बनाना एवं एकमात्र धर्म-पालन करना सम्राट अशोक राजा का मुख्य कर्तव्य मानते थे। कह सकते हैं कि सम्राट का युग सतयुग था जबकि 'धर्मेणैव प्रजाः सर्वारक्षन्ति परस्परम्' (महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व 14, 59) यानी धर्म से ही परस्पर प्रजा की रक्षा की जाती थी।

स्त्रीध्यक्ष महामात्र :- हुल्लज इन महामात्रों को गणिक अध्यक्ष महामात्र कहता है अर्थात् वे महामात्र जो राज कर्मचारियों के ऊपर अध्यक्ष नियत थे, किन्तु हुल्लज

के इस मत का समर्थन करने में हम असमर्थ हैं। पांचवें शिलालेख से स्पष्ट है कि राजकीय अन्तःपुर के हित धर्म महामात्र पहले से ही नियत थे। इन धर्म महामात्रों को सम्राट के निज अवरोध एवं भाइयों और बहनों के अवरोध तथा अन्य सम्बंधियों के अवरोध में धर्म कार्य करना होता था (देखिए पांचवा शिलालेख तथा सातवां स्तम्भ लेख)। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धर्म महामात्रों की योजना स्वयं सम्राट ने ही की थी, अतः अन्तःपुर में अथवा स्त्रियों में धर्म का कार्य सम्पादन करने वालों तथा अन्य सम्प्रदायों, मनुष्यों आदि में धर्म कार्य करने वाले सभी तरह के महामात्रों को पहले एक ही नाम से संबोधित किया गया, किन्तु 12वें शिलालेख में आकर सम्राट का धर्म महामात्र भाव परिपक्व हुआ और उन्होंने अन्तःपुर में कार्य करने वाले एवं अन्तःपुर के निमित्त नियत किये जाने वाले महामात्रों का स्त्रीध्यक्ष महामात्र नाम रख कर उन्हें धर्म महामात्रों से भिन्न कर दिया। साथ ही इस नाम से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अन्तःपुर के अलावा सम्राट प्रजा की समस्त स्त्रियों एवं संघ में रहने वाली भिक्षुणियों में भी धर्म प्रचार तथा धर्म कार्य के लिए अलग से महामात्र नियत करने का विचार कर रहे थे। अतः इसी विचार को कार्यरूप में परिणत कर उन्होंने स्त्रियों के धर्म कार्य के हित महामात्रों का एक अलग विभाग स्थापित किया, जिसका अध्यक्ष स्त्रीध्यक्ष महामात्र कहलाया।

व्रजभूमिक या ब्रजभूमिकः- (शाहवाज गद्दी, 'पंचम' मानसेरा) - प्रारम्भिक विद्वानों ने 'व्रज' को व्रज पढ़ कर उसका अर्थ 'मल' करके यह अर्थ निकाला कि सम्राट 'शौचागार' में भी प्रजा के आवेदन सुना करते थे।¹⁵ यह धारणा पीछे हास्यजनक प्रतीत हुई। वस्तुतः व्रज का अर्थ चारागाह है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्रज शब्द आया है। अर्थशास्त्र के अनुसार व्रज का अर्थ 'गाय, बैस, बकरी, भेंड़, घोड़े, ऊंट आदि के झुण्ड अथवा पशुशाला से है'¹⁶ और भूमिक यहां पर 'पद' का निर्देशक है। अतः विदित होता है कि व्रज भूमिका राजकीय चारागाह और पशुओं के अध्यक्ष थे। अनुमानतः पांचवें शिलालेख में वर्णित गोष्ठ (सम्राट जहां जाकर कभी-कभी अपने अवकाश का समय व्यतीत किया करते थे) राजकीय पशुशाला ही थे।¹⁷ कुछ विद्वानों की धारणा है कि व्रजभूमिक व्रजभूमि अर्थात् मथुरा और वृन्दावन के निवासी थे और सम्राट ने उनको तीर्थ यात्रा और धर्म प्रचार हेतु नियत किया था, साथ ही उन्हें पशुओं और वनिक पथ की भी देखरेख करनी पड़ती थी। व्रजभूमिक को पशुओं की देखरेख अथवा देखभाल करनी पड़ती थी, इसमें तो किंचित सन्देह नहीं है। शिलालेखों के अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि सम्राट का रक्षण तथा पालन कार्य मनुष्यों तक ही सीमित न था, वे तो सर्वप्राणियों का, चाहे मनुष्य हों या पशु, मंगल चाहते थे।¹⁸ अतः अनुमान किया जा सकता है कि

जिस प्रकार धर्म महामात्र, रज्जुक आदि मनुष्यों के रक्षण कार्य तथा सुख की व्यवस्था करने हेतु नियत किये गये थे उसी प्रकार ब्रजभूमिक पशुओं के रक्षण तथा सुख साधन के लिए नियत थे। संक्षेप में ब्रजभूमिक, धर्ममहामात्र और स्त्रीध्यक्ष महामात्र के अनुरूप ही धर्म के हित पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे। 12वें शिलालेख में सम्राट ने उनके नियत किये जाने का कारण धर्म की सारवृद्धि दिया है। सम्राट के धर्म का अध्ययन करने से विदित हो जायेगा कि सम्राट का धर्म मानव धर्म था और उसका प्रमुख सिद्धान्त था सर्वलोक हित तथा 'अक्षति सर्वभूतानां।' अतः यदि यह अनुमान करें कि ब्रजभूमिक धर्म महामात्रों आदि की भांति पशुओं के हित तथा कल्याण के लिए नियत किये गये थे तो अप्रासंगिक न होगा। विदित होता है कि पशुओं के हित के कार्य, जैसे चिकित्सालय खोलना, औषधि का यथोचित प्रबंध करना (दूसरा शिलालेख), पेड़ तथा कुंज लगवाना, पानी पीने के स्थान बनवाना आदि (सातवां स्तंभ लेख) इन्हीं ब्रजभूमिक को करना पड़ता था और ये ही लोग इन कार्यों के लिए पशुओं के अध्यक्ष नियत किये गये थे।

महामात्र : सेनार्ट का कहना है कि उच्च पदाधिकारियों के लिए ही 'महामात्र' का प्रयोग किया जाता था। सेनार्ट ने महामात्र की व्याख्या की है 'महति मात्रामा यस्य' जिसका स्थान ऊंचा हो, वह - महामात्र।¹⁹ ये महामात्र, जैसा कि पूर्व निर्दिष्ट हो चुका है, धर्म प्रचार के लिए नियत थे। इन महामात्रों में धर्म महामात्र तथा स्त्रीध्यक्ष महामात्र का हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं। इनके अतिरिक्त अंता अथवा सीमान्त प्रदेशों में धर्मकार्य करने के लिए एक और प्रकार के महामात्र नियत किये गये थे, इनका नाम अंता महामात्र था। अन्ता का अर्थ अन्त अथवा सीमान्त प्रदेशों से है। अतः अन्त महामात्र वे धर्म प्रचारक महामात्र थे जो अन्ता अथवा सीमान्त प्रदेशों में धर्म कार्य किया करते थे। ब्यूलर की सम्मति में अन्त महामात्र सीमान्त रक्षक थे। बहुत से विद्वान अंता महामात्र को कौटिल्य के अन्तपाल से मिलाते हैं, जिसका अर्थ (अन्त सीमा, पाल रक्षा) अर्थात् सीमा के रक्षकों से लिया जाता है। कौटिल्य के ये अन्तपाल साम्राज्य के द्वार की रक्षा करने के लिए नियत किये जाते थे। इन लोगों के पास गढ़ अथवा किले भी हुआ करते थे।²⁰ किन्तु अशोक के शिलालेखों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अंत महामात्र सीमान्त रक्षक न थे और उन्हें कौटिल्य के अंतपाल से मिलाना भूल करना है।

अन्त महामात्रों के स्थान अथवा कार्य का निरूपण करने से पहले यह समझ लेना आवश्यक है कि सम्राट की सीमान्त प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। पृथक कलिंग शिलालेख, द्वितीय जौगुडा लिखता है कि अविजित अन्ता (सीमान्त निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (अथवा सम्राट अशोक) की हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है? अंतों (सीमान्त लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा

है कि वे मुझसे भय न खायें, किन्तु मुझमें विश्वास रखें कि वे मेरे द्वारा दुख के अलावा सुख ही पायेंगे। वे यह भी समझ रखें कि राजा (अथवा अशोक) द्वारा जो कुछ क्षमा किया जा सकता है, वह क्षमा करेगा। मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म सिखलाऊंगा (अथवा धर्म पथ पर आचरण कराने का प्रयास करूंगा), जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों को प्राप्त कर सकें।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्राट की सीमान्त प्रदेशों के प्रति क्या नीति थी। सम्राट अशोक निःसन्देह सीमान्त वासियों के धर्मोत्कर्ष के लिए अत्यंत उत्सुक थे। सम्राट सीमान्त वासियों को आश्वासन देते हैं कि उनकी नीति आक्रमक नहीं है बल्कि मैत्री की है। इस मैत्री के कारण ही सम्राट चाहते हैं कि वे सीमान्त वासी दोनों लोकों (अर्थात् इहलोक व परलोक) में सुख का उपभोग करें। परन्तु यह कैसे हो सकता है? केवल इच्छा भर होने से तो कार्य संसार में हो नहीं सकता। अतः उसके लिए व्यवस्था तथा परिश्रम दोनों की अत्यन्त आवश्यकता है। अब यह सवाल रह जाता है कि अशोक ने इस हेतु क्या उपाय निकाला था? इसका उत्तर सम्राट के ही शब्दों में 'धर्म पर आचरण' कहा जा सकता है। सम्राट का कथन है, 'मैं अपने धर्म-नियमों से उन्हें धर्म-पथ पर आचरण कराने का उद्योग करूंगा।'

अब हमें यह मालूम (विदित) करना है कि सम्राट ने किस प्रकार लोगों को धर्माचरण करना सिखलाया? प्रथम स्तम्भ लेख लिखता है, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है - 'अभिषिक्त होने के 26वें वर्ष, मैंने यह धर्म लिपि लिखाई। विना धर्म कामना, परीक्षा, अनुज्ञा, भय और विना उत्साह के इहलोक और परलोक (स्वर्गलोक) पाना कठिन है। किन्तु निःसन्देह मेरे धर्मानुशासन के कारण, धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि दिन-दिन बढ़ती हुई है और होगी। छोटे-बड़े और मध्यम पद वाले मेरे पुरुष भी धर्मानुशासन पर आचरण करेंगे और लोगों (अर्थात् अपनी प्रजा) से भी उन पर आचरण करवायेंगे। इसी प्रकार मेरे अन्त महामात्र भी कार्य कर रहे हैं।' इस वृत्त में अन्त महामात्रों का उल्लेख आया है, जिससे मालूम होता है कि अन्त महामात्र, धर्म कामना तथा धर्म पर आचरण कराने, धर्मानुष्ठि तथा धर्म प्रचार करने का कार्य कर रहे थे। इस स्तम्भ लेख से वस्तुतः बिल्कुल सन्देह नहीं रह जाता कि अन्त महामात्र पुरुषों तथा धर्म महामात्रों के सदृश धर्म के लिए नहीं नियुक्त थे। इस स्तम्भ लेख में पुरुषों और अन्त महामात्र दोनों का साथ उल्लेख हुआ है, जबकि कार्य रूप में दोनों की समानता अथवा सादृश्य भी भली प्रकार स्पष्ट किया गया है। अतः सरलता के साथ कहा जा सकता है कि द्वितीय शिलालेख में उल्लिखित नीति के अनुसार अन्त महामात्र विजित राज्य में बाहर अर्थात् सीमान्त प्रदेशों में धर्म प्रचार कार्य आदि के लिए नियत किये गये थे, क्योंकि विजित राज्य में अथवा अशोक के निज साम्राज्य के अन्तर्गत धर्म प्रचार का कार्य पुरुष कर

रहे थे। अतः अन्तपाल और अन्त माहमात्र को अलग-अलग लेना चाहिए। वस्तुतः हम कह सकते हैं कि अन्त माहमात्र केवल सीमान्त प्रदेशों में धर्म प्रचारक माहमात्र थे, जैसा कि प्रथम स्तम्भ लेख से आभास होता है।

पुरुष - जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, पुरुष का कार्य विजित राज्य अथवा साम्राज्य के अन्तर्भूत धर्म प्रचार करना था। ये पुरुष तीन श्रेणियों में विभाजित थे छोटे, बड़े और मध्य अथवा उच्च श्रेणी वाले, मध्यम श्रेणी वाले और निचली श्रेणी वाले। पुरुष के प्रति चतुर्थ स्तम्भ लेख में भी उल्लेख आया है। इस लेख में सम्राट कहते हैं 'रज्जुकों को मैंने सैकड़ों-हजारों प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है। क्यों? इसलिए कि रज्जुक सुनिश्चित और विश्वस्त होकर अपने कार्य में प्रवृत्त हों। रज्जुक मेरी आज्ञा में तत्पर हैं। जो लोग सम्राट की रक्षा और अनुशासन को जानते हैं, वे पुरुषों की आज्ञा का पालन करेंगे। वे अर्थात् पुरुष जनपद के लोगों को उत्साह देकर रज्जुकों को धर्म और राजा के प्रति कर्तव्यनिष्ठ होने में उत्साहित करेंगे।' चतुर्थ स्तम्भ लेख के कथन से स्पष्टतः विदित होता है कि 'पुरुष' रज्जुकों के कार्य का निःसन्देह निरीक्षण किया करता था तथा उनके कार्य में शिथिलता पाने पर उन्हें कार्य करने के लिए निर्देश भी करता था। अतः कहा जा सकता है कि पुरुषों का स्थान रज्जुकों से ऊपर था लेकिन रज्जुकों से उच्च स्थान रखने वाले पुरुष उच्च श्रेणी के रहे होंगे।

परिषद : तीसरे शिलालेख में 'परिषद' का उल्लेख आया है। तीसरा शिलालेख कहता है 'माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है, मित्रों के प्रति उदारहस्त होना श्लाघनीय है, परिचित लोगों, सम्बन्धियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दानशील होना प्रशंसनीय है। जीवों की हिंसा न करना प्रशंसनीय है, बहुत व्यय न करना और बहुत संचय न करना अच्छा है। परिषद भी युक्त को मेरे धर्मानुशासन के अर्थ और अभिप्राय के अनुसार जांच करने की आज्ञा देगी।' इस शिलालेख में सम्राट परिषद को आदेश देते हैं कि युक्त आदि कर्मचारियों को प्रजा में अहिंसा, सेवा-दान तथा अल्पव्यय और अल्प संचय आदि गुणों का प्रचार करने के हित सहायता देंगे तथा उनको इस धर्मानुशासन का प्रजा में प्रचार करने के लिए आदेश किया करेंगे। अतः स्पष्ट है कि इस परिषद का कार्य राज कर्मचारियों के कार्य की देखभाल करना था, तथा साथ ही, राज्य के कर्मचारियों से सम्राट द्वारा प्रेषित हुई आज्ञाओं का पालन कराना भी था। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी परिषद का वर्णन आया है। इस परिषद का आशय मंत्रिपरिषद से है। इस परिषद का कार्य यह था कि जो काम आरम्भ न हुआ हो, उसे आरम्भ करे, जो कार्य आरम्भ हो चुका हो उसे पूरा करे और जो पूरा किया जा चुका हो, उसमें सुधार कार्य करे तथा अनुशासनों का (अन्य राज्य के कर्मचारियों से) पूर्णता से पालन कराएँ।²¹

इस विवरण से स्पष्ट है कि कौटिल्य की मंत्रि परिषद की भांति ही अशोक की परिषद को कार्य करना पड़ता था। अतः कह सकते हैं कि अशोक का परिषद से तात्पर्य मंत्रिपरिषद से ही है। छठवें शिलालेख में भी परिषद का उल्लेख आया है। इस लेख में सम्राट कहते हैं, यदि कभी संयोगवश दान देने वाले या विज्ञप्ति सुनाने वाले अधिकारियों को जो कोई आज्ञा में मौखिक दूँ तथा अत्यंत आवश्यकता पड़ने पर जो अधिकार उन्हें (मुझसे) दिया जाय, यदि उस पर संदेह, तर्क-वितर्क व विमर्श (मतभेद या समीक्षा) हो तो परिषद बिना देर किए, कहीं भी सर्वत्र हर समय पर मुझे सूचित करे (इस विषय की सूचना दें)।

इस से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट जो मौखिक आज्ञाएं व अधिकार आदि कर्मचारियों अथवा महामात्रों को देते थे, उनको प्रथम परिषद में विचारने के लिए रखा जाता था। यदि परिषद इन मौखिक आज्ञाओं को सम्राट द्वारा प्रेषित हुई समझती तो उन आज्ञाओं का पालन हो सकता था अन्यथा नहीं अर्थात् परिषद को महामात्रों पर किसी प्रकार का सन्देह अथवा मतभेद होने पर सम्राट से निर्णय लेने के उपरान्त ही आदेशों को कार्य में परिणत किया जा सकता था। अतः स्पष्ट है कि परिषद महामात्र और सम्राट के मध्य संयोजक का कार्य करती थी। परिषद को अधिकार था कि सन्देह होने पर सम्राट की मौखिक आज्ञाओं को रोक कर उन्हें कार्य रूप में परिणत होने से पहले सम्राट द्वारा निर्धारित करा ले। अस्तु, यह परिषद कार्य निर्वाहक सभा थी।

सत्यकेतु विद्यालंकार लिखते हैं कि परिषद अथवा मंत्रिपरिषद सम्राट पर नियंत्रण रखती थी। इसके प्रमाणस्वरूप वे अशोकावदान से एक कहानी उद्धृत करते हैं। संक्षेप में कहानी का आशय है कि सम्राट अशोक एक समय कुर्कुटा राम विहार को धन-दान करना चाहते थे। पर वे दान न दे सके क्योंकि उस समय कुणाल का पुत्र अर्थात् अशोक का पौत्र सम्प्रति युवराज था। उससे अमात्यों ने कहा 'कुमार! राजा अशोक को सदा थोड़े ही रहना है। उनका थोड़ा ही समय बाकी है। यह द्रव्य कुर्कुटाराम विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आधारित है। इसलिए मना कर दो।' कुमार ने भाण्डागारिक को राजकोष से दान देने के लिए मना कर दिया। अतः सम्राट को इच्छानुसार दान करने के लिए धन न मिल सका। क्या इस कहानी से सम्राट के ऊपर मंत्रि परिषद का नियंत्रण होना साबित होता है? कहानी से स्पष्ट है कि मंत्रियों ने अशोक के पोते को बहका कर, उसी के द्वारा राजकोष से सम्राट अशोक को दान के लिए धन लेने से रोका था। अतः प्रकट है कि सम्राट के दान कार्य पर परिषद का कोई नियंत्रण न था और यदि परिषद को सम्राट पर नियंत्रण करने की शक्ति होती, तो उसे युवराज सम्प्रति को बहकाने अथवा सम्मति देने की क्या आवश्यकता थी? क्यों न मंत्रि परिषद सम्राट के इस

‘दान’ को व्यर्थ समझ कर स्वयं उसका विरोध करती? यदि परिषद में सम्राट के समक्ष सीधे कोई विरोध उपस्थित करने की शक्ति न थी, तो यह कहना बिल्कुल निरर्थक है कि परिषद अथवा मंत्री परिषद सम्राट पर नियंत्रण करती रही होगी। वस्तुतः परिषद का सम्राट पर नियंत्रण था और यदि छटवें शिलालेख के अनुसार परिषद सम्राट की मौखिक आज्ञाओं पर हस्तक्षेप कर सकती थी, तो वह किसके अधिकार से? यह अधिकार स्वयं सम्राट द्वारा परिषद को दिया हुआ था परन्तु इस अधिकार का यह तात्पर्य न था कि परिषद सम्राट की आज्ञाओं पर हस्तक्षेप करे, किन्तु आज्ञाओं के हस्ताक्षर विहीन अथवा मौखिक होने के कारण यदि परिषद को यह संदेह हो कि महामात्रों को दी हुई ये आज्ञाएँ सम्राट की ही प्रेषित की हुई हैं अथवा नहीं, तो जाकर सम्राट से ही उनकी सत्यता का निर्णय करा लें। वस इतना ही परिषद को अधिकार था, किन्तु यदि विद्यालंकार जी द्वारा उद्धृत कथा को सत्य भी माना जाय तो उससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वृद्धावस्था के समय सम्राट (अशोक) पदच्युत कर दिये गये थे तथा उनके अधिकार सम्राट के पौत्र सम्प्रति ने छीन लिये थे। सम्भवतः इसी कारण सम्राट ने निराशा और घृणापूर्ण शब्दों में कहा था, ‘ऐश्वर्य धिगनार्य’ ऐश्वर्य के लिए धिक्कार। अशोकावदान यह भी लिखता है कि सम्राट ने जब अमात्यों और पौत्र को बुला कर पूछा कि ‘इस समय राज्य का कौन स्वामी हैं?’ तो मंत्रियों ने कहा ‘आप ही स्वामी हैं।’ इस पर कथा लिखती है कि अशोक ने आंसू बहाते हुए कहा कि ‘मुझसे तो राज्य छीन लिया गया है।’ मालूम होता है कि अशोकावदान की कथा को प्रमाणरूप में लेते हुए विद्यालंकार जी कथा के आशय की अवहेलना कर गये अन्यथा अशोक के कथन को उन्हें अधिक प्रमाणिक लेना चाहिए था। उत्तराधिकारियों द्वारा राज्य का अपहरण किया जाना अशोक के समय कोई नई बात नहीं थी। सम्प्रति से पहले अजातशत्रु ने भी अपने पिता को पदच्युत किया था। इस प्रकार के कई उदाहरण इतिहास में बहुलता के साथ पाये जाते हैं।

शासन के सुधार, दौरा व निरीक्षण कार्य :- सम्राट अशोक का साम्राज्य अत्यंत विस्तृत था, अतः इस की देखरेख करने के लिए सम्राट ने दौरे की प्रथा का अनुकरण किया था। देख-रेख अथवा निरीक्षण का प्रमुख आशय यही देखना था कि प्रजा को सब जगह सुशासन मिल रहा है या नहीं, क्योंकि अशोक एक उत्तरदायी सम्राट था। वे अपनी प्रजा को बच्चे के समान प्यार करते थे और अपने को प्रजा का ऋणी समझते थे, अतः सुन्दर न्याययुक्त शासन व्यवस्था का सम्पादन कर वे स्वयं को उन्मत्त करना चाहते थे। इसी कारण शासन का निरीक्षण करने के लिए सम्राट ने महामात्रों को नियत किया था। पृथक कलिंग शिलालेख प्रथम में अशोक कहता है, ‘नगर व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते

रहें कि बिना किसी कारण के मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय और प्रत्येक पांचवें वर्ष (मैं) एक महामात्र को नियत करूँगा, जो कार्य करने में न तो कठोर होगा और न क्रूर होगा, किन्तु जो धीरता से कार्य करेगा। क्यों? इसलिए कि शासनकर्तागण इस बात का विचार रखे कि वे मेरी आज्ञा अथवा अनुमति के अनुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। उज्जैन में भी कुमार शासक इसी अर्थ के लिए ऐसे ही अधिकारियों के एक वर्ग को नियत करें और तीन साल से अधिक न व्यतीत होने दें। ऐसा ही तक्षशिला में किया जाय। जब ये महामात्र दौरे पर जाय, तब वे अपने कर्तव्य को निभाते हुए इस बात का भी निश्चय करें या देखभाल रखें कि शासकवर्ग सम्राट के अनुशासन का पालन कर रहे हैं।'

इस शिलालेख से स्पष्ट है कि प्रत्येक पांचवें वर्ष महामात्र सम्राट द्वारा दौरे पर इसलिए भेजे जाते थे कि वे शासक वर्ग के शासन का निरीक्षण किया करें और देखें कि ये शासकगण ठीक तरह से सम्राट के आज्ञानुसार कार्य कर रहे हैं या नहीं। अतः स्पष्ट है कि शासक वर्ग अथवा राजकर्मचारियों के शासन कार्य का निरीक्षण करने के लिए ही सम्राट ने 'दौरे' की प्रथा प्रचलित की। सम्राट शासनकर्ताओं के निजी अत्याचारों से भली प्रकार परिचित थे, इसलिए उन्हें नित्य शासकों पर सन्देह बना रहता था। सम्राट का सुशासन के प्रति इतना अधिक ध्यान था क्यों कि 'इस कर्तव्य (अर्थात् सुशासन) के सम्पादन से दो लाभ हैं अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राजकर्तव्य से उन्नतता।'

सारनाथ स्तम्भ लेख में भी सम्राट ने स्थानिक महामात्रों को अपने प्रान्त के अन्तर्गत 'दौरा' करने का अनुशासन दिया है। शासन का निरीक्षण करने के अलावा धर्म प्रचार हेतु भी 'दौरा' हुआ करता था क्योंकि सम्राट प्रजा को ऐहिक सुख के साथ स्वर्गिक सुख का भी उपभोग करवाना चाहते थे। पृथक् कलिंग शिलालेख द्वितीय (जौगुडा) में सम्राट कहते हैं, 'जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्व मनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूँ।'

तीसरा शिलालेख कहता है कि 'मेरे विजित राज्य में युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक प्रति पांचवें वर्ष जिस प्रकार और शासन सम्बंधी कार्य के लिए दौरा करते हैं, उसी तरह बारी-बारी से धर्म प्रचार के लिए भी दौरा किया करें।' स्पष्ट है कि युक्त, रज्जुक तथा प्रादेशिक आदि को शासन का निरीक्षण करने के साथ ही धर्म प्रचार हेतु भी 'दौरे' पर जाना पड़ता था। संक्षेप में सुशासन तथा धर्म-संस्थापन हेतु ही दौरा प्रथा प्रचलित की गई थी। सम्राट का यह पहला सुधार कार्य था।

पैतृकीय शासन - महाभारत²² कहता है 'राजा का प्रजा से वही संबंध है जैसा मां का अपने बच्चों से, अतः मां की तरह राजा को प्रजा के हित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थों का वलिदान करना चाहिये।' राजा के पैतृक गुणों का महाभारत, कौटिल्य, मनु आदि ने स्वच्छन्दतापूर्वक अभिनन्दन किया है। सम्राट अशोक का चरित्र भी इन्हीं पैतृक गुणों से भरा हुआ था। सम्राट अशोक सारी प्रजा को अपने बच्चे के समान प्यार किया करते थे तथा नित्य अपनी प्रजा के ऐहिक और पारलौकिक सुख के लिए पराक्रम में लगे रहते थे।²³ सम्राट का प्रजा के प्रति यह स्नेह प्रशंसनीय है; उनके शब्द हैं, 'कटिवय मते हि में सर्वलोक हिते' (मानसेरा) अर्थात् 'सर्वलोक का कल्याण मेरा कर्तव्य है।' प्रजा के प्रति उनकी निरन्तर दो भावनाएँ बनी रही हैं, 'प्रजा को इस लोक में शासन द्वारा सुख पहुँचाऊँ, जिससे वे परलोक में भी स्वर्ग प्राप्त कर सकें।'²⁴

निःसन्देह, सम्राट प्रजा तथा सर्वलोक का कल्याण करने के लिए निरन्तर इसी पैतृक भावना से प्रेरित होकर पराक्रम करते रहे और निरन्तर अपने राजकर्मचारियों को भी इसके लिए उत्साहित करते रहे। इस कल्याण हेतु सम्राट निष्पक्षता तथा न्याय समता को अत्यंत आवश्यक समझते थे। एक समय सम्राट को जब यह मालूम हुआ कि तोषाली के व्यवहारिकों ने निरपराध प्रजा को अन्यायपूर्वक पीड़ित किया है तो सम्राट ने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा, 'तुमने मेरे शब्दों का तात्पर्य नहीं समझा, सारी प्रजा मेरे बच्चे हैं और उनके कल्याण की शुभेच्छा ही मेरी एकमात्र अभिलाषा है। तुम अपने को ईर्ष्या, द्वेष, आलस्य और असहिष्णुता से बचाओ तथा प्रशक्ति, प्रशान्ति, क्षमाशीलता आदि गुण ग्रहण करो।' सम्राट ने नगर व्यवहारिकों को समझाते हुए बतलाया कि शासन का कर्तव्य पालन न करने से 'महत अपयश होता है। उसको न स्वर्गसिद्धि होती है और न राजकीय कृपा मिलती है।' लेकिन कर्तव्य पालन करने से 'स्वर्ग की प्राप्ति होती है तथा राज कर्तव्य से उन्नतता मिलती है।' शासन की यह सरलता और कर्तव्य-परायणता सम्राट का दूसरा सुधार कार्य था।

सम्राट अशोक का तीसरा सुधार कार्य था प्रतिवेदकों की नियुक्ति। 'बहुत काल व्यतीत हुआ कि प्रत्येक समय राज्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण राजा को प्रजा के कार्यों की जानकारी नहीं होती थी। इसीलिए मैंने ऐसा प्रबन्ध किया, जिससे प्रत्येक समय, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे अन्तः पुर में होऊँ, चाहे महल में होऊँ, चाहे यात्रा में रहूँ, चाहे यात्रा में भ्रमण करता रहूँ, सर्वत्र कहीं भी प्रतिवेदक मुझे प्रजा के कार्य की सूचना दें, आवेदन करें।' फलतः प्रतिवेदक का नियत किया जाना तथा प्रत्येक समय प्रजा के कार्य के लिए (सम्राट अशोक) प्रस्तुत रहना सम्राट का तृतीय सुधार कार्य था। यदि संसार के राजाओं की सूची तैयार की जाय, तो विदित

हो जाएगी कि किस प्रकार न्याय 'राजाओं की दाढ़ी की सघनता में लेटा फूत्कारें मारता था और उस भयंकर न्याय की उष्ण फूत्कारों से भयार्त हो प्रजा उनसे दूर भाग जाती थी। किन्तु अशोक की महानता इसी में है कि उसने 'सम्राट' को कभी भी एक हिंसक जानवर के रूप में न लिया और उसे प्रजा का प्रथम सेवक और रक्षण करने वाला पिता समझा। यही कारण था कि अशोक प्रजा की सेवा के लिए हर जगह और हर समय तत्पर रहते थे। कितनी महत् विशाल आत्मा इस कुटिल जगत में अवतरित हुई थी, कितने महान थे उनके कर्म, वह करुणा की मूर्ति सदेह पृथ्वी पर स्नेह की जलधारा से संसार के तप्त जीवन को सींचती आई थी। सम्पूर्ण कर्मयोग से निबद्ध था वह चरित्र। सम्राट की वाणी अभी भी हमारे हृदय में प्रतिध्वनित हो उठती है।

'ये तोषे उटनसि', 'मुझे उद्योग (प्रजा का कार्य) करने में ही संतोष है' और 'अथ संतिरणये न कटविय मते हि में सबलोकहिते', 'सर्वलोक मंगल-कल्याण ही मेरा कर्तव्य है, कर्म है।' पुनः सुनिए 'नास्ति हि क्रमतर सबलोक हितेन' सर्वमंगल से बढ़ कर अधिक उपादेय कार्य कोई नहीं है। प्रजा के महती स्नेहभार से सुशोभित सम्राट फिर कहता है— जो कुछ भी कार्य मैं करता हूँ, वह किसलिए? इसलिए कि मैं जीवधारी (प्रजावर्ग) के ऋण से उऋण हो सकूँ, जिससे मैं उन्हें इस लोक में सुखी करूँ और (जिससे) वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त कर सकें। इसी हेतु यह धर्मलिपि लिखवाई, जो चिरस्थायी हो।' सम्राट इतने से ही सन्तुष्ट न हुए। वे चाहते थे कि उनके अनन्तर उनके उत्तराधिकारी भी इसी तरह से कर्म करते रहें, अतः वे कहते हैं— 'सम्पूर्ण विश्व के कल्याण के हित मेरे पुत्र और पौत्र इसी प्रकार उद्योग करें (अनुसरण करें)। मंगल कार्य करना यद्यपि विना अविरल परिश्रम के कठिनतर है।' (मानसेरा 6वां शिलालेख)। ये थे सम्राट अशोक और ऐसे थे उनके प्रजा के प्रति स्नेह-उद्गार, जिन्हें राजनीतिक शब्दों में ऐतिहासिक सुधार के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं।

चतुर्थ सुधार 'रज्जुक' के पद की वृद्धि करना था। अभिषिक्त होने के 26वें वर्ष उन्हें न्याय और दण्ड की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई थी। उन्हें हर प्रकार प्रजा के कल्याण का ध्यान रखना होता था, जिससे प्रजा को इहलोक तथा परलोक दोनों की प्राप्ति हो सके। 'रज्जुक' के इस तरह दो कार्य थे, प्रथम ऐहिक मंगल (प्रजा का) और द्वितीय प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति। उन्हें प्रजा को पूर्ण न्याय देकर सम-व्यवहार का नित्य ध्यान रखना होता था।

यहां पर कोई पूछ सकता है कि सम-व्यवहार से सम्राट का क्या तात्पर्य था? निश्चयात्मक रूप से इस पर कुछ कहना अत्यंत कठिन है, लेकिन अनुमानतः सम-व्यवहार से यही तात्पर्य हो सकता है कि न्याय में भेद होने से उच्छृंखलता न

आने पाए, सबके साथ न्याय की दृष्टि से एक सा व्यवहार हो, यह न हो कि यदि अपराधी किसी बड़े आदमी या पदाधिकारी का सम्बंधी हो, तो न्यायाधीश उसे पक्षपात करते हुए रिहाई दे दें, किन्तु गुनहगार एक गरीब हो, कोई उसका पूछनेवाला न हो, तो उसे कड़ाई के साथ सताया जाय या चाहे वह वेगुनाह भी हो, तब भी उसे बिना पूछे पीड़ित न किया जाय। वे इस प्रकार के पक्षपात के कट्टर विरोधी थे, उन्हें इससे घृणा थी। गाथाओं से मालूम होता है कि सम्राट ने अपने गुनाहगार भाई महेन्द्र का भी पक्ष न लिया। वे नहीं चाहते थे कि भाई का अस्तित्व न्याय के सम-व्यवहार को नष्ट कर दे। नगर-वासियों को भी न्याय के सम-व्यवहार को भंग करने पर कोसा गया था क्योंकि उन्होंने कई निरपराध गरीब लोगों को अन्यायपूर्वक दण्ड दिया था। रज्जुक प्रमुखतः इसी सम-व्यवहार को संभालने के लिए नियत किए गए थे।

चतुर्थ स्तम्भ लेख लिखता है, 'वे मनुष्य जो बंधन में हैं, जिनका पहले ही न्याय हो चुका है, जिन्हें प्राणदण्ड की सजा मिल चुकी है, उनको मैंने तीन दिन का विश्राम स्वीकृत किया है। इन तीनों दिनों के भीतर, उन (कैदियों) के सम्बंधी 'रज्जुक' को फिर से न्याय करने पर जोर देंगे। यदि कोई 'रज्जुक' से अपील करने वाला न हो, तो वे कैदी दान देंगे अथवा उपवास करेंगे, जिससे वे स्वर्ग (परलोक) को प्राप्त हो सकें क्यों कि मेरी इच्छा है कि वे फांसी होने पर दूसरे लोक (स्वर्ग) को प्राप्त हो सकें।' फांसी के अभियुक्तों को अपील व धार्मिक कृत्यों के लिए तीन दिन का अवकाश प्रदान करना सम्राट का एक और सुधार कार्य था।

इस विवरण से प्रकट होता है कि अशोक के समय दंड विधान में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया गया था। दण्ड को नर्म बना कर अशोक ने 'दण्ड' का वह उग्र रूप समाप्त कर दिया, जो चन्द्रगुप्त के समय में था, जब चोरी के लिए फांसी अथवा अंग-भंग की सजा दी जाती थी। कठोर दण्ड को अमानुषिक समझ कर ही 13वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं 'मेरे पुत्र और पौत्र शस्त्रों द्वारा विजय प्राप्त करने का विचार न करें। उन्हें उदारता, सहिष्णुता तथा दण्ड मृदुता (अथवा दण्ड लघुता) में आनन्द मानना चाहिए।' इसी भांति कलिंग शिलालेख, धौली भी आदेश देता है कि 'राजकर्मचारियों को दण्ड देते समय मध्य मार्ग ग्रहण करना चाहिए अर्थात् मृदुता से दण्ड देना चाहिए।'

सेना :- बहुत से लोगों की धारणा है कि सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद सेना को हटा दिया, किन्तु इस बात का हमें ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता। सम्राट के शिलालेख भी इस बात पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डालते, किन्तु 13वें शिलालेख में सम्राट सैन्य-सेवा होने का कुछ आभास अवश्य देते हैं। उपद्रवी अटवी अथवा वन-निवासियों को अपनी महती शक्ति का परिचय देते हुए सम्राट कहते हैं,

‘उन्हें यह समझा दिया गया है कि सम्राट के अनुताप अथवा पछतावे में भी कितनी शक्ति है, जिससे वे अपने कार्यों पर लज्जित हों और मारे न जायें।’ सम्राट के इन शब्दों से प्रकट है कि विद्रोही अटवी लोग यदि उपद्रव करना न छोड़ेंगे, तो उनकी भी कलिंग वाली दशा कर दी जायेगी। स्पष्ट है कि अटवियों का दमन करना बिना सैन्य के सम्भव नहीं। अतः कह सकते हैं कि सम्राट के पास सैन्य विभाग भली प्रकार मौजूद था और संभवतः उसका शासन उसी प्रकार किया जाता रहा होगा, जैसा चन्द्रगुप्त के समय में होता था।

सिंचाई - सिंचाई-कार्य भी इस समय मेगस्थनीज तथा कौटिल्य के वर्णनानुसार ही किया जाता रहा होगा। ऐसे ही तिजारत, दस्तकारी आदि का काम भी कौटिल्य तथा मेगस्थनीज के दिये हुए विधान के अनुसार ही किया जाता होगा, यद्यपि शिलालेख में हमें इन विषयों के प्रति कोई उल्लेख नहीं मिलता।

सड़क - सम्राट अशोक के समय मार्गों का सुचारु रूप से निर्माण किया जाता था। अशोक के मार्ग घने वृक्षों की छाया से ढके रहते थे। कहा जाता है कि पाटलिपुत्र से लेकर तक्षशिला तक एक सीधी सड़क जाती थी। सर जान स्ट्रैची का कहना है कि किसी भारतीय राजा ने कभी सड़कें नहीं बनवाईं²⁵ यह धारणा स्पष्टतः निरर्थक है। कौटिल्य मार्गों का निर्देश करता है तथा यात्रियों की सुविधा के लिए मील के पत्थर तथा स्तम्भ गाड़ने को भी कहता है। सड़कों या स्वतः बनी सड़कों में अंतर माना जाता रहा है।

अन्य सार्वजनिक कार्य- सार्वजनिक कल्याण के लिए सम्राट ने क्या किया, यह द्वितीय शिलालेख से प्रत्यक्ष मालूम होता है। यह लेख कहता है- ‘देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी के विजित प्रदेशों में तथा जो सीमांत प्रदेश हैं, जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेश उनमें तथा अन्तियोक (ऐण्टियोकस) नाम के यवन राजा तथा जो अन्य राजा उनके समीपस्थ हैं, उनके यहां सब स्थानों में देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने दोनों प्रकार की चिकित्सा का प्रबंध किया है, मनुष्य की चिकित्सा और पशु की चिकित्सा। मनुष्य तथा पशुओं के लिए उपयोग की औषधियां जहां-जहां नहीं हैं, वहां-वहां वे ले जायीं गयीं और लगायीं गयीं। इसी प्रकार मनुष्य तथा पशुओं के हेतु जहां फल और मूल नहीं थे, वहां-वहां वे लाये गये और बोये गये तथा मार्ग में कुएं खुदवाये और पेड़ लगवाये गये।’

द्वितीय शिलालेख से प्रकट है कि सम्राट अशोक के समय पशु और मानव दोनों की चिकित्सा का प्रबंध था, जिसके लिए अच्छे चिकित्सकों की अवश्य ही आवश्यकता रही होगी। मौर्य काल में सम्भवतः अच्छे चिकित्सकों की कदापि कमी न थी। बुद्ध के समय काशी और तक्षशिला के चिकित्सा विश्वविद्यालय बहुत प्रसिद्ध थे²⁶ एक ग्रीक चिकित्सक कटेसियस ने अपनी ‘इण्डिका’ में लिखा है कि

‘भारतीयों को सिरदर्द, दन्तशूल, अक्षिशोध, मुखपाक और व्रण नहीं होते (400 ई०पू०) थे।’ नियाकर्स के अनुसार सिकन्दर भारत में अपने साथ भारतीय चिकित्सकों को रखता था।²⁷ इन विवरणों से स्पष्ट है कि सम्राट अशोक के समय से पहले ही भारत में अच्छे वैद्य उपलब्ध थे। सम्राट के दादा के समय भी चिकित्सा पर खूब ध्यान दिया जाता था। सम्राट चन्द्रगुप्त के समय स्त्रियाँ भी रोगियों की सेवा के लिए रखी जाती थीं।²⁸ मालूम होता है कि सम्राट अशोक के समय ‘स्त्रीध्यक्ष-महामात्र’ को स्त्रियों की चिकित्सा, शुष्पूश्रा आदि का भी शायद ध्यान रखना पड़ता था। सम्राट अशोक के समय सार्वजनिक उद्यान (बाग)²⁹, आम्रवाटिका³⁰ कुएं आदि खुदवाने और बनवाने के लिए संभवतः अलग कर्मचारी नियत थे। मार्ग में यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनी होती थीं और सुस्ताने व धूप से बचने के लिए मार्गों के किनारे पेड़ लगवा दिये जाते थे, जिनका उत्तरदायित्व और प्रबन्ध का भार सरकार पर ही था। सम्राट के सार्वजनिक हित के कार्यों तथा चिकित्सा आदि के प्रबन्ध का भार सरकार पर ही था। सम्राट ने सार्वजनिक हित के कार्यों तथा चिकित्सा आदि का प्रबन्ध अपने ही राज्य में नहीं किया, वरन् सीमान्त के विदेशी यवन राज्यों में भी उन्होंने इन कार्यों की व्यवस्था करा रखी थी। सम्राट की विश्वबंधुता और विश्वमैत्री का यह ज्वलंत प्रमाण है।

इस प्रकार अशोक अपने राजकीय कर्तव्य और उत्तरदायित्व तथा विश्व बंधुत्व के महान सिद्धान्त का पालन करने में कभी न चूके। सर्वलोक कल्याण कामना उनका अविरत अनुराग बना रहा। उन्होंने धर्म, सत्यता, दया, दान, अहिंसा, सहिष्णुता आदि का ही प्रचार न किया, अपितु शासन के प्रवर्तनीय प्रयोगों से उनका मस्तक हमेशा दीप्त रहा। निःसन्देह अशोक मानव जाति के सम्राटों में अद्वितीय कहे जा सकते हैं। सहस्रों अनगिनत सम्राटों, राजाओं और आक्रान्तकारी सिकन्दरों और सीजरो के मध्य अशोक का उज्ज्वल नाम एकाकी नक्षत्र की भांति अकेला ही चमका करता है। उनके समक्ष सबकी छवि म्लान पड़ जाती है। अशोक एक महान मानव और शासक थे, सर्वलोकहित और विश्व मंगल ही जिन के जीवन का ध्येय और राजधर्म था।

अध्याय-4

सम्राट का धर्मपरिवर्तन और बौद्ध होना

कल्पांत से कितने महाभारत हुए, भीषण हत्याकांड हुए पर शायद ही किसी का मानवीय हृदय उन नग्न भीषणताओं को देख कर कांपा हो ! यह कठोर सत्य है कि आर्यों के पूज्यनीय देव कृष्ण भी महाभारत का क्रूर तांडव देखते रहे, किन्तु अणुमात्र भी उनका हृदय न पिघला। वे ईश्वर थे, देव थे, मानव नहीं। अतः उनके लिए वही उचित था। देव के आंसू नहीं टपकते, उसका हृदय क्रन्दन नहीं करता, जब वह अपने हाथों से, अपने ही सामने, कलियों से नन्हें सुकुमार बच्चों, कल्पनाओं में झूमते युवकों और तरुणियों को भंयकर भूकम्पों और वैसी ही संहारकारिणी घटनाओं द्वारा पल में स्वाहा कर देता है। मनुष्य का यही करुण अंत है। मानव एक उड़ती हुई छाया है और सुख पहाड़ी पर चमकती हुई डूबते सूर्य की रंगीन किरणें, जो पल भर में ही रजनी के अधियारे में जा छिपती हैं और तत्त्ववेत्ता कहते हैं 'यह ईश्वर के हाथों का खेल है।'

ऐसे में ढाई हजार वर्ष हुए, एक महामानव का अवतार हुआ था। यद्यपि वह एक राजा पैदा हुआ था किन्तु वह दैव न था। उस मानव का नाम अशोक था, संसार का शोक मिटाने वाला। वह देवताओं का प्रिय था, किन्तु वह स्वयं मनुष्यों का कल्याणकर्ता और हितैषी था। अशोक सर्वोपरि मानव था। कलिंग युद्ध की नग्न पैशाचिक क्रूरता ने उनके हृदय को आर्त कर दिया। उनका हृदय कांच की नाई तड़क उठा। हाथों का खड्ग दूर जा गिरा, आंखों में आंसू छलक आये, हृदय में करुणा क्रन्दन करने लगी, सम्राट दुख से व्याकुल हो उठे। युद्ध की करुणा से बढ़कर सम्राट का कारुण्य था। सम्राट की इस विकलता में शाक्यमुनि का कल्याणमय संगीत काम आया। अशोक ने आंखें खोलीं और उस संगीत को मस्तक नवाया। अहिंसा की मंगलमय माला धारण कर सम्राट अब बुद्धदेव के कल्याण पथ पर आरुढ़ हुए। अशोक ने तथागत के मार्ग को अपना लिया। सम्राट का धर्म परिवर्तन विश्व के मानव इतिहास में एक आकस्मिक घटना थी। इसी कलिंग युद्ध के पश्चात् सम्राट का धर्म की ओर उत्तरोत्तर झुकाव बढ़ता गया और कुछ समय उपरान्त वे पूर्ण रूप से धर्म मार्ग के पथिक बन गये।

त्रायोदश शिलालेख लिखता है - 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष कलिंग विजय किया। यहां से डेढ़ लाख आदमी बाहर

ले जाये गये, एक लाख आदमी आहत हुए और इसके कई गुना वे थे, जो मरे। उसके पश्चात जब कलिंग साम्राज्य में मिला लिया गया (अथवा कलिंग विजय हुआ) तब से देवताओं के प्रिय का धर्मांतरण बढ़ा, धर्म के स्नेह की वृद्धि हुई और धर्म का अत्यधिक विस्तार हुआ।

इस कलिंग युद्ध के पश्चात सम्राट का नवीन जन्म हुआ। क्षत्रिय वीर अशोक अब धर्मवीर अशोक थे। हिंसक शस्त्रों की जगह अब उनके हाथों में स्नेह और कल्याण का अमृत-पूरित रजत पात्र था। स्नेह और कल्याण ही अब उनके जीवन का उद्देश्य था। उनके पावन शब्द थे - 'नास्ति हि क्रमतर सत्रलोक हितेन' (मानसेरा) 'सर्वलोक कल्याण से बढ़ कर और कोई कार्य नहीं।' उनकी निजी आकांक्षाएँ और राजकीय कामनाएँ, विश्व-कल्याण और जीवन मंगल की अभिलाषाओं में परिवर्तित हो गयीं। सैनिक 'वीर घोष' अब मंगलकारी 'धर्मघोष' बन गया और शस्त्रों की विजय अब धर्म-विजय में बदल गयी। सम्राट का धर्म घोष था 'मुखमते विजये देवने प्रियस यो धर्मविजयो,' 'देवताओं का प्रिय सब विजयों में धर्म विजय को मुख्य विजय मानता है।' इससे प्रकट होता है कि सम्राट के विचारों में प्रथम परिवर्तन का कारण कलिंग युद्ध की क्रूर भीषणता ही थी। इससे यह भी मालूम होता है कि बौद्ध धर्म सम्राट का मूल (आद्य) धर्म न था। इस बात को दीपवंश और महावंश दोनों स्वीकार करते हैं। महावंश लिखता है, 'ब्राह्मण धर्मी होने से अशोक का पिता (बिन्दुसार) प्रति दिवस 60 हजार ब्राह्मणों को दान दिया करता था। इसी भांति सम्राट अशोक ने भी तीन वर्ष तक दान दिया।' आगे चल कर महावंश फिर लिखता है 'अशोक बड़ा प्रसन्न हुआ और निगरोध को सत्कार के साथ भीतर (महल) बुलवाया। सविनय निगरोध ने भीतर प्रवेश किया। सम्राट ने उससे कहा 'मेरे बच्चे, जो स्थान तुम्हें अच्छा लगे उस पर विराजिए।' किसी अन्य आचार्य को उपस्थित न देखकर निगरोध सिंहासन की ओर बढ़ा। उसे सिंहासन की ओर बढ़ता देख, सम्राट इस प्रकार सोचने लगे, 'यह सुमनरो (सुमन का पुत्र) किसी दिन महल का स्वामी बन बैठेगा।' सम्राट की भुजाओं का अवलम्बन ले वह (निगरोध) सिंहासन पर बैठा। सम्राट अशोक अपने धर्म की उच्चता को विचार और इस भव्य व्यक्ति, जिसने इस प्रकार अपना शासन ग्रहण किया, को निहारते हुए अत्यन्त प्रमुदित हुए। सम्राट ने अपने हिस्से के पानी एवं भोजन से आदर कर उसे आश्वस्त किया। थकान मिटने के पश्चात सम्राट ने सुमनरो से बुद्ध के नियोग सिद्धान्तों पर प्रश्न किया। सुमनरों ने राजा को 'क्षणिकता' का सिद्धान्त समझाया। इसे सुन कर अशोक को बड़ा हर्ष हुआ और उसे तथागत के धर्म पर श्रद्धा हुई। वह (निगरोध सुमनरो) जो सम्राट से सम्मानित हुआ, सम्राट को धर्म के सिद्धान्तों को समझाकर, सम्राट और उनकी प्रजा को उन नियोगों पर स्थापित कर गया। निगरोध का

आख्यान इस प्रकार समाप्त होता है। इसके पश्चात् दिन-दिन दान देने वालों की संख्या को बढ़ाते हुए, अब सम्राट 60 हजार (60000) बौद्ध-भिक्षुओं को दान देने लगे, जैसा कि पहले वे ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हजार ब्राह्मणों को हटा कर अब 60 हजार (60000) बौद्ध भिक्षु महल में आश्रय पाने लगे।¹

इस कथा से प्रकट है कि बौद्ध होने के पूर्व सम्राट ब्राह्मण धर्मी थे। यही कारण था कि सम्राट अपने यहां ब्राह्मण साधुओं को जिमाया करते थे और उन्हें दान देते थे। किन्तु बाद में निगरोध के उपदेश से प्रभावित होकर अशोक ने तथागत के धर्म को ग्रहण कर लिया। महावंश के चतुर्थ प्रकरण में अशोक के बौद्ध धर्म ग्रहण करने के विषय में यह कहानी दी गई है 'एक दिन रात को स्वप्न में राजा (कालाशोक) ने देखा कि उसकी आत्मा लोटोकुम्बिया नरक में ढकेल दी गई है। राजा वड़े व्याकुल हुए। इस संत्रास को मिटाने के लिए उसकी छोटी बहन भिक्षुणी आनन्दी जो बंधनों से मुक्त हो चुकी थी, वायु द्वारा पहुंची और राजा से बोली 'जो काम तुमने किया है, वह बहुत अनर्थकारी है। धर्म के प्रमुख आचार्यों से इसका प्रायश्चित्त कराओ, उनके साथ सहयोग प्रदान कर, सत्य धर्म (बौद्धधर्म) का पक्ष ग्रहण करो। ऐसा करने से तुम्हें शान्ति मिलेगी।' ऐसा कह उसने विदा ली।

प्रातःकाल राजा ने वैशाली को प्रस्थान किया। महावन विहार में पहुंच कर उसने भिक्षुओं को एकत्रित किया और दोनों वर्गों के तर्क-वितर्क की समीक्षा कर उसने सच्चे धर्म (बौद्ध धर्म) का पक्ष ग्रहण किया। बौद्ध धर्म के सब आचार्यों से क्षमा मांग कर उसने धर्म के कार्यों में अपना सहयोग प्रदान करने का वचन दिया।² इससे स्पष्ट है कि सम्राट पहले बौद्ध धर्म के अनुयायी न थे और शायद बौद्ध धर्म के विपरीत कार्य भी किया करते थे, जिस कारण महावंश के अनुसार, आत्मा को नरक में जाना पड़ा।

बहुत से विद्वानों की यह धारणा रही है कि अशोक बौद्ध धर्मी न थे। विल्सन और एडवर्ड थामस की सम्मति में अशोक जैन थे। कल्हण के अनुसार अशोक शैव थे। अशोक को शिव मंदिर 'अशोकेश्वर' का निर्माता भी कहा जाता है। यह मन्दिर कल्हण के समय तक विख्यात रहा। बौद्ध गाथाओं के अनुसार अशोक पहले बौद्ध धर्म के कट्टर विरोधी थे लेकिन बाद में उपगुप्त³ के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

उपरोक्त विवरण से प्रकट है कि अशोक पहले ब्राह्मण धर्मी थे और बाद में बौद्ध हुए। अब प्रश्न उठता है कि वे किस समय बौद्ध हुए तथा क्या वे पूर्णपेण बौद्ध थे अथवा नहीं? इन प्रश्नों को हल करने में अशोक के शिलालेखों से हमें यथेष्ट सहायता मिलती है। इन धर्मलिपियों में अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया

है। जेम्स फ्लीट कहते हैं कि वह धर्म जो शिलालेखों का अविरल विषय है, यथार्थ में बौद्धधर्म नहीं है। इस धर्म को फ्लीट, मानव धर्म जो मानव धर्मशास्त्र (1114) में राज धर्म दिया गया है, बतलाता है। उनका कहना है कि, धर्म की व्याख्या स्वयं अशोक के शब्दों में, दुष्कर्मों से अपनी रक्षा, सुकर्म, दया, दान, सत्य एवं पवित्रता है। अतः इन शिलालेखों एवं स्तम्भ लेखों का तात्पर्य बौद्ध धर्म अथवा किसी अन्य धर्म का प्रचार करना न था। यदि इन लिपियों से अर्थ बौद्धधर्म होता तो बुद्ध (बौद्ध धर्म के प्रवर्तक) का अवश्य इन लेखों में उल्लेख किया जाता। वस्तुतः वह मानव धर्म था, जिसके अनुरूप सम्राट अशोक एक धार्मिक एवं सदाचारी नृप की भाँति धर्मानुशासन का प्रचार तथा प्रसार कर मानवीय सिद्धान्तों पर (जो मानव धर्म में दिये गये हैं) अपनी प्रजा एवं कर्मचारियों को लाना चाहते थे। उन्हें यह प्रदर्शित करना था कि वे प्रजा से जुड़ कर किस अच्छाई के साथ राजकार्य कर सकते हैं। वे मानवों से अलग रह कर एवं उनके हित के परे, कोई कार्य न करना चाहते थे। अतः शिलालेखों और स्तम्भों का यह धर्म बौद्धधर्म न था, अपितु वह राजाओं का सामान्य धर्म था, जो मानव धर्म शास्त्र में दिया गया है। 5वें शिलालेख में धर्ममहामात्रों को देख कर यह निर्धारित नहीं करना चाहिये कि वे बौद्धधर्म के प्रचार कार्य के लिए नियत किये गये थे, वे तो वस्तुतः सब सम्प्रदायों के हित एवं उन्नति के लिए नियुक्त किये गये थे। सम्राट का सातवां स्तम्भ लेख यही प्रकट करता है। 'अभिषिक्त होने के 28वें वर्ष से मेरे धर्म महामात्र अनेक प्रकार के मंगल कार्य (हित करने) में लगे हैं। वे सब सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। वे परिव्राजक साधुओं एवं गृहस्थों के लिए नियत हैं। वे संघ के कार्य (हित) के लिए तथा ब्राह्मण, आजिविक, निर्ग्रन्थ (जैन) और अन्य धर्मों के लिए नियत हैं।' 7वें स्तम्भ लेख के संघ से यह न समझना चाहिए कि चूंकि इसमें संघ का उल्लेख आया है, इसलिए अशोक बौद्ध धर्मी एवं उसके प्रचारक थे। संघ इस स्तम्भ में, ब्राह्मण, जैन तथा अन्य धर्मों के साथ एकरूपता अथवा समानता के साथ प्रयुक्त हुआ है। इस संघ से तात्पर्य किसी भी संघ, जैसे व्यापारी संघ, भिक्षु संघ आदि से हो सकता है। अशोक अभिषिक्त होने के 28वें वर्ष तक बौद्ध न हुए थे, किन्तु वे 30वें वर्ष (अभिषिक्त होने के 30 वें साल) बौद्ध हुए और ढाई साल तक उपासक रहे, तत्पश्चात् अभिषिक्त होने के तैंतीसवें वर्ष के प्रारम्भ में अशोक ने बौद्धसंघ में प्रवेश किया।¹ जेम्स फ्लीट की यह धारणा असंगत विदित होती है। उनकी धारणा सम्राट के बौद्ध धर्म तथा दीक्षा ग्रहण करने की तिथि में बड़ा गतिरोध उत्पन्न करती है। फ्लीट की इन दो धारणाओं की हम क्रमशः विवेचना करने का प्रयत्न करेंगे।

सर्वप्रथम यह देखना है कि शिलालेखों का धर्म बौद्ध धर्म था या नहीं? फ्लीट

की आपत्ति है कि शिलालेखों में उल्लिखित धर्म मानव राजधर्म था क्योंकि उनकी व्याख्या अशोक ने राजधर्म के अनुसार की है, 'अहिंसा (दुष्कर्मों से बचाव), सुकर्म, दया, दान, सत्यता और पवित्रता' परन्तु क्या इसका अभिप्राय यह होना चाहिए कि ये सिद्धान्त बौद्ध धर्मान्तर्गत न थे? सिगालोवाद-सुतांत दुष्कर्म अथवा हिंसा को बड़ा भारी पाप समझता है। दया, दान, सत्यता आदि बौद्ध धर्म के प्रमुख नियोग माने गये हैं।⁵ 'नास्ति हि क्रमतर, सब्रलोक हितेन' (मानसेरा 6वां प्रज्ञापन) ही सम्राट के सम्मुख धर्म अथवा बौद्ध धर्म का प्रमुख सिद्धान्त हैं। सिगालोवाद-सुतांत में हिंसा अथवा प्राणियों का नाश, दुष्कर्मों (काय-क्लेश) में माना गया है। 9वां शिलालेख कहता है, 'धर्म मंगल से वस्तुतः बड़ा लाभ होता है। इस धर्म मंगल में निम्न बातें हैं- दास और नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणों का संयम, प्राणी मात्र पर दया, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान। ये तथा ऐसे ही अन्य मंगल, धर्ममंगल हैं।' सम्राट का इस धर्म मंगल का अन्वय महामंगल जातक (बौद्धग्रंथ) में मिलता है।⁶ शिलालेख के ये भाव महा-मंगलसुत्त (सुत्तनिपात 2,4) से लिये गये हैं।⁷ अतः दान-दया आदि के ये नियोग बौद्धजातक एवं सुत्त से उद्धृत किये गये हैं। अब 12वें शिलालेख को लीजिए : 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है - धर्म दान, धर्म संबंध और धर्म वितरण से बढ़ कर और कोई दान नहीं है। इसमें निम्न विषय हैं दास और भृत्यों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित संबंधी, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं को दान और अहिंसा।' इस 12वें शिलालेख का भाव भी, जैसा सेनार्ट लिखते हैं, 'धम्मपद' श्लोक 254 से लिया गया है। धम्मपद बौद्ध ग्रंथ है। अतः मालूम होना चाहिये कि ये शिक्षाएं सामान्य उपासक के लिए थीं। प्रकट है कि ये सिद्धान्त राजधर्म के सिद्धान्त ही न थे, अपितु जैसा कि हम देख चुके हैं, बौद्ध धर्म के अपने सिद्धान्त थे। सम्राट ने उपासकों, प्रजा एवं गृहस्थों को साधारणतः (सिगालोवाद सुतांत के अनुरूप) सात्विक धर्म की शिक्षाएं दीं, जिससे वे अपने आचार-व्यवहार एवं चरित्र को उज्ज्वल बना सकें। जेम्स फ्लीट इस बात को स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि शिलालेखों का धर्म प्रजा के लिए था, अर्थात् बौद्धधर्म था। उनके अनुसार लेखों के धार्मिक सिद्धान्त राजा तथा राजकर्मचारियों के पथ प्रदर्शन के लिए थे अर्थात् शिलालेखों का धर्म मानव राजधर्म था। यदि यही बात थी तो सातवें स्तम्भ लेख में सम्राट के इस प्रकार 'मुझे यह भास हुआ है कि मैं धर्म आदेशों को निकालूँ तथा धर्म का उपदेश दूँ, इसे श्रवण कर प्रजा धर्माचरण करेगी, अपनी उन्नति करेगी और धर्म मार्ग पर चलती हुई उत्कर्ष को पहुंच पायेगी' उच्चारण करने का क्या तात्पर्य है? अतः स्पष्ट है कि यह धर्म राज-धर्म अर्थात् केवल राजा और कर्मचारियों का ही नहीं अपितु प्रजा का भी है। इसी प्रयोजन हेतु धर्मस्तम्भ प्रजा (उपासकों) के हेतु ऐसे स्थान पर स्थापित करवाये गये, जहां उपासकगण प्रत्येक उपवास के दिन पहुंच कर पढ़ सकें और धर्म पर आचरण

करना जान सकें (गौण शिलालेख, सारनाथ)। अतः शिलालेखों के धार्मिक सिद्धांत यथार्थतः बौद्ध धर्म के चुने हुए सिद्धांत थे, जिन्हें सीख कर सम्राट की उत्कट अभिलाषा थी कि मेरी प्रजा उन्हीं पर आचरण करे अथवा उन्हीं धर्म-नियोगों का अनुसरण करे। सम्राट की यह अभिलाषा, 'मैं प्रजा अनुवर्तु' (कालसी, दूसरा प्रज्ञापन) से सर्वशः व्यक्त हो जाती है।

प्लीट का यह भी कहना है कि धर्म-महामात्रों का विभिन्न सम्प्रदायों के लिए नियत किया जाना इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि वे बौद्धधर्मी न थे और उनकी एकरूपता या समभाव मानव धर्म की परिचायक है। यह सत्य है कि अशोक धर्मोन्मत्त औरंगजेव की तरह स्वार्थनिष्ठ कट्टर धर्मांध न थे तथा उनके निर्मल हृदय में स्वार्थपरायण हृदय की वह ममतापूर्ण कलुषाग्नि न थी जो अन्य धर्मों अथवा सम्प्रदायों को औरंगजेव की तरह भस्मीभूत करने का उपक्रम करती है। उन्होंने धर्म का व्रत लिया था, धर्ममंगल एवं सर्वलोक कल्याण के लिए, न कि विनाश हेतु।

सब धर्मों की अभिवृद्धि को ही महाराज अशोक धर्म का सत्य रूप मानते थे। 12वां प्रज्ञापन लिखता है, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (सम्प्रदायों), चाहे वे गृहस्थ हों, चाहे साधु (सन्यासी), की अनेक प्रकार से पूजा व आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो। धर्म की सारवृद्धि कई प्रकार की होती है, किन्तु इसका मूल वाक-संयम (वाणी का संयम) है, अर्थात् अपने धर्म का आदर और बिना किसी आधार के दूसरे धर्मों का अनादर न करना चाहिये। बिना किसी अर्थ के (उद्देश्य के) ओछापन न दिखलाया जाय।' अतः यदि ऐसी विमल बुद्धि का सम्राट सब धर्मों के लिए धर्म महामात्रों को नियत करे, सबकी भलाई चाहे तो ठीक ही है क्योंकि वे अपने धर्म का उत्कर्ष, अन्य धर्मों का समान आदर एवं उन्नति करने में ही समझते हैं। सम्राट कहते हैं, 'अवसर-अवसर पर अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं। ऐसा करने से अपने धर्म की अभिवृद्धि और दूसरे के धर्म का कल्याण होता है। इसके विपरीत आचरण करने से लोग अपने धर्म का क्षय करते हैं और दूसरे के धर्म को हानि पहुंचाते हैं। जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे के धर्म का अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की भक्ति से ही करता है। क्यों? इसी विचार से कि 'मैं अपने धर्म को उज्ज्वल करूं।' किन्तु ऐसा करने से, इसके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुंचाता है। परस्पर का मेल स्तुत्य है, जिससे लोग एक-दूसरे के धर्म को सुनें और समझें। निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुश्रुत हों तथा सुन्दर सिद्धान्तों के हों। जो लोग जिन-जिन धर्मों में रत हैं, दृढ़ हैं, उन सबसे यह कह दिया जाय कि देवताओं का प्रिय दान तथा वाह्य पूजा को इतना नहीं मानता,

जैसा कि सब धर्मवालों की सार वृद्धि हो और सब धर्म उच्च बनें। इसी उद्देश्य से धर्म महामात्र, स्वीध्यक्ष महामात्र, ब्रजभूमिक तथा दूसरे अधिकारी नियुक्त हैं।'

अतः प्रकट है कि धर्म महामात्र क्यों नियत किये गये थे। यह सम्राट की सार्वलौकिकता एवं सहिष्णुता थी। उनका सहिष्णु मस्तिष्क, विमल आकांक्षाओं एवं सद्भावनाओं से पूरित था। महाराज अशोक सत्य धर्मानुरागी थे। यही हम उनकी समदर्शिता एवं पक्षपातहीनता के प्रति कह सकते हैं। शायद पाश्चात्य धर्म के संकुचित दायरे में इस प्रकार की सहिष्णुता का पाया जाना असम्भव हो। इतिहास बतलाता है कि मार्क्स, आरिलियस एवं कास्टन्टाइन भी, जिनको भूल से अशोक की उपमा दी जाती है, संकुचित धार्मिकता से पृथक् न थे। ईसाइयों के समक्ष यहूदी क्षम्य नहीं थे और कट्टर मुसलमानों के समक्ष काफिर हलाल का बकरा है। सम्भवतः पाश्चात्य होने के कारण ही जेम्स फ्लीट सम्राट की सहिष्णुता और समानता को नहीं समझ सके। वे इस बात को अंगीकृत करने में असमर्थ थे कि बौद्ध होते हुए सम्राट अन्य धर्मों से किस प्रकार उत्तम व्यवहार कर सकते हैं।

अब हमको यह देखना है कि सम्राट ने बौद्ध धर्म कब ग्रहण किया? त्रयोदश शिलालेख के अनुसार, हम पहले ही कह आये हैं कि कलिंग युद्ध के बाद से सम्राट अधिक से अधिक धर्मपथ की ओर अग्रसर होने लगे थे। इसके अनन्तर रुमिनिन्दी शिलालेख से हमें विदित होता है कि अभिषिक्त होने के बीसवें साल में अशोक शाक्यमुनि भगवान बुद्ध के जन्म स्थान लुम्बिनी वन का दर्शन करने गये थे। वहां जाकर अशोक ने उस देव स्थान की पूजा की¹⁸ भगवान के सम्मानार्थ वहां पर शेर अथवा बाघ की प्रतिमूर्ति से अंकित एक शिला बनवाई और यह प्रदर्शित करने के लिए कि तथागत का यहीं जन्म हुआ था, एक स्तम्भ भी स्थापित करवाया। लुम्बिनी गांव पर जो धार्मिक कर था, वह क्षमा कर दिया गया और राजस्व भी घटा दिया गया (अब पैदावार का केवल आठवां भाग इस गांव वालों को देना पड़ता था)। इस विवरण से प्रकट है कि भगवान शाक्य मुनि बुद्ध के प्रति सम्राट की असीम भक्ति एवं श्रद्धा थी। इस भक्ति के फलस्वरूप ही सम्राट ने अपना मस्तक भगवान के कल्याण पद पद्मों पर नत किया। भगवान के कारण गांव वालों पर भी सम्राट ने श्रद्धालुता प्रकट की। क्या यह उनको बौद्ध धर्मी, बुद्ध का अनुरक्त भक्त तथा उपासक प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट नहीं है? यह कदापि नहीं हो सकता कि सम्राट एक पुरातत्ववेत्ता अथवा इतिहासज्ञ के रूप में यहां (लुम्बिनी वन) निरीक्षण कार्य के लिए आये हों, अथवा जेम्स फ्लीट के अनुसार सम्राट अपना राजकीय दौरा करते हुए लुम्बिनी वन को आदर देने गये हों (फ्लीट महायति का अर्थ आदर से लेते हैं, किन्तु वस्तुतः उसका अर्थ पूजा से है)¹⁹। दिव्यावदान के अनुसार जिस समय

सम्राट लुम्बिनी वन गये थे, आचार्य उपगुप्त भी साथ थे। आचार्य उपगुप्त सम्राट के धर्म गुरु माने जाते हैं। दिव्यावदान लिखता है कि जब सम्राट लुम्बिनी वन में पहुंचे तो आचार्य ने सम्राट से विमल शब्दों में इस प्रकार कहा था, 'अस्मिन् महाराज प्रियदसि भगवानो जातः।' अर्थात् 'इसी जगह पर प्रियदर्शी महाराज भगवान (बुद्ध) पैदा हुए थे।' अतः स्पष्ट है कि अशोक धर्म एवं उपासना की भावना से ही लुम्बिनी वन गये थे। फलतः लुम्बिनी वन की यात्रा के समय अथवा अभिषिक्त होने के 20वें वर्ष सम्राट पूर्णतया बौद्ध हो चुके थे।

अब आठवें शिलालेख को लीजिए। यह लेख निम्न शब्दों को उच्चारण करते हुए आरम्भ होता है, 'अतिकृतं अंतलं देवानं प्रिया विहालयातं नाय नखमिसु हिदा मिगविया अंनानि चाहे दिसानि अभिलाभानि हुसु देवानं पिये पियदासि लाजा दसवसाभिसिते संतं निकराभि संवोधि तेनता धमयाता'। 'विगत काल में राजागण विहार यात्रा के लिए निकलते थे। इस विहार यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास होते थे। किन्तु देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के 10वें वर्ष में सम्बोधि की यात्रा की। बुद्धगया की यात्रा की। तब से यह धर्मयात्रा चली।' इस वृत्त से स्पष्ट है कि इस शिलालेख के प्रकाशन के समय ही उन्होंने बुद्ध गया की यात्रा की थी। इस प्रकार अब विहार यात्रा बन्द कर दी गई और उनकी जगह धर्मयात्रा ने ले ली। शिलालेख ने धर्मयात्रा की इस प्रकार व्याख्या की है, 'धर्मयात्रा में ब्राह्मण और श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण का वितरण, प्रजा से मिलाप, उन्हें धर्म की शिक्षा देना और, यदि उचित समझा जाय तो, धर्म पर जिज्ञासा करना आदि होता है।' अतः प्रकट है कि अभिषेक के 10वें साल सम्राट अशोक बौद्ध धर्म के उपासक हो चुके थे। यह समय उनके धर्म सिद्धान्तों के प्रचार का समय है और इसी शिलालेख के प्रकाशन काल में उन्होंने बौद्ध धर्म के तीर्थों की यात्रा भी प्रारम्भ की थी।

गौण शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरि में सम्राट कहते हैं 'देवताओं का प्रिय इस प्रकार आदेश करता है, 'लगभग ढाई साल से मैं उपासक रहा, इस समय मैंने यथेष्ट पराक्रम न दिखलाया, किन्तु निःसन्देह एक साल से ज्यादा हुआ, जब मैंने संघ की यात्रा की। तब से मैंने यथेष्ट उपक्रम किया।' इसके साथ ही त्रयोदश शिलालेख के कथन को भी पढ़िये - 'अभिषिक्त होने के 8वें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंग को जीता। यहां से डेढ़ लाख आदमी बाहर ले जाये गये, एक लाख आहत हुए और उससे कहीं अधिक संख्या में मरे। अब कलिंग के विजित होने पर (होने के पश्चात्) देवताओं के प्रिय ने भली प्रकार धर्म विस्तार, धर्म से स्नेह और धर्म कामना की।' (258 ई.पू.)

इन दोनों शिलालेखों के कथन से हमें क्या मालूम होता है? गौण शिलालेख, ब्रह्मगिरि में सम्राट लिखते हैं कि ढाई साल तक वे उपासक रहे, किन्तु लगभग एक साल से वे अब यथेष्ट रूप से धर्म-कार्य कर रहे हैं। यही भाव त्रयोदश लेख में स्पष्ट किया गया है। इस लेख में सम्राट कहते हैं कि कलिंग विजय करने के अनन्तर उन्होंने खूब धर्म-कार्य किया। अर्थात् अब वे उपासक ही न थे, अपितु धर्म में पूर्ण रत हो चले थे। गौण शिलालेख लिखता है कि ढाई साल तक वे उपासक रहे, उन्होंने इस काल में कोई धर्म-कार्य न किया, किन्तु अब एक साल से ऊपर हुआ, जबसे उन्होंने खूब पराक्रम किया है। इस संदर्भ से प्रकट होता है कि 13वें शिलालेख में जिस पराक्रम का आरम्भ हुआ, उसको ब्रह्मगिरि लेख के प्रकाशन के समय एक साल से अधिक समय व्यतीत हो चुका था तथा इसी समय उन्होंने संघ में भी प्रवेश किया। फलतः गौण शिलालेख ब्रह्मगिरि का प्रकाशन त्रयोदश शिलालेख के करीब दो वर्ष बाद होना चाहिए। अतः ब्रह्मगिरि लेख अभिषिक्त होने के 30वें वर्ष (260 ई.पू.) प्रकाशित हुआ होगा तथा इसी समय उन्होंने संघ की भी यात्रा की थी। फलतः अशोक अभिषिक्त होने के 10वें वर्ष से पूर्णतया बौद्ध हो चले थे, इस समय से उन्होंने संघ की यात्रा भी प्रारम्भ की। संघ में रहने लगे और तन, मन, धन से कर्म के अर्थ पराक्रम करने लगे। अतः सिद्ध है कि अभिषेक के 10 वर्ष से 20 वर्ष पहले ही वे पूर्ण बौद्ध हो चुके थे। तब से अशोक ने इतना धर्म कार्य किया, ऐसा पराक्रम दिखलाया कि सारे जम्बूद्वीप के लोग, जो अब तक देवताओं (धर्म) से परे थे, उनसे संबन्धित हो गये। इसी से सम्राट कहते हैं 'पराक्रम का ही यह परिणाम है' (ब्रह्मगिरि, गौण शिलालेख) तथा वे (अशोक) अब यह कहने में भी समर्थ थे कि 'मैं (अशोक) ने लोगों के बीच धर्म में इस प्रकार उन्नति की, जैसे पहले किसी ने न की थी।'

संघम उपायात या उपायति से क्या तात्पर्य है? मास्की में उपागत दिया है। समीक्षकों ने इसके दो अर्थ लिये हैं। प्रथम संघ में जाकर और द्वितीय 'उपागतो-उपागतनव थियो' वहां जाकर ठहरा, निवास किया। इससे मालूम होता है कि सम्राट ने स्थायी भिक्षु जीवन ग्रहण न किया था। मालूम होता है कि इस समय उन्होंने केवल संघ की यात्रा की थी। इस यात्रा का गाथाओं ने भी उल्लेख किया है। गाथाओं एवं शिलालेखों से विदित होता है कि सम्राट के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएं थीं। एक उपासक के रूप में, जबकि सम्राट ने धर्म के प्रति कुछ कार्य न किया जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, 'ढाई साल से अधिक हुआ कि मैं उपासक रहा, इस समय मैंने कोई पराक्रम न किया (ब्रह्मगिरि)।' दूसरी अवस्था उनके पराक्रम की है, जब उन्होंने धर्म के लिए हर प्रकार से कार्य किया। सम्राट कहते हैं, 'एक

साल से अधिक हुआ, मैंने संघ की यात्रा की। तब से मैंने खूब पराक्रम किया। इस समय जम्बू द्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से अलग थे, देवताओं से मिलाये गये। यह पराक्रम का ही फल है।'

पहली अवस्था में सम्राट ने बहुत कम उपक्रम किया। इसका उल्लेख महावंश भी करता है। महावंश प्रकरण⁵ लिखता है 'अशोक का पिता ब्राह्मण धर्मानुयायी था। वह प्रति दिवस साठ हजार ब्राह्मणों को दान दिया करता था। अशोक ने तीस साल तक इसी प्रकार ब्राह्मणों को दान दिया। इसके अनन्तर इसी समय अशोक निगरोध के प्रभाव से बौद्ध धर्म की ओर बढ़ा। निगरोध ने उसे पराक्रम का सिद्धांत बतलाया। इसके अनन्तर दिन-दिन भिक्षुओं की संख्या को बढ़ाते हुए सम्राट साठ हजार भिक्षुओं (बौद्ध धर्मियों) को दान देने लगे, जैसे कि पहले ब्राह्मणों को दिया करते थे। साठ हजार विद्यार्थियों को निकाल कर उसने अपने प्रसाद में नित्य साठ हजार भिक्षुओं को भोजन प्रदान किया। सम्राट की अभिलाषा थी कि प्रसाद में किसी अवसर पर साठ हजार बौद्ध भिक्षुओं का भली प्रकार आराधन किया जाय। इस हेतु बहुमूल्य भोजन और पेय-पदार्थ तैयार करवा कर सम्राट संघ में गया (गत्वा संघम्), भिक्षुओं को आमंत्रित किया, उन्हें प्रसाद में लिवा लाया, उन्हें जिमाया और उन्हें बहुत प्रकार से दान दिया। इसके पश्चात् उसने इस प्रकार से प्रश्न किया 'स्वर्गीय भगवान् तथागत का क्या सिद्धांत है? इस पर थीरो तिस्य (मांगली का पुत्र) ने राजा को समझाया। यह सुनकर कि धर्म के चौरासी हजार खण्ड हैं, सम्राट ने घोषित किया, मैं प्रत्येक के लिए एक विहार समर्पण करूँगा।' इसी समय अशोक के अभिषेक के चौथे साल यहां धर्मरक्षितों द्वारा अशोक के सहोदर भाई उपराज तिस्य ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। महावंश आगे लिखता है, प्रसिद्ध अग्निब्रह्मा अशोक की पुत्री संघमित्रा का स्वामी और सम्राट का जामाता था। सम्राट के आज्ञानुसार संघमित्रा और उसके पुत्र सुमन ने इसी समय, जिस समय उपराज तिष्य ने धर्मग्रहण किया, बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। यह सब कार्य अशोक के अभिषेक के चौथे साल हुए थे (महावंश प्र.5)।

इस प्रकार गाथाओं से भी अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएं मालूम होती हैं। प्रथम अवस्था में उन्होंने निगरोध से बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और उपासक बने रहे। दूसरी अवस्था वह है जब संघ में जाने पर (संघ गत्वा) वे भली प्रकार धर्म का विस्तार करने लगे। इसी समय उन्होंने विहार स्तूपों का निर्माण कार्य भी किया। महावंश लिखता है, बुद्ध के कारण बहुत प्रकार के दान वितरण से, विभिन्न नगरों में, स्तूपों के सम्मानार्थ अनेक प्रकार के उत्सव नित्य मनाये जाने लगे। इसी धर्म पराक्रम के फलस्वरूप राज्याभिषेक के चतुर्थ वर्ष में अशोक ने अपने पोते और

सुपुत्री संघमित्रा से बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण करवाई। यह अवस्था उनके जीवन की पराक्रम-अवस्था है। किन्तु सम्राट की पहली अवस्था को धर्म के निर्व्यापार अथवा अलसता की अवस्था न समझना चाहिए क्योंकि जब से सम्राट निगरोध के प्रभाव से बौद्ध हुए, तभी से वे धर्म के लिए कार्य करने लगे थे। अतः अशोक के धार्मिक जीवन की दो अवस्थाएं होती हुए भी उनकी कोई भी अवस्था आलस्य अथवा निष्क्रियता की न थी।

उत्तर गाथाओं में अशोक के जीवन की अवस्थाओं का भिन्न प्रकार से वर्णन दिया गया है। दिव्यावदान के अनुसार भिक्षु वालपणादित्य के प्रभाव से अशोक बौद्ध धर्म की ओर अग्रसर हुए। वालपणादित्य को 'समुद्र' भी लिखा गया है। दूसरी अवस्था में उसने उपगुप्त को अपना गुरु बनाया तथा उपगुप्त के साथ बौद्ध तीर्थों की यात्रा की। दिव्यावदान के अनुसार प्रथम अवस्था में ही सम्राट ऋषि, बुद्ध और संघ की शरण ग्रहण कर, धर्म के पराक्रम के लिए बच्चे, घर, स्त्री और ऐश्वर्य आदि का त्याग करने को उद्यत हो चले थे।

संघम उपागत और उपेति या गत्वा का अर्थ बहुत से विद्वानों ने इस अर्थ में लिया है कि सम्राट एक साल तक संघ यात्रा करते रहे। डा० बी.एस. बरुआ के अनुसार संघम उपागत या उपेति (गत्वा) का अर्थ, संघ शरण गत्वा आदि का संक्षिप्त रूप है। भंडारकर के अनुसार इसका अर्थ है कि सम्राट एक साल से अधिक संघ ही में रहे, किन्तु हमारी सम्मति में सम्राट ने इस समय केवल संघ की यात्रा की थी। इस यात्रा का उद्देश्य महावंश के पांचवें प्रकरण में भिक्षुओं को सम्मानपूर्वक प्रासाद में लाना था। एक साल से अधिक संघ-यात्रा करने की तिथि का निर्देश है अर्थात् 260-259 ई.पू. में सम्राट ने यह संघ-यात्रा की थी। अतः एक साल से अधिक 'संघम उपागत' का अर्थ होगा 260-259 ई.पू. में संघ की यात्रा को गया।

अशोक धर्म के कार्यों में कभी निष्क्रिय तो न रहे, लेकिन उनके ज्वलंत धार्मिक जीवन अथवा धर्म पराक्रम का तेज राज्याभिषेक के 10वें वर्ष से ही प्रस्फुटित हुआ, जब वे कहते हैं विगत समय में राजा लोग विहार यात्रा के लिए निकलते थे, इस विहार यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही दूसरे प्रकार के मनोरंजन हुआ करते थे। किन्तु अभिषिक्त होने के दसवें वर्ष देवताओं के प्रिय ने सम्बोधि अथवा बुद्ध गया की यात्रा की, तब से यह धर्मयात्रा प्रारम्भ हुई। इस धर्मयात्रा में ब्राह्मणों और श्रमणों का दर्शन तथा उन्हें दान, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा और यदि उचित समझा जाय तो धर्म विषय पर जिज्ञासा करने पर जोर दिया जाता था। जैसा कि हम पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं कि इसी समय अथवा, 260 ई. पू. के लगभग, उन्होंने संघ की यात्रा की थी तथा यही समय उनके पराक्रम का है।

फलतः 260 ई.पू. से उनका पूर्ण पराक्रम आरम्भ होता है। प्रजा को धर्म-सिद्धान्तों की शिक्षा देना भी इसी समय से प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार धर्म-प्रचार तथा उत्कर्ष के लिए सम्राट ने कुछ उठा न रखा और वे हर प्रकार से धर्म की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न करने लगे। उनके पूर्ण पराक्रम का यही तात्पर्य है। सम्राट के बढ़ते हुए धर्म पराक्रम का महावंश भी उल्लेख करता है- राजा (अशोक) को पृच्छने पर मालूम हुआ कि 'अद्वितीय महाकोला नागराज कवों ने चारबुद्धों के दर्शन किये हैं।' सम्राट ने इस नागराज को लाने के लिए एक सोने की शृंखला भेजी। नागराज के आने पर उसे सम्मानपूर्वक विठलाया गया। उसके ऊपर बहुत से फूल बिखरे गये। 16 हजार महल की दासियां (स्त्रियां) उसे घेरे हुई थीं। तत्पश्चात् राजा ने नागराज से इस प्रकार प्रश्न किया-प्रिय, 'भुझको सिद्धान्त चक्रवर्ती भगवान तथागत के दर्शन दिखलाओ। नागराज ने अपनी शक्ति द्वारा बुद्ध की एक अत्यंत आकर्षक प्रतिकृति प्रकट की। यह मूर्ति पवित्रता एवं यश की आभा से दीप्त थी। इस दृश्य को देख कर राजा आश्चर्यचकित हो उठा। प्रसन्न हो उसने उपहार भेंट किये। राजा ने कहा, इस नागराज से निर्मित मूर्ति ही इतनी भव्य है तो कल्याणमय भगवान का अपना रूप स्वयं कैसा विशाल रहा होगा। यह विचारते हुए उसका हर्ष बढ़ता गया। इसके उपरान्त महान अशोक ने सात दिवस तक उत्सव मनाया। इन सातों दिन बुद्ध की प्रतिकृति के दर्शन कराए गये। यह बात धर्म के आचार्यों, जिन्होंने धर्म की दूसरी महासभा की थी, को मालूम थी कि अशोक अद्वितीय होंगे तथा महान धर्मी होंगे और मोगाली का पुत्र थीरो होगा। यह उपरोक्त घटना, सम्राट के संघ प्रवेश के बाद की है अर्थात् 260 ई.पू. में ही यह घटित हुई थी।

फलतः 260 ई.पू. से ही अशोक पूर्णतया पराक्रम करने लगे। यह सम्राट के धार्मिक जीवन की दूसरी अवस्था है। इस अवस्था में सम्राट का धर्म विकास उत्तरोत्तर बढ़ता गया, वे धर्म के कार्य में पूर्णरूप से रत हुए। इस समय के पश्चात् वे ऐसे ही धर्म कार्य और धर्म यात्रा आदि में अपने दिन बिताने लगे। रुमिनिन्दी स्तम्भ लेख से प्रकट होता है कि अभिषेक के बीसवें वर्ष सम्राट ने एक और यात्रा की थी। इस यात्रा में सम्राट अपने आचार्य उपगुप्त के साथ लुम्बिनी वन गये थे, यह हम पहले ही कह आये हैं। इस लुम्बिनी गांव वालों पर से इसी समय से धर्म-कर भी हटा दिया गया था। इस धर्म-कर के उल्लेख से विदित होता है कि यह लुम्बिनी वन शाक्य मुनि गौतम के जन्मस्थान होने के कारण धार्मिक तीर्थ स्थान हो चला था। तत्कालीन रीति अनुसार इस धार्मिक स्थान पर कुछ धर्म-कर देना पड़ता था, किन्तु अशोक के मतानुसार यह प्रथा आदरणीय न थी। वे यह ठीक न समझते थे कि भगवान का दर्शन पैसे से बेचा जाय, अतः उन्होंने लुम्बिनी वन पर से धार्मिक-कर उठा लिया।

निगलिव स्तम्भ लेख लिखता है, अभिषिक्त होने के चौदहवें वर्ष देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने बुद्ध कोनकामन के स्तूप को दूना बड़ा किया। लुम्बिनी वन की यात्रा सम्राट ने अभिषिक्त होने के बीसवें वर्ष की थी, जब कि बुद्ध कोनकामन की यात्रा चौदहवें वर्ष की, अर्थात् निगलिव के छः वर्ष पश्चात् सम्राट लुम्बिनी गये थे। इस पर कोई पूछ सकता है कि तथागत भगवान शाक्य मुनि के जन्म स्थान की यात्रा इतने वर्ष (6 वर्ष) पश्चात् क्यों की? क्या सम्राट उसे अधिक महत्व का नहीं समझते थे? सम्राट की भगवान के प्रति वही श्रद्धा तथा भक्ति थी, जो गौतम के किसी अनन्य भक्त में हो सकती है, किन्तु इसका कारण आध्यात्मिक है। निगलिव से भी चार वर्ष पहले वे बुद्ध गया की यात्रा कर चुके थे। बुद्ध गया की यात्रा करने में आध्यात्मिक भाव है। शाक्यमुनि गौतम को जो दिव्य ज्ञान की प्राप्ति हुई, वह बुद्ध गया में पीपल वृक्ष के नीचे ही हुई थी और शाक्य मुनि यथार्थ में इसी समय से बुद्ध हुए तथा ईश्वर के अवतार माने जाने लगे। ज्ञान प्राप्ति से पहले वे केवल सिद्धार्थ थे। अतः बुद्ध गया आध्यात्मिक लक्ष्यों के कारण अधिक महत्व का स्थान था। यही कारण था कि सम्राट ने प्रथम बुद्ध भगवान का दर्शन करना ही उचित समझा। तत्पश्चात् उन्होंने गौतम बुद्ध के प्रथम रूप (बौद्ध धर्मानुसार 24 बुद्ध हुए हैं, कोनकामन बुद्ध, गौतम बुद्ध से पहले तीसरे बुद्ध अथवा संख्या में अठारहवें बुद्ध हैं) का दर्शन किया और तदनन्तर सिद्धार्थ के (जिनके पावन अन्तःकरण में भगवान गौतम या बुद्ध का अंकुर धीरे-धीरे विकसित हो रहा था) जन्म स्थान के दर्शन करने लुम्बिनी गये।

निष्कर्षतः सम्राट अशोक अभिषिक्त होने के चौथे या पांचवें वर्ष अथवा 254-5 ई.पू. में बौद्ध हुए थे। दो-ढाई वर्ष तक वे उपासक रहे (258-57) अर्थात् साधारण उपासकों की भांति इस काल में उन्होंने कोई विशेष पराक्रम न किया। गौण शिलालेख ब्रह्मगिरि के अनुसार अभिषिक्त होने के 10वें वर्ष से वे पूर्ण रूप से बौद्ध हुए अर्थात् यह समय उनके पराक्रम का समय प्रकट करता है। इस पराक्रम काल से ही सम्बोधि, निगलिव, रुमिनिन्दी की यात्राएं हुई, संघ-गमन हुआ तथा धर्म का अत्यधिक प्रचार प्रारम्भ हुआ। इस समय से सम्राट का धर्मप्रेम, धर्म कामना तथा विस्तार द्रुत वेग के साथ होने लगा। (त्रयोदश शिलालेख, आठवां शिलालेख, गौण शिलालेख, ब्रह्मगिरि तथा निगलिव स्तम्भ लेख)। सम्राट ने इस समय से इतने उत्साह के साथ पराक्रम किया कि सम्पूर्ण भारत तथा पाश्चात्य देशों तक गौतम की अहिंसा के तार झंकार उठे (त्रयोदश शिलालेख)। अपने पराक्रम पर सम्राट स्वयं चकित थे। इस पराक्रम अथवा धर्म प्रचार का अगले प्रकरण में वर्णन किया जायेगा। इस प्रकरण में हमें केवल यह दिखाना है कि सम्राट बौद्ध थे। नीचे अब उन लेखों का उल्लेख किया जायेगा जो सम्राट के बौद्ध धर्मी होने के प्रमाण रूप हैं।

बौद्ध लेख प्रमाण

भावरू या द्वितीय वैराट आज्ञा पत्र जयपुर स्टेट के उत्तरी भाग में, वैराट की एक पहाड़ी पर स्थित विहार में पाया गया है। यह लेख संघ को प्रेषित राजाज्ञा के रूप में दिखाया गया है। मगध संघ को संबोधित करते हुए सम्राट कहते हैं, 'भद्रगण, आप लोगों को विदित है कि बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति मेरी कितनी श्रद्धा और प्रीति है। प्रत्येक बातें, भद्रगण, जो महाभाग बुद्ध के मुख से उच्चारित हुई है, वे सब अक्षरशः सत्य और सुन्दर हैं। निःसन्देह, भद्रगण, जहां तक मैं अनागत का निरूपण कर सकता हूं, मुझे विश्वास रखना चाहिए कि सत्य धर्म चिरस्थापित होगा।'

इस आज्ञा पत्र में कुछ बौद्ध ग्रंथों के नाम भी दिये गये हैं। इन बौद्ध पुस्तकों का नित्य अध्ययन करने के लिए सम्राट भिक्षु तथा भिक्षुणियों को आज्ञा देते हैं। सम्राट की अभिलाषा है कि इन धार्मिक ग्रंथों का गहनता से अध्ययन कर भिक्षु और भिक्षुणी उन्हें कंठाग्र कर लें तथा साधारण लोग और उपासक भी उनका अध्ययन करें, जिससे धर्म की उन्नति हो। सम्राट की निर्देश की हुई पुस्तकें इस प्रकार हैं-¹¹

1. विनय सामुकी
2. आर्यवंश
3. अनागत भयानि
4. मुनि गाथा मुनि सुत्त
5. नालक सुत्त
6. रथ विनीत सुत्त
7. लाहुलोवाद - राहुलवाद सुत्त

प्रथम पुस्तक विनय सामुकी को ए.जी. एडमण्ड्स ने समुक्का मिसिक धम्म देसना के साथ मिलाया है। इसमें उन चार सत्य सिद्धान्तों की व्याख्या की गई है, जिनको भगवान गौतम ने सर्वप्रथम सारनाथ में अपने शिष्यों को बतलाया था। सम्भव है इसी विचार से सम्राट ने भिक्षु- भिक्षुणियों को उन्हें पढ़ने का निर्देश दिया।¹²

'धर्म के इन प्रकरणों का, भद्र गण मेरी अभिलाषा है कि भद्र भिक्षु तथा भिक्षुणियाँ अत्यधिक संख्या में श्रवण करें और मनन करें। इसी प्रकार साधारण उपासक वर्ग, स्त्री और पुरुष सभी जन उनका अध्ययन और श्रवण करें। भद्रगण, इसी कारण से मैं इसे लिख रहा हूं कि लोग मेरी अभिलाषा को समझें।'

एस.एन.मित्रा ने उक्त पुस्तक को मज्झिम से¹³ समीकृत किया है। डाक्टर

वरुआ इसे सिंगालोवाद सुतान्त से मिलाते हैं। उनका कहना है कि बुद्ध घोष की समीक्षा के अनुसार यह पुस्तक गृहस्थों के लिए है, जहां इसके लिए 'गहीविनय' कहा गया है। गृहस्थों के अलावा इस पुस्तक का भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए भी निर्देश किया गया है। सुतांत में अरियासात विनय अर्थात् विनय समुक्कसा का भी उल्लेख है।¹⁴ भण्डारकर ने विनय सामुकी को तुभाटक सुत्त से मिलाया है। बुद्ध घोष ने विशुद्ध मग्ग में एक सुन्दर सी कहानी दी है, जिसमें एक भिक्षु ने तीन महीने तक अपनी मां के घर में भोजन किया, किन्तु यह कभी प्रकट न होने दिया कि 'मैं तुम्हारा लड़का हूं, और तुम मेरी मां हो।' कथा का अभिप्राय यही है कि एक निर्व्याज शुद्धमति भिक्षु के लिए माता-पिता का स्नेह, मोह अथवा ममता कोई अड़चन अथवा बंधन की वस्तु नहीं होती। इस आशय का उपदेश भगवान गौतम ने रथाविनीत सुत्त, नालक सुत्त, तुभाटक सुत्त और महाअरिया वंश में किया है। इन्हीं चार सुत्तों में तुभाटक सुत्त को भण्डारकर ने विनय सामुकी से समीकृत किया है। इस प्रकार विनय सामुकी पर बहुत से मत हैं। अतः यह सर्वथा निर्धारित नहीं किया जा सकता कि किसकी सम्मति अधिक उपयुक्त है। हमारी सम्मति में डा० वरुआ और डा० भण्डारकर के मत औरों से संतोषजनक मालूम पड़ते हैं। इन दोनों से भी अधिक ग्रहणीय वरुआ का मत विदित होता है।

पूर्व निर्दिष्ट बौद्ध धार्मिक ग्रंथों का दूसरा नाम धर्म परियाय भी है। सुत्त, जिनमें भगवान ने उपदेश दिये हैं, बहुत से हैं, किन्तु उनमें से प्रमुख चार ही हैं। रथाविनीत सुत्त, नालक सुत्त, तुभाटक सुत्त और महाअरिय वंश। बहुत से विद्वानों की धारणा है कि सम्राट अशोक के उल्लेखित, अलियावंशानि, मोनिया सुत्त और उपत्तिष पाषिनी, ये तीनों महाअरियवंश, नालक सुत्त और रथ विनीत के सानुरूप हैं। उपरोक्त धार्मिक ग्रंथों अथवा धर्म परियायों का एक दूसरे से मिलाया जाना इस बात का प्रमाण है कि सम्राट अशोक के समय एक पुस्तक कम से कम दो नामों से प्रचलित थी। अलिया वंशानि का दूसरा नाम महा अरियावंश, मोनिय सुत्त का नालक सुत्त और उपत्तिष पाषिनी का रथ विनीत आदि था।

एक विषय यहां और विचारणीय है कि सम्राट ने धर्म परियायों के साथ बौद्ध त्रिपिटकों का नाम नहीं दिया है। इस कारण बहुत से विद्वदगण यह सोच सकते हैं कि उस समय त्रिपिटक वर्तमान न थे। किन्तु यह धारणा सत्य से दूरस्थ ही नहीं, अपितु सर्वथा मिथ्या कल्पना होगी। सम्राट का आशय, यहां पर कुछ चुने हुए ग्रंथों का भिक्षु-भिक्षुणी तथा साधारण लोगों में प्रचार करना था। सम्भवतः सम्राट को उपरोक्त पुस्तकें अधिक पसन्द भी थीं। हम ऊपर कह भी आये हैं कि वे सुत्त, जिनमें भगवान ने उपदेश दिया है, बहुत से हैं, किन्तु प्रमुख चार ही हैं - रथ विनीत, तुभाटक, नालक और महाअरिय वंश। जैसा कि पूर्व निर्दिष्ट हुआ है, इन्हीं

चार को सम्राट ने भी भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भावरू लेख में पढ़ने का आदेश दिया है। अतः इन्हें छांटने का आशय प्रत्यक्ष सिद्ध है कि ये ग्रंथ सर्वसुन्दर, सरल एवं सर्वोपयोगी थे। कह सकते हैं कि सम्राट धर्म के सारभूत सिद्धांतों के परम उपासक और अनन्य भक्त थे, पर बौद्ध धर्म के आध्यात्मिक पक्ष एवं विधि पद्धति की ओर उनका झुकाव कम न था।¹⁵ सम्राट ने जहां कहीं भी धर्म, धर्म-दान, धर्म-वितरण, धर्म-मंगल, धर्म-अनुराग, धर्म-यात्रा आदि का उल्लेख किया है, उन सब स्थलों पर उनका अभिप्राय सिद्धांतों के प्रचार से रहा है, उनके विभिन्न प्रकार के धर्म अथवा कर्म से तात्पर्य केवल माता-पिता की सेवा, दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, सर्वमंगल, सर्व कल्याण कामना, मित्र-परिचितों की सेवा, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं आदि को दान, दया, धर्म आदि भावों से हैं। सम्राट के दृष्टिकोण से यही सत्य धर्म है और ये भाव केवल सिद्धान्त मात्र हैं। फलतः सम्राट द्वारा निर्दिष्ट पुस्तकें उनके भावों के ही अनुकूल हैं।

परीक्षण के लिए अरियावंश को ही लीजिए। इस पुस्तक (धर्म परियाय) में भिक्षुओं के लिए चार प्रकार के आचरणों का निर्देश किया गया है। प्रथम, भिक्षुओं को साधारण वस्त्र ग्रहण करना चाहिये (अर्थात् उन्हें दिखावे और शौक से अलग रहना चाहिये), द्वितीय, उन्हें सात्विक भोजन ग्रहण करना चाहिए (मनः शुद्धि एवं सात्विक वृत्तियों के उत्कर्ष हेतु साधारण शुद्ध और विमल भोजन शास्त्रों में परम आवश्यक माना गया है) तृतीय, विनम्रता (विनम्रता सर्वसुन्दर लक्षण माना गया है। नम्रता का सभी शास्त्रों तथा आचरण-आचार्यों ने अभिनन्दन किया है) और अन्तिम, अर्थात् चतुर्थ लक्षण आत्मा की एकाग्रता बतलायी है। अर्थात् मन को वश में रखकर एकचित्त हो भगवान का ध्यान करना (जब तक मन वश में न हो, चित्त में एकाग्रता न हो, विश्व बंधनों से मुक्ति पाना सर्वथा असाध्य है)। इस पुस्तक का अभिप्राय भिक्षुओं के चरित्र का इन सद्-सिद्धांतों पर निर्माण करना है। मुनिगाथा तथा मोनिय सुत्त में भी ऐसे ही सुन्दर नियोगों का उपदेश दिया गया है। अतः प्रकट है कि सम्राट ने किसी ऐसी पुस्तक का उल्लेख नहीं किया है जो केवल धर्म के बाह्य अथवा आध्यात्मिक पक्ष से संबंध रखती हो। उन्होंने उन्हीं धर्म परियायों के अध्ययन पर जोर दिया है जो एक भिक्षु के जीवन को शुद्ध, सात्विक और पूर्णतया मानवीय बनाने में समर्थ हों। सम्राट बाह्य दिखलावे को कदापि अच्छा न समझते थे। उनका सिद्धांत था - 'किरतिम देव न पूजिए, ठेस लगे फुटि जाय। कहै मलूक सुभ आला चारों युग ठहराय।'¹⁶

आजकल के धर्म भक्तों, उपासकों और पुजारियों के विपरीत सम्राट बाहरी आडम्बर के विरोधी थे। वे आजकल के पण्डों की तरह, धर्मान्ध भक्तों की तरह, धर्म तथा देवताओं को ठगना अच्छा न समझते थे। यह भाव निम्न पंक्तियों में सर्वथा अंकित है - 'लाड़ू, लावण, लापसी, पूजा चढै अपार। पूजि पुजारा ले गया,

मुरति के मुख छार।' बाह्य आडम्बर से परे सम्राट अपने मनोभावों एवं चारित्रिक सिद्धांतों के अनन्य भक्त थे। वे इस विषय को समझने में असमर्थ थे कि मनुष्य बिना अन्तःकरण की शुद्धि एवं उज्ज्वल चरित्र के कैसे भगवान को प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष सुकृत करना ही देवताओं की उपासना करना था। सर्व कल्याण करना धर्मपक्ष था। सम्राट उन्हीं कर्मों एवं सुकृतों को पूज्य समझते थे, जिससे प्राणी-मात्र का कल्याण हो। बहुत से देश, जाति, समाज और सद्भावों के विरोधी, मूर्ति अथवा देवताओं के उपासकों को वे नीची निगाह से देखते थे। सम्राट के सम्मुख, चाणक्य के अनुसार, भावों अथवा सिद्धांतों की उपासना ही प्रमुख उपासना थी, 'न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न च मृण्मये। देवो हि विद्यते भावे तस्मात् भावो ही कारणम्।' (भाग 7 पृ.12) स्वयं परमात्मा उन राजकीय उपासकों का, जिनका जीवन अत्याचार तथा गरीबों एवं प्राणीमात्र को दुख देने में बीता है, कभी स्वागत नहीं करते। उनकी पूजा की भगवान अवहेलना एवं तिरस्कार करते हैं क्योंकि वह सद्भावना तथा कल्याण कामना से अछूती एवं स्वार्थपूर्ण है। कोई राजा अथवा धनाढ्य या सांसारिक बड़े मनुष्य कहलाने के लिए दान अथवा उपासना करते हैं, क्यों? इसीलिए कि उन्हें दूसरे जन्म में भी इसी प्रकार ऐश्वर्य भोगने को मिलेगा तथा गरीबों को उत्पीड़ित करने एवं उनके आहार को भी हड़प करने की शक्ति मिलेगी। यही कारण था कि भगवान श्रीकृष्ण दुर्योधन के षट्स भोजन और राजकीय व्यंजनों को टुकरा कर, आहार के लिए विदुर की विनीत कुटी में रुके। इसी कारण गद्गद् हो कबीर गाते हैं-

राजन कौन तुमारे आनै

ऐसो भाव विदुर को देख्यो, बहु गरीब मोहि भावै

हासी देख भरम ते भूला, हरि भगवान न जाना।।

(कबीर ग्रंथावली)

इसी प्रकार सम्राट भी कहते हैं कि राजकीय एवं विशिष्ट अथवा धनाढ्य कहलाने वाले लोगों और गरीब लोगों में से, गरीब लोग ही धर्म पराक्रम कर सकते हैं। (नवाँप्रज्ञापन चतुर्दश शिलालेख, कालसी)।

कबीर के शब्दों में सम्राट का पावन सिद्धान्त था - 'साधो एक आप जगमाँही, दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दर्पण में छाँहीं।' सम्राट को यह प्रिय न था कि 'कर में तो माला फिरें जीभ फिरे मुख माँही।' उनके मत में मन, वचन और कर्म से शुद्ध, सात्विक और चारित्रिक होना ही धार्मिक होना एवं परमात्मा का अनन्य भक्त और उपासक होना था। उनकी उपासना प्राणीमात्र (जीवमात्र) की उपासना थी। विश्व कल्याण उनका इष्ट था और आत्मिक शुद्धता ही तपस्या एवं धर्म-कर्म था।

इस प्रकार सम्राट प्रथमतः मनः शुद्धता एवं आत्मा का विकास चाहते थे। भिक्षु-भिक्षुणियों के अलावा साधारण जनता के लिए भी वे इन्हीं बातों के अभिलाषी थे। इसलिए सम्राट ने कहा था 'इन धर्म परियायों का अध्ययन और श्रवण भिक्षु तथा भिक्षुणी ही नहीं अपितु साधारण उपासक, पुरुष और स्त्री भी करें।' (भावसू वैराट शिलालेख नं 2)

दूसरा सुत्त जिसका सम्राट ने निर्देश किया था, वह अनागत भयानि है। इसमें अनागत न आगत, अर्थात् न आने वाले भावी भय और संताप का उल्लेख किया गया है। इन भय व दुखों से तात्पर्य उन बाधाओं और संतापों से है जो धर्म कार्य एवं सुकृतों के मार्ग में बाधा स्वरूप उपस्थित हो आते हैं। इन भय और बाधाओं से वे ही डरते हैं, जिनका हृदय शक्तिहीन हो, परन्तु जिनका हृदय दृढ़ है और मन वश में है, वे ऐसी सहस्रों बाधाओं को धूल सा ठुकरा देते हैं। ध्रुव जिस समय तपस्या करते थे तो ऐसी ही अनेक व्यथा, बाधाएँ एवं भय उनके सुकर्म में विघ्न डालने का प्रयत्न किया करते थे। किन्तु ध्रुव का हृदय दृढ़ था। उनका मन, इन्द्रिय और वासना पर पूर्ण आधिपत्य था तथा उनकी स्थिति एवं एकाग्रता अटल थी, अतः सब विघ्न निरुपाय होकर उनके सामने रह गये। अतः अनागत भयानि के अध्ययन करने से यही तात्पर्य था कि भिक्षुगण अपने मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर आधित्य रखें, हृदय को दृढ़ीकृत करें, जिससे सुकर्म करते हुए धर्म पथ पर विघ्न स्वरूप आ पड़ने वाली घटनाओं का उन पर कोई प्रभाव न हो सके। मनुष्य आध्यात्मिक पथ पर मन, इन्द्रिय और हृदय की स्थिरता से ही आगे पांव बढ़ा सकता है। इस सुत्त में आने वाले सभी प्रकार के विघ्नों का विवरण दिया गया है, जिसका आशय धर्म-मार्ग का अनुसरण करने वाले को अनागत भयों (अनागत भयानि) से सचेत करना है।

मन, इन्द्रिय, वासना आदि को अधिकृत करने के लिए सम्राट ने एक और पुस्तक राहुलोवाद के अध्ययन का आदेश दिया है। राहुलोवाद-सुत्त में भगवान गौतम ने आम्रपाली (अम्बालतिक) को मन तथा वासना पर निग्रह करने का उपदेश दिया है। कहते हैं, आम्रपाली भगवान पर आसक्त थी। इसी आसक्ति के कारण उसका मन विचलित था और वह वासनायुक्त हो चली थी। इस प्रकार सर्वलोक हित, मानव चरित्र की उज्ज्वलता, विशिष्टता और दृढ़ता के हेतु ही सम्राट ने उपरोक्त पुस्तकों का अध्ययन सबके लिए उत्तम बतलाया है।

अशोक के प्रति दूसरा बौद्ध लेख प्रमाण सारनाथ स्तम्भ है। इसमें सम्राट ने यह अनुशासन दिया है- 'संघ का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता। जो कोई भिक्षु अथवा भिक्षुणी संघ को तोड़े, उसे सफेद वस्त्र पहिनाएँ जायेंगे। उसे विहार से अलग

किसी दूसरे स्थान पर रहना पड़ेगा। यह अनुशासन संघ में भिक्षु और भिक्षुणियों को सुना दिया है।' संघ के लिए इस प्रकार नियम बनाना सम्राट के पूर्ण बौद्ध होने का प्रमाण है। सम्राट को बौद्ध संघ का अत्यधिक विचार था। उनके समय में तथा उससे पहले ही बौद्ध संघ में विभिन्न मतों का प्रचार आरम्भ हो चुका था। ये मत मतांतर संघ की एकता के लिए घातक थे। सम्भवतः इसी कारण सम्राट को सारनाथ स्तम्भ लेख प्रेषित करना पड़ा था।

तीसरा बौद्ध लेख प्रमाण साँची स्तम्भ है। यह लेख इस प्रकार कहता है - 'जब तक मेरे पुत्र और प्रपौत्र शासन करें, जब तक चन्द्र और सूर्य तपें, तब तक भिक्षु और भिक्षुणियों का संघ संयुक्त रहेगा। भिक्षु अथवा भिक्षुणी जो कोई संघ विभेद करे, उसे सफेद वस्त्र पहिनाये जाएंगे तथा उसे विहार से अलग रहना होगा। मेरी अभिलाषा क्या है? कि संघ संयुक्त तथा चिरंजीवी हो। इसी भांति कौसाम्बी स्तम्भ लेख कहता है¹⁷ कि जो भिक्षु और भिक्षुणी संघ को तोड़े, उन्हें सफेद वस्त्र पहिनाने के पश्चात् विहार से अलग स्थान ढूँढना होगा।

ये धर्मानुशासन महामात्रों द्वारा संघ को भेजे गये थे, जिससे भिक्षु और भिक्षुणी इस बात को समझें और संघ के विरुद्ध कोई कार्य न करें। इन धर्मानुशासनों से सम्राट का बौद्ध धर्म के प्रति अत्यधिक प्रेम और श्री कामना सर्वशः प्रकट होती है। सम्राट बौद्ध संघ के प्रति अत्यंत श्रद्धावान थे। उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि बौद्ध धर्म व संघ चिरजीवी हो, उसके भीतर विभिन्न मत-मतान्तरों के वाद-विवाद उपरिस्थ न हों, हर प्रकार उसकी श्री वृद्धि हो और संघ की महिमा अटल रहे। अतः जिस मौर्य सम्राट की संघ अथवा बौद्ध धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा और कल्याण भावना थी, उसके अनन्य बौद्ध धर्मावलम्बी होने में कोई संदेह अथवा भ्रम करना भूल है।

सारनाथ स्तम्भ लेख में सम्राट ने यह भी निर्देश किया था कि भिक्षु और भिक्षुणियों के अनुशासन वाले लेख की एक प्रति विहार में गाड़ी जाय तथा दूसरी ऐसी ही प्रति उपासकों (साधारण लोगों) के लिए स्थापित की जाय, जिससे उपासक लोग, प्रति उपवास के अवसर पर, इस लेख को पढ़ सकें। प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र भी इस लेख को पढ़ें और उसे पूर्णतः समझने का यत्न करें तथा महामात्र भी अपने अधीनस्थ प्रान्तों में प्रत्येक जगह इसी प्रकार का आदेश भेजें। इसी तरह और जगहों को भी अनुशासन भेजे जाँय।

सारनाथ स्तम्भ लेख के इस अन्तिम आदेश से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट संघ के ऐक्य के रक्षणार्थ कितने व्यग्र रहते थे। संघ के एकीकरण हेतु ही ये अनुशासन प्रेषित किये गये कि संघ तोड़ने वाले भिक्षु अथवा भिक्षुणियों को सफेद वस्त्र पहना कर विहार से निकाल दिया जायेगा। सफेद वस्त्र पहिनने का तात्पर्य यही है कि

अमुक भिक्षु या भिक्षुणी, जिसने संघ भेद किया, धर्म का विरोधी है। भिक्षुओं की धार्मिक पोशाक पीली मानी जाती है, अतः अधर्मी भिक्षुओं, संघ भेद करने वाले भिक्षुओं की धार्मिक पोशाक पहिनने का अधिकार न था। अधर्मी भिक्षुओं को सफेद वस्त्र ग्रहण करने पर विहार में भी नहीं रहने दिया जाता था। ऐसा करने से संघ की बहुत कुछ रक्षा होनी सम्भव थी क्योंकि किसी भी उद्दण्ड भिक्षु या भिक्षुणी को उसके पद छीने जाने तथा विहार से बहिष्कृत किये जाने का डर, उसे संघ विभेद करने से रोक सकता था। यदि फिर भी नियमों का उल्लंघन कर कोई भिक्षु विहार से निकल जाय और साधारण जनता में अपने नवीन मत का प्रचार करने लगे, तो किस प्रकार संघ भेद की रक्षा की जायेगी? इसी विषय का विचार सम्राट ने महामात्रों को 'संघ के नियमों वाले लेख' की एक-एक प्रति प्रत्येक जगह कोट, नगर, जिले और साधारण वर्ग के लिए भी स्थापित करने का अनुशासन किया था ताकि जनता और उपासक सम्राट के नियमों का ध्यान रख सकें। भंडारकर के मतानुसार साधारण जनता के लिए प्रेषित शासनपत्र निगम सभा में स्तम्भों पर लगा दिया जाता था।¹⁸ इस लेख में आये हुए महामात्र निःसन्देह धर्म महामात्र ही थे, जिनका कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल, सहिष्णुता एवं स्नेह-संबंध स्थापित करना था। अर्थात् वे पूर्वनिर्दिष्ट धर्म महामात्र ही थे। अतः इन्हीं धर्म महामात्रों को संघ के एकीकरण, ऐक्य एवं भेद से रक्षण करने का गुरुतर भार भी सौंपा गया था।

यहां पर एक और विचारणीय प्रश्न उठता है कि क्या सम्राट के समय बौद्ध संघ में भेद होने लगा था? इस प्रश्न का उत्तर हां में ही दिया जा सकता है। नहीं तो सम्राट में संघ भेद के रक्षार्थ आज्ञाएँ क्यों प्रेषित कीं? अतः इन आज्ञाओं का प्रेषित होना निष्प्रयोजन नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे इस बात के प्रमाणरूप हैं कि सम्राट के समय कुछ मतभेद अवश्य उत्पन्न हो गये थे और इन्हीं को रोकने का सम्राट पूर्णतया प्रयास कर रहे थे। बुद्ध के निर्वाणकाल के कुछ काल उपरांत ही संघ में मतभेद आरम्भ हो चुका था और अशोक के समय तक, सिंहल गाथाओं के अनुसार, निश्चित रूप से संघ में दो भेद हो चुके थे, प्रथम धीरवाद और द्वितीय महासंधिका। इन दो भेदों को मिटाने के लिए पाटलिपुत्र में एक सभा भी हुई थी। इस सभा के सभापति स्वयं सम्राट अशोक थे। संघ-भेद उत्तरोत्तर बढ़ता ही जा रहा था। इन मतभेदों को सम्राट संघ-नाशक एवं धर्म की अस्थिरता के सूचक समझते थे। अतः इन भेदों का विनाश उनकी सम्मति में संघ एवं धर्म के हेतु अभीष्ट था और इसी के अनुरूप सम्राट ने कार्य भी किया, जैसा कि सारनाथ, सांची तथा कौसाम्बी स्तम्भ लेखों से सर्वथा स्पष्ट है। संघ ऐक्य, एवं मतभेद अथवा संघ भेद के निवारण के इस कार्य में सम्राट यथेष्टया सफल हुए। उनके पराक्रम के फलस्वरूप संघ का मतभेद बहुत कुछ जाता रहा और वह पुनः संघटित हो चला

क्योंकि अशोक के शासन काल में हुई दूसरी बौद्ध सभा के समय संघ पुनः संघटित हो गया था। यद्यपि उक्त सभा के समय भी कुछ भिक्षुओं ने आचार के दस सिद्धान्तों पर तर्क उठा कर संघ में भेद डालने का उपक्रम अवश्य किया था किन्तु ये भिक्षु वाद-विवाद द्वारा हरा दिये गये और फलतः संघ टूटने से बच गया। इस संदर्भ से यह अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि सम्राट के समय उनके पराक्रम द्वारा संघ पुनः संघटित हो चला था, किन्तु मतभेद होने का भय उनके मस्तिष्क को अक्रान्त किये ही रहा और इसी कारण उन्हें आज्ञाएं प्रकाशित करनी पड़ीं, जिससे आने वाले दुस्तर मतभेदों से संघ की रक्षा हो सके।

इस स्थल पर कोई यह प्रश्न भी उठा सकता है कि सम्राट अशोक के समय बौद्ध संघ कई विभागों में बंटा हुआ था तथा संघ से यहां पर अशोक का केवल उस संघ से तात्पर्य है जिस (संघ) से वे स्वयं सम्बंधित थे। किन्तु यह प्रश्न निरर्थक है क्योंकि जो अशोक, ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों के परस्पर मेल-जोल के अभिलाषी थे, वे ही अशोक पूरे बौद्ध धर्म को छोड़ कर कैसे उसकी एक शाखा का पक्षपात कर सकते थे? अतः सम्राट का संघ से तात्पर्य उसी संघ से न था, जिससे वे संबधित थे, अपितु पूर्ण बौद्ध संघ से था, जिसकी रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए वे जीवनपर्यन्त उद्योग करते रहे।

बौद्ध-धर्म की तीसरी महासभा

बौद्धधर्म की तीन महासभाएं हुई हैं। पहली सभा पाटलिपुत्र में हुई थी। इस सभा का अधिपति महाकस्सव था। दूसरी सभा वैशाली में हुई थी। इस सभा के अध्यक्ष स्वयं सम्राट अशोक थे। तीसरी महासभा भी सम्राट की अध्यक्षता में हुई थी। इसका कुछ निर्देश भावरू लेख में भी दिया गया है। यह महासभा संघ में उठते हुए भेदों को मिटाने के लिए हुई थी। इस समय संघ में कई मतभेद हो गये थे और बुद्ध की शिक्षाओं का लोग विभिन्न अर्थ करने लगे थे। किन्तु इस महासभा ने बौद्ध धर्म में उठते हुए मतभेदों का नाश कर उसे पुनः सुसंघटित कर दिया। इस संघटन के फलस्वरूप बौद्धधर्म में नवीन जीवन का संचार हुआ और वह नूतन स्फूर्ति के साथ बढ़ने लगा। धीर-धीरे उसकी छाया विश्वव्यापी हो चली और सारा विश्व गौतम के चरणों का अभिनन्दन करने लगा।

महावंश इस तृतीय महासभा का निम्न उल्लेख देता है- 'सम्राट अशोक ने बौद्ध भिक्षुओं को बुलाने के लिए दो पक्षों को भेजा। ये दोनों पक्ष सात दिन के भीतर जम्बूद्वीप के समस्त भिक्षुओं को लिवा लाये। सातवें दिन अशोक अपने बनाये हुए विशाल मन्दिर (अशोकाराम) में गये और सब भिक्षुओं का वहां एकत्र होने का आदेश दिया। अशोक स्वयं अपने गुरु धीरो तिस्स (उपगुप्त) सहित सभा-मण्डप में

आकर विराजे। इसके पश्चात् उन्होंने मिथ्यावादी भिक्षुओं को अपने पास बुला कर प्रश्न किया—कल्याण रूप भगवान बुद्ध का क्या धर्म था? प्रत्येक भिक्षु ने अपने धर्माविचार के अनुसार बुद्ध के धर्म की व्याख्या अथवा समीक्षा की। सम्राट ने उन सब मिथ्यावादी भिक्षुओं को संघ से निकाल दिया। वहिष्कृत हुए भिक्षुओं की संख्या साठ हजार थी। इसके अनन्तर सम्राट ने धर्मनिष्ठ भिक्षुओं से पूछा 'कल्याणमय भगवान का सिद्धांत क्या था?' उन्होंने उत्तर दिया — 'सत्यता'। सम्राट ने तब थीरो से पूछा— 'आचार्य क्या बुद्ध स्वयं विभज्जवादी धर्म के थे? थीरो ने उत्तर दिया, हां! सम्राट यह सुनकर अत्यंत हर्षित हो उठे। सम्राट ने कहा, पाप-भिक्षु निकाल दिये गये और संघ विमलीकृत हुआ। अब पुनः उपोसथो मनाया जा सकता है।' थीरो से यह उच्चारण करने के पश्चात् तथा भिक्षुओं को राजकीय रक्षण प्रदान कर अभिनन्दनीय सम्राट राजनगरी में पहुंचे। संघ में फिर से ऐक्य स्थापित हो गया और उपोसथो मनाया गया।

थीरो ने असंख्य भिक्षुओं में एक हजार पवित्र चारित्रिक भिक्षुओं को, जो पूर्ण धार्मिक थे तथा जिन्हें त्रिपिटकों का पूर्ण ज्ञान था, सभा के लिए चुना। इनके द्वारा धर्म की महासभा हुई। इसके अध्यक्ष थीरो तिस्र थे। यह धर्म सभा उसी भांति हुई जैसी महाकस्सय और आचार्य अरसी के समय में हुई थी। इस सभा में आचार्य तिस्र ने अपने विचारों का प्रचार किया। फलतः सब विवाद और भ्रांतियों का निवारण हो गया। इस प्रकार अशोक की अध्यक्षता (रक्षा) में यह धर्म सभा नवें मास समाप्त हुई।

अन्ततः थीरो तिस्र का कथावत्थु नामक ग्रंथ प्रमाण रूप में सबने अंगीकृत किया। इस प्रकार सम्राट के शासन काल के सत्रहवें वर्ष में धर्म की यह महासभा 72 वर्ष के बूढ़े आचार्य की अध्यक्षता में निपुणता के साथ सम्पन्न हुई। 'धर्म की पुनः स्थापना के फलस्वरूप सभा विसर्जन होते ही विशाल पृथ्वी कांपती हुई बोली 'साधु'।' (महावंश, प्रकरण पाँचवाँ, पृष्ठ 46, टरनर)।

अध्याय-5

बौद्ध अशोक

जिस विश्व विजयी मौर्य साम्राज्य की अरुण पताका ने, सम्पूर्ण भारत को आक्रान्त करते हुए, अपने वीर घोष से विदेशियों यथा यवन जातियों को भी प्रकांपित कर दिया था, उसी पराक्रमी वंश की धर्म-विजयिनी स्वारिप्त पताका ने एक बार सम्पूर्ण संसार को कल्याण और स्नेह की छाया में सहलाया भी। मौर्य धर्म-घोष की मंगलमयी वाणी ने धर्म की स्थापना कर, विश्व को मानवी क्रूरता और हिंसा से दूर हटा दिया। यह धर्म विजय थी। यह सम्राट अशोक के विश्व कल्याण की पवित्र भावना का निर्मल स्रोत था, जिसने संसार के मालिन्य और कलंक को धोकर उसे पवित्र किया। यह कलिंग का वही घनीभूत क्षोभ था, जो धर्म स्रोत में अविरल गति से बहता हुआ, विश्व के हिंसक मार्ग को स्नेह से सींच गया। मानव जाति के धर्म इतिहास में सम्राट अशोक का अपनी तरह का सर्वोच्च स्थान है। पिछले प्रकरण से सर्वथा स्पष्ट है कि सम्राट बौद्ध थे। प्रस्तुत प्रकरण में हम बौद्ध धर्म कैसा था, क्या था और इसके लिए उन्होंने क्या किया, इसकी समीक्षा करेंगे।

सम्राट का धर्म से क्या तात्पर्य था? इस विषय में दूसरा स्तम्भ लिखता है- 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी' राजा इस प्रकार कहता है- 'धर्म अच्छा है, साधु है, किन्तु धर्म क्या है? पाप से अपने को बचाना (अपासनिव), सुकृतों का करना, दया, दान, सत्यता और शुद्धता।' 'चक्षुदान भी मैंने बहुविधि किया है। चतुष्पदों, पक्षियों और पानी में रहने वाले जन्तुओं के लिए अन्त तक मैंने अनेक प्रकार से उन पर दया करने का अनुशासन दिया है। इसी प्रकार अनेक कल्याण कार्य मैंने किये हैं। इसी कारण यह धर्मलिपि लिखी गई है कि लोग अनुसरण करें और यह चिरजीवी हों। जो इस धर्मानुशासन पर आचरण करेगा, वह सुकृत करेगा या सुखी रहेगा।' इस से प्रकट है कि सम्राट का धर्म किन्हीं देवी देवताओं से संबंधित न था, अपितु वह मानव-चरित्र से दीप्त था। उनकी दृष्टि में जिससे सर्वकल्याण हो, सबका मंगल हो, वही धर्म साधु यानी अच्छा धर्म है। सम्राट की व्यंजन शैली का हम अभिनन्दन करते हैं, उनकी अर्थवत्ता किसी महाकवि से कम सराहनीय नहीं है। उनकी अभिव्यक्ति की ऊँचाइयाँ सर्वोपरि एवं प्रशंसनीय है। धर्म के लिए 'साधु' शब्द का प्रयोग कर उन्होंने इस छोटे से शब्द में सर्वांगत भाव का समावेश किया है। इस शब्द के माध्यम से कोई भी विद्वान उनके धर्म का लक्षण भली प्रकार विदित कर सकता है। सुनिष्ट-

‘सद्भावे साधु भावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥’

अतः साधु शब्द से अशोक के धर्म का लक्षण सुव्यक्त होता है। सत्यता या सत्य ही अशोक का धर्म था। वे ही लोग सम्राट की दृष्टि में धर्मी अथवा साधु थे जो सत्यवक्ता, सत्यप्रेमी और सत्यमार्गी हों। फलतः सम्राट के धर्म का प्रथम लक्षण साधुता और द्वितीय लक्षण संयम, पाप-कृत्यों से अपनी रक्षा करना या दूर रहना है। हमने बार-बार कहा है कि सम्राट का धर्म सैद्धान्तिक है, वे मनुष्य के निज चरित्र पर नियंत्रण करने को ही बड़ा धर्म लक्षण मानते हैं क्योंकि सम्राट की दृष्टि में जब तक आदमी संयमित और नियन्त्रित न होगा, उसका मन अपने वश में नहीं हो सकता और मन जब तक वश में नहीं है, आदमी धार्मिक हो ही नहीं सकता। निर्गुण सन्त घरानी की उक्ति है ‘जौ लौ मनु तनु नहिं पकरै, तौ लौ कुमति किवार न टूटे, दया नहीं उभरे। काहे को तीरथ वरत, मटक भ्रम थकि-थकि थहरै। मण्डप महजपि मुरति सुरति करि धोखाहिं ध्यान धरै।’ अतः संयम (पाप अथवा कुमति से स्वरक्षा) को सम्राट धर्म का प्रत्यक्ष लक्षण मानते थे क्योंकि संयम से ही मनुष्य के सुकृतों, दया, दान आदि का विकास सम्भव है। इन भावों के आधार पर यदि कहें कि सम्राट निर्गुणवादी अथवा निर्गुण संत थे या निर्गुण पंथ के प्रथम अथवा आद्य आचार्य या तत्त्ववेत्ता थे, तो असत्य न होगा। सम्राट के शिलालेखों के अध्ययन करने से मालूम होगा कि कहीं भी उन्होंने सगुण ब्रह्म का प्रचार नहीं किया है, किन्तु प्रत्येक स्थल पर भावों और सिद्धान्तों की उपासना को ही सर्वोच्च एवं धर्म का रूप माना है। शिलालेखों में कहीं भी बुद्ध की मूर्ति अथवा उपासना का उल्लेख नहीं मिलता और यदि सारनाथ, सांची, भाबरू अथवा कौसास्थी में संघ या बुद्ध का उल्लेख है तो वह भी सिद्धान्त रूप में किया गया है। भाबरू लेख से सुव्यक्त है कि सम्राट बुद्ध को मानते हैं, क्योंकि वे कहते हैं ‘जो कुछ भी भद्रगण, भगवान बुद्ध से भाषित हुआ वह सब भली प्रकार अथवा सुन्दरता से भाषित हुआ।’ अतः सिद्धान्त प्रचारक अथवा विशाल भावों के रूप में ही वे बुद्ध के उपासक या भक्त हैं। बुद्ध की मूर्ति और उसकी उपासना से सर्वोपरि बुद्ध के सिद्धांत एवं सुभाषित भाव हैं। सुन्दर, सर्वमांगलिक एवं कल्याणमयी भावनाओं में ही सम्राट भगवान बुद्ध, और धर्म की मूर्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनके धर्म और भगवान की उपासना बहुतेरे सगुण उपासकों की भांति बाह्य आडम्बर में नहीं है, अपितु उनका धर्म निर्गुण सन्त कबीर के शब्दों में चरितार्थ होता है – ‘मूड़ मुड़ाए हरि मिलै, सब कोई लेई मुड़ाय। बार-बार के मूड़ते भेड़ न बैकुंठ जाय। केसन कहा विगाड़िया जो मूड़ो सौ बार। मन को क्यों नहीं मूड़िए, जामे भरै विकार।’ निःसन्देह ब्रह्म अथवा धर्म को पाने का मार्ग इन्द्रिय अथवा मन की विजय है, बाह्य आडम्बर नहीं। महावंश

से विदित होता है कि सम्राट ने वाह्य आडम्बर से पूर्ण मिथ्यावादी भिक्षुओं को, जिनकी संख्या साठ हजार थी, संघ से निकाल बाहर किया था। फलतः सम्राट का धर्म से तात्पर्य साधुता, संयम (मन-निग्रह), सुकृत, दया, दान, सत्यता, शुद्धता एवं विनम्रता से है।

धर्म के कुछ अन्य सिद्धांत ब्रह्मगिरि गौण शिलालेख द्वितीय में भी दिये गये हैं। यह लेख इस प्रकार है, 'देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है कि माता-पिता की उचित सेवा और सर्वप्राणियों के प्रति आदर भाव तथा सत्यता (सत्य कहना) गुरुतर सिद्धांत हैं। इन धर्म गुणों की वृद्धि होनी चाहिए। इसी भांति शिष्यों को गुरुओं का उचित आदर करना तथा सम्बंधियों से उचित व्यवहार उत्तम है। यह पुराणों का आचार सिद्धांत है, इससे दीर्घ आयु होती है।' इस लेख के अनुरूप माता-पिता, गुरु की सुश्रुषा, सम्बंधियों तथा प्राणिमात्र से उचित व्यवहार और सत्यता धर्म के अपेक्षित सिद्धांत या लक्षण हैं।

ग्यारहवें शिलालेख में धर्म के निम्न लक्षण दिये गये हैं - 'दास और भृत्यों, वेतन भोगी नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्रों, परिचितों, सम्बंधियों, ब्राह्मण और श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता और प्राणियों में संयम, होम के लिए उनकी बलि न देना। पिता, पुत्र, भाई, बहिन, स्वामी, मित्र, साथी और पड़ोसी तक को एक-दूसरे से यह कहना चाहिए कि यह स्तुत्य है, इसे धर्म मानना चाहिए।' फलतः ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों का आदर, मित्र, परिचित, सहायक, कुटुम्बी, दास तथा नौकरों से उचित व्यवहार, अहिंसा तथा माता-पिता की सेवा आदि भी धर्म के लक्षण हैं। इन विवरणों के आधार पर संक्षेप में सम्राट का धर्म था 'सर्व भूतानां अछति च, संयम च, समकेरां च, मादव च गुरुयतो देवानां।' अर्थात् सर्वप्राणियों का कल्याण, संयम, समचर्या (सबसे समान आचरण), मंगल (हर्ष) ही देवताओं के प्रिय का गुरुतम अथवा श्रेष्ठ धर्म है।

धर्म के इन सिद्धांतों अथवा लक्षणों से सुव्यक्त है कि स्तम्भ लेखों एवं शिलालेखों में प्रकाशित धर्म कोई विशेष साम्प्रदायिक धर्म नहीं है। यह धर्म जात-पात एवं साम्प्रदायिकता से सर्वथा भिन्न है। अतः इस धर्म को सैद्धांतिक धर्म कहना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। यह धर्म भावोन्मुख था। वह किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय या पाखण्ड से प्रेरित न था, अपितु वह सामाजिक रूप में सब धर्मों का सार रूप था। सम्राट कहते हैं 'पियो मत्रते यथा किति सारवद्धी अस सव पासंडानं', देवताओं के प्रिय चाहते हैं कि सब धर्मों की सार वृद्धि हो (शिलालेख बारहवां)। इसी भाव से प्रेरित होकर सम्राट धर्म के सार का ही प्रचार करने लगे, जिससे सर्वमंगल उपलब्ध हो सके। इस धर्म के दो रूप हैं, 1. व्यावहारिक और निषेधात्मक 2. सैद्धान्तिक।

1. व्यावहारिक धर्म, जिसका पावन संदेश विश्व के कोने-कोने तक सम्राट पहुँचाना चाहते थे, जिसे वे सर्वप्रकार की जलवायु तथा विभिन्न प्रदेशों के अनुकूल बनाना चाहते थे और जिसके चिरंजीवी होने की आकांक्षा करते थे, वह आचरण अथवा व्यवहारों की संहिता थी जो जीवन के प्रत्येक प्रसंग से जुड़ी है। इस आचरण संहिता में धर्म के निम्न लक्षणों का समावेश है-

1. सुश्रूषा - (सेवा)

- क. मातरि च पितरि च (सुश्रूषा) -शिलालेख 3,4,9,12 स्तम्भ लेख 7वां।
- ख. ब्राह्मण समपानं-(ब्राह्मण और श्रमण की सेवा) 3 शिलालेख।
- ग. ब्रध्न सुश्रूष- (वृद्धों की सेवा) शिलालेख 4, स्तम्भ लेख 7वां।
- घ. गुरुसुश्रूष (गुरुजनों की सेवा) शिलालेख 13वां और स्तम्भ लेख 7वां।
- ड. अग्रमुटि सुश्रूष - (विशिष्ट वर्ग या उच्च वेतन वालों की सेवा) शिलालेख 13वां।

2. अपचिति- (पूजा)

- क. गुरु के प्रति शिष्य जनों की पूजा (शिलालेख 9वां, गौण शिलालेख दूसरा)

3. संमप्रतिपटि (उचित व्यवहार अथवा आदर)

- क. ब्राह्मण तथा श्रमणों के प्रति, स्तम्भ लेख 7वां शिलालेख 4।
- ख. नातिसु- (सम्बन्धियों के प्रति) शिलालेख 4, 13 और गौण शिलालेख द्वितीय।
- ग. दसभटकसि (दास और भृत्यों के प्रति) शिलालेख 9, 11,13 और स्तम्भ लेख 7वां।
- घ. कृपण अथवा निर्बल दुखियों के प्रति, 7वां स्तम्भ लेख।
- ड. मित्र संस्तुत सहाय अतिक-मित्र, परिचित, सहायक तथा कुटुम्बियों के प्रति, 13 वां शिलालेख।

4. दान (दान देना)

- क. ब्राह्मण श्रमणनां साधु-ब्राह्मण, श्रमण और साधुओं को दान, शिलालेख 11, 9,3 और 8 वां स्तम्भलेख।
- ख. मित्र संस्तुतं जतिकनं- मित्र, साथी और कुटुम्बियों को दान, 3 और 11 शिलालेख।
- ग. दाने च बुढानं (हीलनं पटि विधाने सोने का दान) वृद्धों को स्वर्ण दान 8 वां शिलालेख।

5. प्रणन अनालम्भ (प्राणियों की अहिंसा, न मारना साधु)

- क. अहिंसा, जीवों की हिंसा से अलग रहना (स्तम्भ लेख 7वां शिलालेख 3, 4, 9 वां)
- ख. पनिसु संयमे (9वां शिलाभिलेख) प्राणों का संयम अर्थात् जीवहत्या न करना, जिह्वा पर संयम करना जिससे मनः तृप्ति के लिए हिंसा न की जाए। प्राणियों की हिंसा से अपनी रक्षा करना अर्थात् अहिंसा।
- ग. अहिंसा भूतानां - प्राणियों की हिंसा, अपकार न करना (7वाँ स्तम्भ लेख, चतुर्थ शिलालेख)
- घ. सर्वभूतानां अक्षति च संयम च, प्राणी मात्र का अनिष्ट न करना, सर्व प्राणीमात्र-जीवमात्र की कल्याण कामना और संयम (13वां शिलालेख)

6. अपवयत और अपभंडत - (अल्प व्यय और अल्प संचय)¹

- क. थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना उत्तम है² (तृतीय शिला लेख) फलतः व्यावहारिक धर्म संहिता में निम्न सिद्धांत समाविष्ट किये गये हैं-

1. दया, कृपालुता, 7वां शिलालेख।
2. दान, उदारता, 7 वां शिलालेख।
3. सत्यवादिता, गौण शिलालेख 2, 7 वां और दूसरा स्तम्भ लेख।
4. शौच, आत्मिक और बाह्य शुद्धता, 7 वां और दूसरा स्तम्भ लेख।
5. मादवं, विनम्रता, 12 शिलालेख, 7 वां स्तम्भ लेख।
6. साधुता, संतगुण, 7 वां स्तम्भ लेख।
7. अल्प व्यय और अल्प संचय, शिलालेख 3 (वह धन संचय कीजिए जो आगे कूँ होय) आगे -परलोक- कबीर।
8. संयम (मन या इन्द्रिय निग्रह), 7 वां शिलालेख।
9. भाव शुद्धि, हृदय की निर्मलता।
10. कृतज्ञता।
11. भक्ति (13वां शिलालेख)
12. धर्म रति, धर्म में रत रहना। (13वां शिलालेख)
13. अक्षति, संयम, समचेरा मादवं (ये गुण सर्वजीवों के प्रति कहे गये हैं) पशु और मनुष्य, पक्षी, जलनिवासिन आदि (13वां शिलालेख)

इन्हीं सबका सामूहिक रूप से संकलन कर सम्राट की धर्म संहिता का निर्माण हुआ। इसी संहिता के पुनीत संदेशों को सम्राट विश्व कल्याण के लिए सारे भूतल पर बिखेर देना चाहते थे। कितने सरल, कितने सत्य और मनोरम ये सिद्धांत थे-

यह शब्दों में नहीं कहा जा सकता। उनका व्यावहारिक धर्म, जिसका सम्राट ने सर्वत्र प्रचार किया, उस समय के किसी प्रचलित सम्प्रदाय से सम्बंधित न था। यही कारण है कि प्रथम दृष्टि में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्राट का यह धर्म बौद्ध धर्म न था। हम सम्राट के द्वारा बौद्ध धर्म के उच्च आध्यात्मिक भावों एवं सारभूत सिद्धांतों और नियोगों का कोई उल्लेख नहीं कर पाते। चार महान सत्य, अष्ट पथ, बुद्ध की अद्वितीयता के बारे में हम कुछ नहीं सुनते हैं, और निर्वाण के भाव का सर्वथा अभाव है आदि।³ परन्तु उनके धर्म के सिद्धांत अथवा नियोग, करुणा और सार्वलौकिक कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हैं। उनमें सार्वलौकिकता है, व्यापकता है, विश्व मांगल्य और सर्वप्राणियों की अक्षति है एवम् माधुर्य के रस से सिंचित है। निःसन्देह धर्म के ये गुण (लक्षण) मांगलिक एवम् विश्व कल्याण पथ के मृदुल पथ थे। इन गुणों अथवा सिद्धांतों की ललित मंजुलता सम्राट के अनवरत दुहराने से सुव्यक्त है। सम्राट स्वयं कहते हैं 'बहु च लिखिते लेखपेशामि चैव निक्खम् अधि चहिता पुनं पुनं, लपि ते, तव तप्पा, अथप्पा मधुलियामे।' (चतुर्थ शिलालेख) अर्थात् बहुत कुछ लिखा जा चुका और निरन्तर लिखता रहूँगा। बहुत सी बातें बार-बार भी (पुनः-पुनः) लिखी गयी हैं। कारण? उन शब्दों की सुन्दरता अथवा अर्थ की मधुरता है। स्पष्ट है कि सम्राट को पूर्णरूप से पुनरुक्ति का विचार था, किन्तु फूलों से कुसुमित शब्दों की सुरम्यता और मनोज्ञ अर्थ की सुस्वादुता के कारण ही उन्होंने पुनरुक्ति की। इस पुनरुक्ति का कारण सम्राट के शब्दों में सुव्यक्त है। वे कहते हैं 'येन जने तथा पटिपजेया' अर्थात् जिससे लोग इसी प्रकार (धर्म से गुणों के साथ) आचरण करें।

सम्राट धर्म के इन लक्षणों को समाज में प्रचलित अन्य रीतियों से सर्वोपरि समझते हैं। वे इन धर्माचरणों एवं सामाजिक धर्म मंगलों का सामाजिक करते हुए कहते हैं - 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग बहुत सा मंगल किया करते हैं। बीमारी, लड़के-लड़कियों के विवाह, पुत्र जन्म, परदेश जाते (समय) आदि अवसरों तथा ऐसे ही दूसरे अवसरों पर लोग बहुत प्रकार से मंगल मनाया करते हैं। ऐसे अवसरों पर बच्चों वाली स्त्रियाँ (माताएँ) और पत्नियाँ कई तरह के छोटे और सारहीन (मंगल कार्य) किया करती हैं। मंगल कार्य अवश्य करने चाहिए, किन्तु ये मंगल बहुत कम फलदायक हैं। किन्तु जो धर्म मंगल हैं, वे निश्चय ही अति फलदायक हैं। इस धर्म मंगल में निम्न बातें हैं- दास और वेतन वाले नौकरों से उचित व्यवहार, गुरुजनों का आदर, प्राणियों का संयम (हिंसा न करना), श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना। ये और ऐसे ही मंगल धर्म मंगल कहलाते हैं। अतः पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र और परिचित तथा पड़ोसी भी यह करे (उपदेश करें) कि यह धर्म मंगल स्तुत्य है, जब तक अर्थ (उद्देश्य) की पूर्ति न हो, तब तक यह धर्म मंगल करना उत्तम है क्योंकि धर्म मंगल के अलावा जितने और मंगल हैं,

वे सब सन्देहात्मक हैं। उनसे अर्थ की सिद्धि हो सकती है और नहीं भी हो सकती है तथा उनका फल इहलोक के लिए ही है, किन्तु धर्म मंगल समय से आवद्ध नहीं है। यदि किसी को इस लोक में अर्थ की सिद्धि न हो, किन्तु परलोक में इससे अनन्त सुख की प्राप्ति होती है और यदि कोई अपने उदेद्ध्य को यहां प्राप्त कर गया, तो दोनों फल (सुख) इससे पाये गये। इहलोक में अपने अर्थ की सिद्धि हुई और इस धर्म मंगल से परलोक में भी अनन्त फल की प्राप्ति हुई (9वां शिलालेख कालसी)। प्रकट है कि सम्राट अनेक कृत्रिम सामाजिक मंगलों से ऊपर धर्म मंगल को रखते हैं। उनके समय में बहुत से ऐसे मंगल मनाये जाते थे जो कृत्रिम तथा मिथ्या थे। अर्थात् लोग मिथ्या धर्म में पड़ कर, यक्ष, किन्नर, भूत, प्रेत, अश्व, कुत्ता आदि की पूजा किया करते थे। इन मिथ्या धर्मों अथवा मंगलों के कारण लोग स्वार्थनिष्ठ होकर विश्व-वन्धुत्व की भावना से दूर हट गये थे; लोगों में स्वार्थ जाग उठा था और वे अपने से अन्य का कुछ भी विचार न रखते थे। यदि रखते होते तो सम्राट को दास, नौकर, मित्र, परिचित, संबंधी आदि से उचित व्यवहार करने का उपदेश न करना पड़ता और न इन लक्षणों को वे धर्म मंगल का लक्षण व्यक्त करते। सम्राट चाहते थे कि मनुष्यों से आत्मभाव (स्वार्थ भाव) नष्ट हो जाये और उनमें सार्वलौकिक⁴ कल्याण कामना जाग उठे। इसी को वे धर्म समझते थे और इसी को निर्वाण भी। सम्राट का यह भाव संत कबीर की इस उक्ति में चरितार्थ होता है, 'आपा पर सब एक समान, तब हम गाया पद निरवान', अर्थात् जब मैंने यह मालूम किया कि मैं और अन्य लोग सब एक ही हैं, तब निश्चय मैंने निर्वाण पद पाया। निःसन्देह सम्राट एकरूपता तथा सार्वलौकिकता के अनन्य उपासक थे। वे पशु-पक्षी, जल-चर, मनुष्यों एवं जीवमात्र में समानता तथा समचेरां अर्थात् समान आचार व्यवहार के इच्छुक थे। कबीर के शब्दों में, सम्राट का सिद्धांत, 'गिरह उजाड़ एक सम लेखों, भाव मिटावों दूजा' था। यही कारण है कि सम्राट सर्वकल्याणमय धर्ममंगल को अन्य मिथ्या एवं स्वार्थपरायण सामाजिक मंगलों से सर्वोपरि बतलाते हैं।

इसी प्रकार 11वें शिलालेख में साधारण दान से बढ़ कर सम्राट धर्मदान (अर्थात् दासों और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, संबंधी, सहायकों, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा) को सर्वोत्तम दान कहते हैं। सम्राट बार-बार यह व्यक्त करना चाहते हैं कि आचरण की साधुता सर्वोपरि है। किसी को अपने ऐश्वर्य के घमण्ड में आकर दो पैसे देना सम्राट सुकृत अथवा दान देना नहीं मानते। स्वार्थवश कुछ देना वे हेय समझते हैं। अतः आचरण का दान ही वे सत्य एवं धर्मदान समझते हैं। बहुत से धनिक एवं राजकीय⁵ लोग अपने ऐश्वर्य के मद में निर्बल, गरीब तथा आश्रित दास और नौकरों पर अपनी असाधुता अथवा दुर्व्यवहार के कारण अनेक भांति से अत्याचार

करते हैं किन्तु स्वार्थ से प्रेरित होकर वे दान-कर्मादि भी कर लेते हैं। अतः इसी प्रकार के दानों को लक्ष्य करते हुए सम्भवतः सम्राट उसे कृत्रिम दान कहते हैं और धर्म दान को उत्तम बतलाते हैं क्योंकि धर्म का दान सर्वकल्याण एवं पुण्यों का मूल है। इसी तरह सम्राट पुनः कहते हैं 'तमेव चाविजयं मनतु ये धर्मं विजये, (कालसी, त्रयोदश शिलालेख)। विजयों में धर्म विजय ही प्रमुख विजय है। कलिंग के युद्ध पर पश्चाताप करते हुए सम्राट कहते हैं 'इस विजय का परिणाम पैशाचिक दुर्घटना थी। इस युद्ध में निष्पाप रुधिर बहा और कई धार्मिक व निरपराध मनुष्यों का मरण हुआ। इस युद्ध के कारण कोई भी सुखी न रह सका।'

धर्म विजय के प्रति हर्षित हो सम्राट कहते हैं कि 'यह धर्म विजय कल्याण देने वाली है' और पुनः गौरव के साथ वे आगे कहते हैं 'देवानां प्रियस ये ध्रम विजये, से च पुन लधे देवानां प्रियस इह च सत्रेषु च अंतेषु अषपुपि योजन शतेषु यत्र अन्तियोगे नम योनरज परंच तने अंतियोकैन' आदि आदि। देवताओं के प्रिय को धर्म विजय यहां (अपने विजित राज्य में) तथा सभी सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक जहां अंतियोकस नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा तुरमय, अंतिकिनि, मग तथा अलिकसुन्दर के राज्य हैं तथा नीचे दक्षिण में चोड़ पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों में उपलब्ध हुई है। अतः यही धर्म विजय की महत्ता अथवा गुरुता है। धर्म की मंगलमयी स्वस्ति पताका स्नेह द्वारा सरलता से विजय प्राप्त कर सकती है। यही विश्व कल्याणकारी धर्म अशोक का धर्म था और इसी को सर्वव्यापी बनाने का उन्होंने निरन्तर प्रयत्न किया। इस प्रयत्न को शिलालेखों में धर्म पराक्रम कहा गया है। धर्म के उपरोक्त लक्षण प्रत्यक्ष अथवा धर्म का व्यावहारिक रूप हैं। अब हम उनके धर्म के निषेधात्मक रूप का अध्ययन करेंगे। निषेधात्मक पक्ष अथवा रूप से तात्पर्य उन लक्षणों अथवा कार्यों के परित्याग एवं निषेध से है, जो मनुष्य को पाप कार्य की ओर ले जाते हैं। अतः धर्म के लिए उन विषयों या कार्यों का निषेध किया जाना परम आवश्यक है।

धर्म का निषेधात्मक रूप

धर्म का उत्कर्ष मनुष्य में तभी सम्भव है, जब वह पूर्णरूप से सात्विक हो सके। उसकी प्रवृत्ति पाप कर्मों की ओर न मुड़ कर अनवरत रूप से धर्म एवं सुकृतों के प्रति बनी रहे। मनुष्य धार्मिक अनुशासनों का अनुसरण करते हुए भी पाप में फंस सकता है। अतः धर्म के लक्षणों के साथ सम्राट अपासनीव को भी उसी प्रकार प्रमुख धर्म मानते हैं। अपासनीव से तात्पर्य आसीनव का निषेध करने से है। इस आसीनव के प्रति तृतीय स्तम्भ लेख में निम्न उल्लेख है - 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, मनुष्य अपने सुन्दर कार्यों को ही देखता है और उन सुकृतों को देख कर सोचता है कि यह सुकृत मैंने किया है, किन्तु वह कभी

भी (किसी भी दशा में) अपने पापों (दूषित कार्यों) पर यह विचार करते हुए दृष्टि नहीं डालता कि यह आसीनव (पाप) मैंने किया है। यह भली प्रकार मालूम करना है भी कठिन। उग्रता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या ये सब आसनिव गामिनी हैं अथवा इनसे आदमी पाप कर बैठता है। इस लिए मुझे इन आसीनव गामिनी अथवा पापों द्वारा अपनी अपकृति या विनाश न करना चाहिए। इनका भली प्रकार विचार रखना चाहिए कि यह मेरे इस लोक के हित तथा परलोक सुख के लिए हैं।'

अतः स्पष्ट है कि धर्म का अर्थ केवल धर्म के नियोगों अथवा उपदेशों का अनुसरण करना नहीं अपितु आसीनव (पाप) से अपनी रक्षा करना भी आवश्यक है। सम्राट की विशेषता एवं उनके मस्तिष्क की प्रगल्भता, मानव चरित्र चित्रण के पूर्ण विश्लेषणकर्ता होने में है। सम्राट मानव मनोविज्ञान के महान आचार्य थे। सम्राट यह भली प्रकार जानते थे कि मनुष्य का अहंकार उसे अपने सुकृतों पर अभिमान करने को प्रेरित करता है, किन्तु अपने दुर्गुणों पर वह कभी फूटी आंख से भी दृष्टि नहीं डालता। संसार में ऐसे असत्य धर्मी अथवा नीच अहंकारी मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या, जो अपने गौरव, घमंड, अहंकार के हेतु धर्मी बने हैं, मिल सकती है। फलतः लोग अधिकतर अहंकार में पड़ कर अपने धर्म-कर्म में फूले नहीं समाते और इसलिए वे अपने पापों पर थोड़ा भी विचार नहीं करते। अतः सम्राट का कहना है कि ऐसे लोग अधर्मी हैं, अपने अपकर्ष के हेतु हैं तथा विनाश के कारण हैं क्योंकि वे आसीनव अर्थात् अहंकार व क्रोध आदि का परित्याग नहीं कर सके हैं। इसी से कबीर भी कहते हैं, हम जाना तुम मगन हो रहे प्रेम रस पाणि। इंचक पवन के लागते, उठे नाग से जागि। अर्थात् मैंने समझा तुम प्रेम रस में डूबे हो और परमात्मा में मिले हो, किन्तु इसके विपरीत, मेरी सांस के छूते ही तुम क्रोधित सर्प की तरह जाग उठे (फूत्कार उठे)। निःसन्देह अहंकारी मनुष्य धर्म-कर्म करता हुआ भी पाप में फंस जाता है क्योंकि उसके भीतर क्रोध, अहंकार, गर्व, ईर्ष्या आदि पाप अर्थात् आसीनवगामिनी लक्षण सभी जीवित रहते हैं। फलतः वही मनुष्य सच्चा धर्म का अनुगामिन अथवा धार्मिक हो सकता है जो धर्म पर आचरण करते हुए अहंकार, क्रोध आदि आसीनव गामिनी अवगुणों से दूर हट गया है। दयावाई के शब्दों में सम्राट का तात्पर्य है 'कोटि जज्ञ व्रत नेमि विधि, साधु संग में होय। विषय व्याधि सब मिटत है सान्ति रूप सुख जोय।' अर्थात् साधु के संग में होने से अथवा साधु गुणों (अहंकार, दर्प, क्रोध, ईर्ष्या आदि इससे परे दया, दान, धर्म, सत्यता, प्रेम आदि साधु गुण हैं) के होने से बढ़ कर अन्य कुछ नहीं है। इस साधुता के कारण सब विषय (अहंकार, क्रोध, दर्प, ईर्ष्या आदि) और व्याधियां शान्त होती हैं तथा सच्ची प्रसन्नता का भी यही कारण है। दादू भी कहता है, 'काया करम

लगाय करि तीरथ धोवे जाई । तीरथ-मोहें कीजिए, सो कैसे करि जाई । अर्थात् अपने विषय-वासना अथवा शरीर से किये पापकृतों को धोने के लिए तुम तीर्थों में जाते हो, किन्तु तीर्थ स्थानों पर जाकर जो दुष्कर्म करते हो, उससे कैसे छुटकारा पाओगे? अतः सम्राट का संक्षेप में तात्पर्य यही है कि मनुष्य अहंकार, क्रोध, क्रूरता, उग्रता और ईर्ष्या आदि आसीनव यानी पाप दुर्गुणों से प्रथमतः छुटकारा पाकर ही धर्मरत हो सकता है और उसके धर्म-कर्म आदि भी तभी सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । यही सम्राट का सम्पूर्ण विश्व के लिए संदेश था और इसे ही वे सर्वकल्याण एवं मंगल का मूल समझते थे । इसी कल्याण संदेश का सर्वत्र प्रचार करने में उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवन को अर्पण कर दिया । सम्राट के धर्म का यही सार था जो सर्वकल्याण का सत्यमूल है । उस धर्म में न तो बौद्ध धर्म का पक्षपात था और न वह राजधर्म से ही संपर्कित था । वह तो अखिल, शाश्वत और सार्वभौमिक धर्म था । यह धर्म सर्वमंगल का बीजमंत्र और पूर्ण ब्रह्म का वह रूप था, जो सब के लिए अंगीकृत हो सकता है ।

प्रथम स्तम्भ लेख में अशोक कहते हैं 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि अभिषिक्त होने के 26वें वर्ष मैंने यह धर्म लिपि लिखवाई । विना धर्म कामना, परीक्षा, सेवा, पाप के भय तथा परम उत्साह के इहलोक तथा परलोक में सुख प्राप्ति दुस्साध्य है । उपरोक्त लेख में दिये गये लक्षणों में परीक्षा सबसे प्रमुख मानी गयी है । भावरु शिलालेख में उल्लिखित राहुलोवाद में परीक्षा पर यथेष्ट जोर दिया गया है । परीक्षा का अर्थ है साधना (साधो एक आप जग माहि) अर्थात् चरित्र बल । राहुलोवाद में भगवान गौतम ने राहुल को उपदेश करते हुए कहा है कि 'मनुष्य को अपनी काया से सम्बंधित कर्मों अर्थात् मन, वचन और वाणी से जो कर्म किए जाएं, उनकी भली प्रकार जांच अथवा परीक्षा करनी चाहिए ।' कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को यह देखना और समझना चाहिए कि उसके अन्तःकरण की जो पाशविक, आसुरी अथवा अहंकार, क्रोध आदि वृत्तियां हैं, वे किस अवस्था में हैं । यदि वे जीवित हैं तो उनकी परीक्षा कर अर्थात् विचार करके उनको विनष्ट करने का उपक्रम करना चाहिए क्योंकि मनुष्य तभी मनुष्य हो सकता है, जब परीक्षापूर्वक वह आसीनव (अहंकार, क्रोध, ईर्ष्या, क्रूरता) का नाश कर सके । इसी पर कवीर की उक्ति 'जीवन तै मरिबो भलो जो मरि जाणो कोय । मरने पहली जे मरे तो कलि अजरावर होय ।' अर्थात् जीव काया में रहते हुए भी वह मनुष्य जीवन मुक्त है । वह साधारण मनुष्य की भांति नहीं जीता, जिसने अहंकार का नाश कर दिया है जो सब विकारों का कारण हैं, इसलिए वह ही सत्य रूप में जीवित है । जो प्राकृतिक मृत्यु से पहले ही मर जाता है, वह अमर होता है । अर्थात्

आसीनव या पाप आदि से रहित होने पर ही मनुष्य का जीवन है, अन्यथा वह कुछ भी नहीं। इसी से सम्राट ने मानव जीवन को यथार्थ रूप देने तथा अमर बनाने के लिए मनुष्यों को तृतीय स्तम्भ लेख में आदेश दिया है कि वे अपने बुरे कार्यों पर ध्यान रखें और इस प्रकार हमेशा आसीनव (पापों), उग्रता, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार आदि से सर्वप्रकार से अपनी रक्षा करें, जिससे वे धर्म से च्युत होकर पाप के अंधकूप में गिरने से अपने को रोक सकें। सम्राट ने इस प्रकार क्यों आदेश दिया? इसलिए कि मनुष्य अपनी प्रशंसा और स्वाभाविक ओछेपन में आकर अपने धर्म कार्यों की तो खूब प्रशंसा करता है, किन्तु वह पाप कृत्यों से अपनी आंखें मूंद लेता है। अतः सम्राट इन मानवी दुर्बलताओं एवं पापों, अहंकार, उग्रता, क्रूरता, ईर्ष्या आदि से बचने की वारम्बर याद दिलाते हैं। सम्राट का परीक्षा शब्द से संक्षेप में अभिप्राय आत्मा के निर्देश पर कार्य करने से है क्योंकि संसार में जितने व्याभिचार, अत्याचार और दुष्कर्म हुए हैं और होते हैं, सब आत्मा के विरुद्ध आचरण करने के कारण ही हुआ करते हैं। यदि परीक्षा के अथवा आत्मा के निर्देश पर ही संसार चलता तो अमानुषिक कृत्यों के क्षय होने में कोई संदेह न रह जाता।

सम्राट का धर्म भाव, सैद्धान्तिक धर्म – सम्राट के धर्म के ये सिद्धांत सब धर्मों व सम्प्रदायों से ऊपर थे। हम बराबर कह चुके हैं कि उनका धर्म विश्व धर्म था। वह किसी धर्म की अपनी वस्तु नहीं कहा जा सकता। उस पर सब धर्मों का समान रूप से अधिकार था। यह धर्म सबको ग्रहणीय था तथा सर्वधर्मों में यह धर्म प्रच्छन्न रूप से विद्यमान था। इसी कारण 13वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं कि 'कोई जनपद ऐसा नहीं है, जहां किसी न किसी धर्म में लोगों की प्रीति न हो।' कलिंग के रहने वालों पर लक्ष्य करते हुए सम्राट पुनः कहते हैं, 'वहां ब्राह्मण, श्रमण तथा अन्य सम्प्रदायों के लोग अथवा गृहस्थ रहते हैं, जिनमें निम्न गुण पाये जाते हैं, वृद्धों, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा, मित्र, सहायक, साथी, सम्बन्धी, नौकर और भृत्यों से उचित व्यवहार और उनके प्रति भक्ति की दृढ़ता। ये ही कारण हैं कि सम्राट परस्पर मेल-जोल बढ़ाने को कहते हैं और किसी धर्म की निन्दा अथवा अपकार न करने को ही प्रमुख धर्म मानते हैं।

सातवें शिलालेख में सम्राट ने कहा है कि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहता है कि सर्वत्र ही सर्व धर्म वाले बसें क्योंकि 'सत्रे हि ते समय भाव शुद्धि च संयम', सभी संयम और भाव शुद्धि के अभिलाषी हैं। सम्राट आगे कहते हैं, 'मनुष्य कई ऊंच-नीच विचार के होते हैं, कोई धर्म का पूरी तरह पालन करता है और कोई आधा ही, किन्तु जिनमें संयम और भाव शुद्धि नहीं है, वे नीच हैं।' (7वां शिलालेख)। इस वृत्त से सम्राट का धर्म भाव पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है। संयम

और शुद्धिभाव को ही वे मुख्य धर्म समझते हैं। इसलिए संयम और भाव शुद्धि से रहित लोगों को उन्होंने नीच कहा है। संयम अर्थात् मर्यादा। सम्राट मर्यादित जीवन को ही मानव जीवन मानते हैं। संयम का अर्थ है आसीनव गामिन विषयों से अपनी रक्षा करना, यह धर्म के निपेधात्मक अथवा अकरणीय रूप से संपृक्त है। इस संयम से तात्पर्य हिंसा (प्राणीमात्र की हिंसा), अक्षति, इन्द्रिय लोलुपता, कामचारिता, आसुरी पाशविकता, क्रोध, अहंकार, उग्रता एवं क्रूरता और ईर्ष्या से अलग रहना है। इसी प्रकार भाव शुद्धि का तात्पर्य हृदय की निर्मलता एवं स्वच्छता से है। किसी प्रकार का विकार अपने हृदय अथवा मन में उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए क्योंकि विकार उत्पन्न होने से मन में दूसरों की निन्दा और अन्य अपकार करने वाले भाव जागृत हो उठते हैं, जिस कारण सर्वकल्याण होना असम्भव हो जाता है। अतः सर्व मंगलाभिलाषी तथा सर्व सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं सारवृद्धि चाहने वाले अशोक ने संयम, वाणी की निर्मलता और भावशुद्धि पर जोर दिया है। 12 वें शिलालेख में आदेश दिया गया है कि अपने धर्म का आदर करो और दूसरों के धर्म की निन्दा अथवा निरादर न करो। इसके लिए सम्राट वाक् संयम पर जोर देते हैं, अर्थात् मनुष्यों को अपनी जिह्वा पर नियंत्रण रखना चाहिए, जिससे लोग एक दूसरे का तिरस्कार कर विरोध और वैमनस्य का बीज न बोयें। सम्राट अहंभावी एवं धर्मोन्मत्त जनों की भांति एकांगी अर्थात् अपने धर्म को सर्वोच्च कहने और दूसरों के धर्म को नाटकीय एवं अधर्म कहने के पक्ष में न थे, अपितु वे नित्य यही कामना करते थे कि सब लोगों, प्राणियों और सम्प्रदायों की अभिवृद्धि एवं कल्याण हो। इसी प्रयोजन से सम्राट ने धर्म महामात्र आदि धर्म के कर्मचारियों की नियुक्ति की थी। ये धर्म महामात्र बिना किसी भेदभाव के सभी लोगों और सम्प्रदायों के लिए नियत थे। धर्म महामात्रों का प्रमुख कार्य था कि वे विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल जोल बढ़ावें, धर्म का प्रचार करें, वृद्धों, असहायों आदि की दान आदि से सेवा करें एवं किसी में विरोध न पैदा होने दें।¹⁶ इस संदर्भ से जान पड़ता है कि शायद उस समय विभिन्न सम्प्रदाय आपस में लड़ा करते थे, नहीं तो सम्राट को परस्पर मेल करने का अनुशासन क्यों करना पड़ता? संक्षेप में, भंडारकर के शब्दों में, हम कह सकते हैं कि साम्प्रदायिक धर्म से अलग मानव धर्म अथवा धर्म के सार का प्रचार करने में ही सम्राट की मौलिकता थी क्योंकि यह धर्म सब सम्प्रदायों के सिद्धान्तानुसार एवं सर्वमान्य था।¹⁷

अशोक के धर्म पर विद्वानों की सम्मति - सम्राट अशोक के धर्म के प्रति विद्वानों की विभिन्न सम्मतियाँ हैं। जेम्स प्लीट अशोक के इस धर्म को मानव राजधर्म कहते हैं।¹⁸ स्मिथ कहते हैं - 'शिलालेखों का यह धर्म कुछ भेद के साथ

हिन्दू धर्म ही है। केवल उसमें बौद्ध धर्म की झलक दिखलाई पड़ती है।' सेनार्ट कहते हैं - 'अशोक के समय तक बौद्ध धर्म केवल आचार-सिद्धान्तों का एक समूह था। वह बौद्ध धर्म के विशेष तथा गूढ़ तत्वों पर बहुत कम ध्यान देता था।' सेनार्ट के इस मत के विरोध में राईज डेविड्स लिखते हैं, 'बुद्ध के महानिर्वाण के सौ वर्ष पश्चात् संघ भेद होना प्रारम्भ हो गया था, जिसको मिटाने का सम्राट ने भी प्रयत्न किया।' इस समय भिक्षु धर्म के बाह्य विषयों पर अधिक ध्यान देने लगे थे।¹⁹ अतः धर्म के गूढ़ तत्वों एवं विशेष नियमों पर आक्षेप अन्यायपूर्ण है। इस धर्म के विशेष तत्वों के हेतु ही बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा की गयी।

अब हम प्रमुख विषय पर आते हैं। उपरोक्त सभी विद्वानों ने सम्राट की सार्वलौकिकता एवं व्यापकता को न समझ कर ही ऐसी भूल की है। हमने बार-बार कई स्थलों पर कहा है कि सम्राट साम्प्रदायिकता की बीमारी से अछूते थे तथा उनका धर्म सार्वमांगलिक एवम् सर्वभूतानां के सिद्धांत पर प्रतिष्ठित था। यही कारण है कि बौद्ध धर्म का नाम लिए बिना सम्राट ने बौद्ध धर्म के उन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार करना अभीष्ट समझा, जिन्हें वे सर्वव्यापक, सर्वकल्याणकारी, सर्वग्रहणीय एवम् सर्वधर्मों का सार समझते थे।

यथार्थ में बौद्ध धर्म के दो पक्ष अथवा रूप हैं अर्थात् इसमें दो प्रकार से धर्म का विधान किया गया है, एक रूप भिक्षु तथा भिक्षुणियों से संबंध रखता है और दूसरा गृहस्थों से। गृहस्थों से संपृक्त जो धर्म है, उसका विधान सिगालोवाद सुत्त में किया गया है। यह सुत्त गृहस्थों के लिए ही बनाया गया था। इस सुत्त के संबंध में एक कहानी है कि किसी समय बुद्ध भगवान राजगृह के पास एक जंगल में रहा करते थे। एक दिन भिक्षा के लिए जाते हुए मार्ग में उन्होंने सिगालो को देखा। यह सिगालो आकाश और पाताल की विभिन्न दिशाओं को नमस्कार कर रहा था। बुद्ध उसके पास पहुंचे और उससे पूछा कि वह क्यों ऐसा कर रहा था? बुद्ध भगवान के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने कहा कि उसके पिता का आदेश ही ऐसा है। इस पर बुद्ध ने कहा, आकाश-पाताल की दिशाओं को पूजना धर्म नहीं है। सिगालो ने तब भगवान से पूछा धर्म क्या है? भगवान ने उसे इस प्रकार उपदेश दिया कि माता-पिता की सेवा, पास-पड़ोसी की सेवा, गुरु मित्र, परिचित, संबंधी, स्त्री व बच्चे की सेवा और उचित आदर, सेवक (दास), नौकर (भृत्य, वेतनभोगी नौकरों), आदि के प्रति उचित व्यवहार करना ही गृहस्थियों की मुख्य पूजा एवं धर्म है।

सिगालो को भगवान ने जो धर्म का उपदेश दिया है, वही शिलालेखों का भी निश्चित विषय है, इसे सभी स्वीकार करेंगे। अतः इस विषय में अब कोई संदेह शेष न रहना चाहिए कि शिलालेखों का धर्म भगवान गौतम से प्रसूत हुआ धर्म

अथवा बौद्ध धर्म न था। यदि कोई कहना चाहे तो इतना अवश्य कह सकता है कि शिलालेखों का धर्म गृहस्थ धर्म था तथा वह साधारण रूप में सर्वमान्य था। तदपि इस बात को अवश्य स्मरण रखना चाहिए कि यह गृहस्थ धर्म भी भगवान् बुद्ध से ही प्रसूत हुआ था यदि उपरोक्त विद्वान् सिंगालोवाद सुत्त को ध्यान में रखते, तो उन्हें अवश्य ही सम्राट के धर्म पर किसी प्रकार की शंका नहीं हो सकती थी।

स्वर्ग और परलोक के प्रति सम्राट¹⁰ ने शिलालेखों में अनेक बार उल्लेख किया है। चतुर्थ स्तम्भलेख में सम्राट कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है 'अभिषिक्त होने के 26वें वर्ष मैंने यह धर्म लिपि लिखवाई। मैंने रज्जुक को कई सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत किया है। उन्हें इस विषय को समझना होगा कि दुख और सुख के क्या कारण हैं तथा धर्म की सहायता से वे जनपद के लोगों को इस प्रकार आदेश करें, जिससे उनको इस लोक में सुख मिले और परलोक (स्वर्ग) में भी वे सुखी रहें।' आगे फिर 9वें शिलालेख में धर्म मंगल की प्रशंसा करते हुए कहा है, 'परत्र च अनंत पुणं प्रसवति, तेन भ्रम मंगलेन (मानसेरा)।' इस धर्म मंगल से दूसरे लोक में 'स्वर्गस आलाधि' स्वर्ग की सिद्धि होती है, अथवा अनंत पुण्य उपजता है। इन दो शिलालेखों से ही सुप्रकाशित है कि सम्राट परलोक अथवा स्वर्ग का अस्तित्व मानते थे। चतुर्थ शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि होम के लिए पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा और श्रमणों व ब्राह्मणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया। किन्तु आज, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण के फलस्वरूप, भेरी नाद (वीर घोष), धर्म घोष हुआ तथा लोगों को विमान दर्शन, हस्तियों के दर्शन, अग्निस्कंध आदि अन्य दिव्यरूपों के दर्शन कराये गये। जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, वैसा अब देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा हो रहा है। आज जीवों के प्रति अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बन्धियों से उचित व्यवहार, ब्राह्मण, श्रमण, माता-पिता और वृद्ध जनों की सेवा बढ़ रही है। यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेंगे, इस विवरण से ज्ञात होता है कि सम्राट प्रजा को धर्म पर लाने के लिए उन्हें दिव्य रूपों का दर्शन कराया करते थे जैसे विमान, हस्ति, अग्निस्कंध आदि।

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार जब कोई पुण्यात्मा व्यक्ति मर कर परलोक अथवा स्वर्ग को पहुँचता है, तो वहां उसे अपने सुकृतों के अनुरूप स्वर्गीय उपहार मिलते हैं। इन स्वर्गीय उपहारों में विमान पहले दिया गया है। विमान एक स्तम्भयुक्त प्रासाद (महल) होता था। यह विमान अनन्त सुख देने वाला था। ये विमान अथवा

प्रासाद चलने-फिरने वाले हुआ करते थे। दूसरा महान स्वर्गीय उपहार पुनीत श्वेत हस्ति था। कहते हैं, श्वेत हस्ति के रूप में ही भगवान बुद्ध ने अपनी मां के गर्भ में प्रवेश किया था। तीसरा उपहार, स्वर्ग की प्राप्ति थी। स्वर्ग में आने पर अपने सुकृतों के कारण उन्हें देव पद प्राप्त होता था। देवता बनने पर उनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास होता था। इस विकास के अनुरूप ही उनके शरीर से प्रभा प्रस्फुटित होती थी। फलतः उनका रूप दिव्य हो जाता था या वे दिव्य रूप हो जाते थे।

इन उपहारों का ग्रंथ में उल्लेख करने से क्या अभिप्राय था। बौद्धग्रंथ स्वर्ग के उपहारों एवं दिव्य रूपों का उल्लेख कर जनता को यह व्यक्त करना चाहते थे कि पृथ्वीतल पर सुकृत-पुण्यादि कर्म करने के क्या परिणाम होते हैं। पुण्य कर्म एवं सुकृतों का इस भांति पारलौकिक परिणाम दिखलाने का तात्पर्य केवल जनता को धर्म पथ या धर्म की राह पर लगाना था। स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म में स्वर्ग, सुकृत और परलोक पर पूर्णतया विश्वास किया गया है। इस तरह के विचार गृहस्थों तथा साधारण उपासकों तक ही सीमित है क्योंकि भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए निर्वाणपद पाना ही प्रमुख लक्ष्य कहा गया है। कहते हैं, भगवान गौतम ने कहा था कि 'पुण्यात्मा गृहस्थ एवं साधारण उपासक, अपने सुकर्मों द्वारा परलोक में अथवा किसी एक स्वर्गलोक में देवता होकर जन्म लेता है।'

बौद्ध ग्रंथों के अनुसार प्रजा को धर्म की राह पर लाने के लिए ही उपरोक्त दिव्यरूपों का प्रदर्शन किया जाता था, जिससे प्रजा के हृदय में इन स्वर्गीय अनंत सुखदायी उपहारों को पाने की आकांक्षा बलवती हो और वे इस हेतु दृढ़तापूर्वक धर्म पर आचरण करने लगे। इन दिव्यरूपों के प्रदर्शन का भाव, बौद्धग्रंथों से ही लिया गया है। कैम्ब्रिज इतिहास, पृ. 505 लिखता है - यह (अशोक का धर्म) बौद्ध धर्म न था -

'We hear from him nothing concerning the deeper ideas or fundamental tenets of that faith, there is no mention of the four grand truths, the Eight fold path, the chain of causation, the supernatural quality of Buddha, the word and the idea of Nirvana fail to occur and the innumerable points of difference which occupied the sects are likewise ignored.'

इसमें कोई संदेह नहीं कि अशोक ने बुद्ध के मुख्य सिद्धांत निर्वाण का अपने शिलालेखों में कहीं भी उल्लेख नहीं किया है किन्तु क्या इसी आधार पर हम उन्हें बौद्धधर्मी न कहें? अथवा शिलालेखों में प्रचारित धर्म को बौद्ध धर्म स्वीकार न करें? यह स्मरण रहे कि सम्राट स्वयं एक साधारण गृहस्थ और उपासक थे। यही कारण है कि उन्होंने गृहस्थ धर्म, जैसा सिगालोवाद में दिया गया है, का ही सर्वत्र और

सर्वस्थलों पर प्रचार किया है। सम्राट जानते थे कि साधारण लोग निर्वाण के निगूढ़ और अमूर्त सिद्धांत को नहीं समझ सकते थे, अतः जनता के स्तर के अनुरूप ही उन्होंने साधारण सिद्धांतों आदि का प्रचार कर धर्म की श्री बुद्धि की। संक्षेप में, शिलालेखों का धर्म, (गृहस्थ धर्म, सिंगालोवाद सुत्त का धर्म), बौद्धधर्म की अपनी ही वस्तु है। अतः यह शंका निर्मूल है कि शिलालेखों का धर्म हिन्दू धर्म या बौद्ध धर्म को छोड़कर कोई अन्य धर्म था।

सम्राट ने जिस धर्म का प्रचार किया, उसका पालन भी किया। संसार में कितने ही उपदेशक पैदा होते हैं, हुए हैं और होंगे, किन्तु कोई भी उपदेशक, सम्राट अशोक की बराबरी नहीं कर सकता। दुनिया में कितने ही ऐसे उपदेशक हैं जो स्वयं तो नरकगामी तथा सम्राट के शब्दों में आसीनव गामिनी हैं, किन्तु बाहर धर्म का पोथा लिए दूसरों को उपदेश करते फिरते हैं। सम्राट की महत्ता प्रत्यक्ष आदर्श स्थापित करने में है। सम्राट ने दूसरों के लिए जिन नियोगों अथवा सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन पर वे स्वयं भी आचरण करते रहे।

सम्राट अशोक की विशेषता सक्रिय उपदेशक और कर्मयोगी होने में ही है। सातवें स्तम्भ लेख में सम्राट कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है विगत काल के राजाओं ने चाहा कि किस प्रकार लोग (प्रजा) धर्म के साथ उत्कर्ष करें', उनमें धर्म का प्रचार कैसे हो। किन्तु उनकी इच्छा के अनुरूप प्रजा में धर्म का प्रचार नहीं हुआ। इस पर देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि 'मुझे विचार आया, विगत काल में राजाओं ने इस प्रकार सोचा (अभिलाषा की) कैसे प्रजा धर्म के साथ उन्नति करे? किन्तु प्रजा में यथेष्ट रूप से धर्म का प्रचार न हुआ। फिर किस प्रकार प्रजा को पूर्ण रूप से धर्माचरण कराया जाय? किस प्रकार प्रजा की पूर्णता से धर्म के साथ उन्नति की जाय? मैं कैसे उन्हें धर्म के साथ उन्नत बनाऊँ।' इस पर विचार कर देवताओं का प्रिय कहता है 'मैंने सोचा, मैं धर्मानुशासनों को प्रचारित कराऊँगा। मैं धर्म का विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा, लोग सुन कर अवश्य उन पर आचरण करेंगे, अपने को उन्नत बनायेंगे और धर्म की उन्नति के साथ-साथ अपनी उन्नति करेंगे।'।

इस विवरण से स्पष्ट है कि किस प्रकार सम्राट धार्मिक उपदेशक के रूप में आगे आने की तैयारी कर रहे थे। अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्राट ने तीन तरह से कार्य करना निश्चित किया। प्रथम धर्मानुशासनों को प्रकाशित कराया, द्वितीय धर्म का विधान किया और तृतीय धर्म की शिक्षा अथवा धर्मानुशासन का प्रचार किया। सम्राट कहते भी हैं, 'इस हेतु मैंने धर्म के संदेशों को प्रकाशित करवाया है, जिससे मेरे पुरुष भी, जो बहुत से मनुष्यों पर शासन करने के लिए

नियत हैं, (वे) इन धर्म सिद्धांतों का प्रचार और प्रसार करेंगे। रज्जुकों को भी, जो कई सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन करते हैं, मैंने शिक्षा दी है कि जो मनुष्य धर्म में रत हैं, उन्हें उत्साहित करो, उपदेश दो।' इस प्रकार हम सम्राट को एक सत्यनिष्ठ एवम् परम उत्साहित उपदेशक के रूप में पाते हैं।

क्रियात्मक रूप में सम्राट ने जिन उपदेशों का विधान प्रजा के लिए किया, उनका पालन वे स्वयं भी करते रहे। सम्राट हमेशा अपने भाई, बहिन, स्त्री, बच्चे तथा अन्य संबंधियों के प्रति अपने लेखों में जिस प्रकार स्नेह तथा कल्याण के अभिलाषी रहे हैं, वह सर्वथा स्पष्ट है। 5वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'धर्म महामात्र यहां (पाटलिपुत्र) तथा बाहरी नगरों में मेरे और भाइयों के अन्तःपुर में तथा बहिनों के अन्तःपुर में और अन्य सम्बन्धियों (हित) के लिए नियत हैं।' (मानसेरा)।

सम्राट ने केवल लोगों को दान, धर्म, दया आदि का आदेश न दिया, अपितु स्वयं उन अनुशासनों पर आचरण किया। इसी हेतु सम्राट ने विहार यात्रा को धर्म यात्रा में बदला था। इस धर्म यात्रा में सम्राट निम्न कार्य किया करते थे—ब्राह्मण, श्रमण का दर्शन और उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन और उन्हें सोने का दान आदि (आठवां शिलालेख शाहवाज गढ़ी)। इसी विषय पर 12वां शिलालेख भी देखिए—'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों या सम्प्रदायों, साधुओं और गृहस्थों को दान तथा अन्य पूजा से सम्मान करता है (कर रहा है)' (गिरनार)।

सम्राट ने सर्वकल्याण के सिद्धान्त का प्रचार किया था। उन्होंने आदेश दिया था 'सर्वभूतानां अक्षति च, समचेरां च, मादवं च', और इसका स्वयं भी पूर्णरूप से पालन किया। देखिए, स्तम्भ लेख दूसरा, 'मैंने अनेक प्रकार से चक्षुदान दिया है, और जीवनपर्यन्त के लिए मैंने द्विपद, चतुष्पद जीवों (मनुष्यों और पशुओं), पक्षियों और जल-निवासियों के प्रति यथेष्ट और कई प्रकार की उदारता और अनुग्रह किये हैं।' इसी तरह 7वें स्तम्भ लेख से प्रकट है कि सम्राट ने जो कुछ दूसरों से करने को कहा, उसे स्वयं भी किया। बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे, जो जिस बात को कहते हैं, उसका पालन स्वयं भी करते हैं। सम्राट अशोक ने लोगों को जीवमात्र की सेवा करने का उपदेश दिया और अपने उदाहरण से लोगों को प्रोत्साहित भी किया। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, 'रेणु रुक्ष मार्ग पर भी मैंने वट वृक्षों को लगवाया कि वे मनुष्य और पशु दोनों को छाँह दें, आम्र कुंज लगवाये, प्रत्येक दो मील पर कुएं खुदवाए, धर्म शालाएं बनवाई और पानी पीने के कई स्थानों का निर्माण करवाया।' क्यों? मनुष्य तथा पशुओं के सुख के लिए।

सम्राट अपनी स्त्रियों और बच्चों के धर्माचरण के प्रति भी नित्य व्यग्र रहते

थे। धर्मशालाओं का उल्लेख करते हुए सम्राट कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, ये (धर्म महामात्र) तथा अन्य धर्म के मुख्य कर्मचारी, मेरे और मेरी रानियों के दान का वितरण करने को नियत हैं। यहां (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों के मेरे अन्तःपुरों में ये अनेक प्रकार के शान्तिदायी धर्मकार्य में लगे हैं और रानियों तथा मेरे अलावा, मेरे लड़कों तथा दूसरी रानियों के लड़कों के धर्म व दान आदि कार्यों में नियत हैं, जिससे धर्म कार्यों की वृद्धि हो तथा धर्मानुष्टि हो।'

सम्राट कितने जागरूक और सक्रिय थे, इसका साक्षात्कार उन्हीं के शब्दों में देखें 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि जो कुछ सुकृत अथवा धर्म मैंने किया है, उसी का लोगों (प्रजा) ने अनुसरण किया' (7वां स्तम्भ लेख)। सम्राट किस उत्साह और उमंग के साथ धर्म पालन कर रहे थे, यह सुनिए - 'मुझे अपने पराक्रम और कर्तव्य पालन से कुछ भी सन्तोष नहीं है। मेरा परम कर्तव्य सर्व प्राणियों एवं जीवों का कल्याण है।' वह 'प्रभु' को भुलाकर प्राणियों का नाश और अपकार करना नहीं चाहते थे। कितने राजा इतिहास के पन्नों में अपनी पाशविक प्रभुता का परिचय दे गये हैं और दे रहे हैं। सहजोबाई ने अपने सन्त शब्दों में ऐसे राजाओं और मनुष्यों का चरित्र एक ही पंक्ति में पूरी तरह अंकित कर दिया है, 'प्रभुता को सब चाहत हैं, प्रभु को चाहै न कोय'। किन्तु इसके विपरीत सम्राट अशोक ने जितने भी कार्य किये, सब धर्म के लिए (शिलालेख 10वां)। सम्राट प्रभुता के कीर्ति स्तम्भों को स्थापित करने के पक्ष में न थे। उनके मतानुसार सच्ची प्रभुता, कीर्ति और सुयश धर्म पर अवलम्बित थे। धर्म सम्बंध, धर्म सम विभाग (11वां शिलालेख), धर्म अनुग्रह (9वां शिलालेख) तथा धर्म दान, धर्म यात्रा (8वां शिलालेख) आदि ही उनके प्रिय विषय हैं। स्तम्भ लेख प्रथम में सम्राट कहते हैं - 'मेरा धर्म विधान इस प्रकार है (मैं चाहता हूँ) कि धर्म से ही पालन हो, धर्म का ही शासन हो, धर्म का ही सुख हो और धर्म की ही रक्षा हो अथवा धर्म से ही रक्षा हो।'

सम्राट के विचार में धर्म दान सबसे बढ़ कर दान था (11वां शिला0लेख)। इस धर्मदान में निम्न बातें होती थी, दास और नौकरों के प्रति उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, साथी, संबंधी, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा (पशुओं का यज्ञ के लिए बलि न देना)। इस धर्म दान से तात्पर्य सर्वकल्याण से ही है, जिसका पालन सम्राट करते और प्रजा को भी वैसा करने का आदेश दिया करते थे। सम्राट धर्मानुशासन अथवा धर्म की शिक्षा और धर्मानुष्टि को राजा का परम कर्तव्य मानते थे (शिला0 लेख 4,13 और 7वां स्तम्भ लेख)। इसी कारण धर्म प्रचार करने के लिए वे जनपद के लोगों का दर्शन करने निकलते और उचित समय विचार कर उनसे धर्म पर जिज्ञासा भी किया करते थे

(आठवां शिला 0 लेख, शाहवाजगढ़ी)।

सम्राट का धर्म ज्ञान और धार्मिक सहिष्णुता

इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले हम यहां पर सम्राट के धर्म ज्ञान तथा धार्मिक सहिष्णुता पर दो शब्द और कह देना चाहते हैं। सम्राट के लिए निर्गुण संत की उपाधि प्रयुक्त की गई है। इसका कारण यही है कि उन्होंने अपने धर्म का प्रचार सिद्धांतों के आधार पर ही किया है। उन्होंने धर्म प्रचार करते समय साम्प्रदायिकता की गन्ध तक नहीं आने दी। वे सर्वदा सर्वकल्याण के अभिलाषी थे। उनका धर्म ज्ञान प्रच्छन्न था, वे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म देखते थे, सब प्राणियों में उन्हें ब्रह्म का ही रूप दिखलाई देता था। अतः सब मनुष्यों एवं पशुओं तथा जीवमात्र की सेवा अथवा उपासना में ही वे भगवान की उपासना और धर्म की आराधना का आनन्द पाते थे। इसी हेतु उन्हें सम्प्रदाय विशेष से आसक्ति न थी और इसी कारण वे सब सम्प्रदायों को आदर की दृष्टि से देखते थे। निर्गुण संत रामानन्द के शब्दों में सम्राट का सिद्धांत था-

जहं जइए तहं जल परवान
परि रहे हरि सब समान।

अर्थात् जहां भी कोई जाता है (तीर्थयात्रा आदि से तात्पर्य), वहां केवल मूर्ति और पानी (तालाब) है, किन्तु परमात्मा नित्य है, सर्वत्र है। अतः जिस सन्त अशोक के ऐसे भव्य एवं निर्मल विचार थे, वह क्यों कर किसी सम्प्रदाय तथा अन्य किसी धर्म का विरोधी हो सकता था? सम्राट पूर्ण ज्ञानी थे। वे ही प्रथम एवं प्राचीनतम् निर्गुण सन्त हुए हैं, जो देवता तथा धर्म को किसी मन्दिर अथवा देव स्थान में आवद्ध नहीं समझते थे। वे तो सर्वत्र और सर्वभूतों अथवा प्राणियों में उसको देखते थे, अतः उनको किसी व धर्म अथवा सम्प्रदाय की विशेष आवश्यकता न थी।

सम्राट की सहिष्णुता का प्रमाण

जैसा कि शिलालेखों से प्रकट होता है, प्रथमतः अशोक ने दूसरों पर कभी भी अपने व्यक्तिगत धर्म का दबाव न डाला। यद्यपि वे अपने धर्म के महान प्रेमी थे, लेकिन सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों का हित उनका इष्ट था। 7वें शिलालेख में सम्राट ने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच की विभिन्नता को मिटा कर यह आज्ञा प्रचारित की है (देवेन प्रिये प्रियेदसि रज, सव्रत्रइच्छति सव्र पाषंड बसे यु) कि प्रत्येक स्थान पर सभी सम्प्रदाय रह सकते हैं क्योंकि सभी परमात्मा के एक रूप हैं और सभी उसे पाने के लिए संयम तथा आत्मशुद्धि किया करते हैं। (सव्रेहि ते संयम भाव शुद्धि च इच्छति)। सम्राट दूसरे धर्मों का आदर करने में ही अपने धर्म की बड़ाई

मानते थे। दूसरे धर्मों की निन्दा करने में वे अपने धर्म का अपकर्ष समझते थे (13वां शिलालेख)। अपनी धर्म यात्राओं में सम्राट ब्राह्मणों व श्रमणों का दर्शन किया करते थे तथा उनका सम्मान कर दान दिया करते थे (आठवां शिलालेख)। सम्राट के शिलालेखों में सहिष्णुता का मधुर सन्देश निश्चित ध्वनि में प्रतिध्वनित होता सुनाई पड़ता है। तीसरा शिलालेख कहता है, 'माता-पिता की सेवा करना स्तुत्य है। मित्र, परिचित, सम्बन्धी, ब्राह्मण और श्रमण साधुओं के प्रति उदारता, ये तथा अन्य बातें भी धर्म मंगल है।' प्रकट है कि ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति उदारता दिखलाना धार्मिक लक्षण माना गया है। इसी प्रकार चौथे शिलालेख में ब्राह्मणों, श्रमणों आदि के प्रति दुर्व्यवहार करने को अधर्म कहा गया है। चौथा शिलालेख कहता है- 'बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता और सम्बन्धियों, ब्राह्मणों तथा श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता ही गया।' अन्त में यह शिलालेख कहता है कि 'धर्म प्रचार के कारण अब ब्राह्मणों और श्रमणों आदि का आदर बढ़ने लगा है।' इसी प्रकार 7वें शिलालेख में ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति दुर्व्यवहार करने की भर्त्सना की गयी है तथा उचित व्यवहार करने का आदेश दिया गया है।

सम्राट प्राग्भूत बुद्ध अथवा बोधिसत्व के उपासकों का भी आदर करते थे। अशोक ने बुद्ध कोनकामन के स्तूप को बड़ा बनवाया (द्विगुणित किया) था तथा बुद्ध कोनकामन की यात्रा भी की थी (निगलिव, स्तम्भ लेख नं.2)। 'नास्ति हि क्रमतर सर्वलोक हितेन।' इसी आदर्श को लेकर सम्राट 6वें स्तम्भ लेख में कहते हैं, 'मैं केवल अपने संबंधियों की ही सेवा नहीं कर रहा हूँ अपितु सम्पूर्ण लोगों (प्रजा), चाहे वे सम्बन्धित हों या चाहें किसी प्रकार के संबंध से दूर हों, सबकी सेवा में लगा हूँ, जिससे मैं उन सब का कल्याण कर सकूँ और इसी प्रकार मैं औरों के साथ (सर्वहित करने के लिए) अनुशासन करता हूँ।'

धर्म पर आचरण करने के परिणाम को प्रकट करते हुए सम्राट चौथे (गिरनार) शिलालेख में कहते हैं, 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से आज भेरी घोष (परिघोष), धर्म घोष हुआ और प्रजा को निम्न दिव्य रूपों, विमान, श्वेत हस्ती, अग्निस्कन्ध (स्वर्गीय दिव्यरूपों) के दर्शन कराये गये।'

सर्वमंगल के लिए सम्राट ने जो कुछ किया, वह दूसरे शिलालेख से पूर्णतया प्रकट है। 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सर्वत्र दो प्रकार के औषधालय अथवा चिकित्सालयों का निर्माण करवाया है। मनुष्यों के चिकित्सालय तथा पशुओं के चिकित्सालय सर्वत्र खोले हैं। मनुष्यों और पशुओं के लिए जो औषधियां गुणकारी हैं, वे सर्वत्र उन जगहों को भेजी गई एवं रोपी गई, जहां वे नहीं पायी जाती।'

सम्राट ने अहिंसा के जिस सिद्धांत को प्रजा के सामने रखा, उसका उन्होंने

स्वयं पालन कर आदर्श उपस्थित किया - 'यहां कोई जीव-हत्या कर वलि न दी जाये।' पहले देवताओं के प्रिय के भोजनालय में प्रतिदिन कई सौ सहस्र जीव शोरखे के लिए मारे जाते थे, किन्तु जब यह धर्म लिपि लिखवाई, तब से केवल तीन पशु - दो मोर और एक हिरण-मारे जाने लगे। इनमें भी हिरण का मारा जाना नियमित नहीं था। 'भविष्य में ये तीन पशु भी न मारे जायेंगे' (प्रथम शिलालेख, शाहवाजगढ़ी)।

सम्राट का आदर्श अभिनन्दनीय है। जिस सम्राट की रसवती में प्रति दिन अनगिनत पशु बध किए जाते थे, उसने अनुशासनानुसार आदर्श स्थापित करने के लिए अपने मन, जिह्वा तथा इन्द्रियों पर नियंत्रण कर, मांसाहार का धीरे-धीरे परित्याग कर दिया।

सम्राट का धर्म, जैसा कि हम देख चुके हैं, केवल व्यावहारिक ही नहीं अपितु सैद्धान्तिक भी था। प्राणियों में संयम अथवा अहिंसा का आधार सिद्धान्त ही है। दूसरा सिद्धान्त सहिष्णुता का था। इस सहिष्णुता का मूल वाक् संयम दिया गया है। अर्थात् किसी की निन्दा और बुराई करने से बचे रहना। चौथा बहुश्रुत होना, क्योंकि इससे ज्ञान की वृद्धि होती है। बहुश्रुत का परिणाम अंततः कल्याण अथवा सर्वकल्याण ही है। पांचवा सिद्धान्त सार दिया गया है। अर्थात् सब धर्मों के सुन्दर नियोगों का पालन, जिससे सर्वमंगल की प्राप्ति हो। छठा सिद्धान्त धर्ममंगल अर्थात् उन्हीं उत्सवों को करना जो धर्म से संयुक्त हों अर्थात् जिससे प्राणी मात्र का मंगल हो (शिलालेख 9वां)। इसके अलावा धर्म दान भी एक सिद्धान्त था, इसका प्रतिपादन सर्वहित के लिए किया गया है (11वां शिलालेख)। शिलालेख चतुर्थ में धर्म शिक्षा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। पराक्रम भी एक सिद्धान्त बतलाया गया है, यह शब्द अशोक को बहुत प्रिय था। इसका उन्होंने अनेक बार प्रयोग किया है, पराक्रम अर्थात् धर्म के उत्थान के लिए पूर्ण रूप से उद्योग करना। शिलालेख दसवां (कालसी) लिखता है, 'जो कुछ भी वह (अशोक) पराक्रम करता है, इसीलिए कि सब बंधन से मुक्त हो सकें। पाप ही बन्धन है। इसको (बन्धन से मुक्त होने को) बड़ा और छोटा कोई भी नहीं कर सकता, यदि वे पूरी तरह उद्योग अथवा पराक्रम न करें। इन दो (बड़े और छोटे) में से भी बड़ों के लिए यह अधिक कठिन है।' गौण शिलालेख प्रथम में सम्राट सबको पराक्रम करने के लिए कहते हैं, 'छोटे और बड़े सब पराक्रम करें।' इस पराक्रम को चरितार्थ करने के लिए स्तम्भ लेख तृतीय में परीक्षा का उल्लेख है। परीक्षा की हम पहले ही विवेचना कर चुके हैं, जिसके अनुसार पराक्रम के लिए अपने भले-बुरे कर्मों पर दृष्टि रखना आवश्यक बतलाया गया है। अन्य सिद्धान्त धर्मविजय, धर्म घोष, धर्मकामना आदि हैं। राजा के लिए एक और सिद्धान्त धर्मयश (शिलालेख 10वां) दिया गया है अर्थात् प्रभुता और विजय आदि से ही सच्चा सुयश नहीं प्राप्त होता अपितु वह उस धर्माचरण से प्राप्त होता

है, जिससे प्रजा का मंगल और विश्व का कल्याण हो। निर्गुण संत सहजोबाई के शब्दों में कहें तो सम्राट प्रभु को चाहते थे, प्रभुता को नहीं।

निर्ग्रन्थ आजीविक आदि के प्रति भी अशोक उसी प्रकार उदार थे जैसे अन्य सम्प्रदायों के प्रति। उनका सब धर्मों के प्रति समान भाव था तथा राजकीय संरक्षण सर्वपाषण्डों को सहज प्राप्त था। आजीविक और निर्ग्रन्थों को उदारतापूर्वक गुफाएं दान दी गयी थीं। निगरोध गुफा लेख में सम्राट कहते हैं, 'अभिषिक्त होने के बारहवें वर्ष, प्रियदर्शी राजा ने यह निगरोध गुफा आजीविकों को दान दी।' इसी प्रकार खलाटिक पहाड़ी गुफा भी अभिषेक के 12वें साल आजीविकों को मिली थी। अतः स्पष्ट है कि राजकीय उपहारों का बंटवारा सबके लिए (ब्राह्मण, श्रमण, वृद्ध, निर्ग्रन्थ, आजीविक) बराबर था (देखिए, आठवां शिलालेख)। सर्वधर्मों अथवा सम्प्रदायों की श्री वृद्धि के लिए अशोक ने धर्म महामात्रों को नियुक्त कर रखा था। पांचवें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'पहिले धर्म महामात्र नियुक्त न थे, किन्तु अभिषिक्त होने के 13वें वर्ष मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया है। वे सब सम्प्रदायों के लिए नियत हैं। वे धर्म की अभिवृद्धि एवं धर्म भक्तों की रक्षा की हेतु नियुक्त किए गये हैं। वे यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिकों, पैठानिकों और पश्चिमी सीमान्त पर रहने वाले अन्य लोगों के लिए नियत हैं। वे आर्यों, भृत्यों, ब्राह्मण, साधुओं, गृहस्थियों, असहायों, वृद्धों और अन्य धर्म सेवियों के सुख और रक्षा हेतु नियत हैं।' पुनः 6वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'मेरा परम कर्तव्य सब लोगों की भलाई करना है।' इसी तरह 10वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'जो कुछ भी उद्योग या पराक्रम मैं करता हूं, वह सब परलोक के लिए तथा सर्वहित के हेतु हैं, जिससे सब लोग पाप मुक्त हो सकें।' 11वें शिलालेख में सम्राट ने धर्मदान को इस प्रकार व्यक्त किया है - 'दास और नौकरों से उचित व्यवहार, माता-पिता की सेवा, मित्र, परिचित, ब्राह्मण, श्रमण, साधुओं के प्रति उदारता और अहिंसा।' अतः निःशंक हो हम कह सकते हैं कि सम्राट की धार्मिक सहिष्णुता और ज्ञान अद्वितीय एवं पारलौकिक थे।

सम्राट की धार्मिक सहिष्णुता पर एक दृष्टि

सम्राट की इस सहिष्णुता की समीक्षा करते हुए राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं कि 'अशोककालीन विभिन्न धर्म सब एक ही वृक्ष की विभिन्न शाखाएँ थीं; वे यहूदी, जोरास्टर या इस्लाम धर्मों की तरह अलग-अलग न थे। अतः सम्राट का अन्य धर्मों के प्रति उदार भाव रखना कोई कठिन एवं विशेष श्रेय का विषय न था।' ¹¹ मुकर्जी की यह समीक्षा सम्राट की असीम उदारता तथा तादात्म्य भाव पर ही ठेस नहीं पहुँचाती अपितु यह उनके महान देवोपम सिद्धांत 'नास्ति हि क्रमतर सबलोक हितन', के महत्व को भी क्षीण करती है। स्मरण रहे सम्राट के समय में ही जब

बौद्ध धर्म में भेद होने के कारण परस्पर विरोध हो चला था, (महावंश, तृतीय महासभा, प्रकरण पांचवा) तो अन्य सम्प्रदायों और बौद्ध धर्म में भी विरोध रहा होगा? वेदविरोधी और अनीश्वरवादी होने के कारण ब्राह्मण और बौद्धों में विरोध होना स्वाभाविक था। इस कट्टर विरोध का इतिहास हम शंकराचार्य तक अंकित कर सकते हैं। हर्ष के समय, जैसा कि ह्वेनसांग के वर्णन से प्रकाशित है, बौद्धधर्म तथा ब्राह्मण धर्म के बीच परस्पर विरोध इतना बढ़ गया था कि ब्राह्मणों द्वारा एक बार बौद्धधर्म के महान संरक्षक महाराज हर्ष को मार डालने तक का प्रयत्न किया गया, किन्तु इसमें वे सफल न हो सके। अंततः शंकराचार्य ने बौद्धधर्म को समूल उखाड़ फेंका।¹² इसी भांति जैनियों और ब्राह्मणों में पारस्परिक विरोध रहा करता था, यह बात पुष्यमित्र शुंग के जैनियों का निर्दयतापूर्वक दमन करने से प्रमाणित होती है। जैनियों और आजीविकों में महावीर और गोसाल के समय से ही विरोध उत्पन्न हो गया था। आजीविकों का आचार्य गोसाल भले बुरे कर्मों को भाग्य पर आरोपित कर, मनुष्यों को उसका (अर्थात् भले-बुरे कार्यों का) जिम्मेदार न समझता था। महावीर इसके विपरीत थे। अतः पारस्परिक विरोध बौद्ध, जैन, आजीविक और ब्राह्मणों आदि सभी में मौजूद था। विदित हो कि तुलसीदास के समय में एक ही ब्राह्मण धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों, शैवों और वैष्णवों में घोर विरोध था। इसी कारण तुलसीदास को राम को शिवभक्त और शिव को राम भक्त प्रदर्शित करना पड़ा था। आजकल भी आर्य समाज और ब्राह्मण धर्म का पारस्परिक विरोध प्रत्यक्ष है। अतः जब शैव और वैष्णव तक परस्पर एक-दूसरे के मरणांतक विरोधी थे तो बौद्धों, ब्राह्मणों और अन्य सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध पाया जाना असंभव नहीं हो सकता।¹³ अतः यह सम्राट की महानता एवं विश्व कल्याण की ही भावना थी जो सब धर्मों तथा सम्प्रदायों को एक प्रेम-सूत्र में ग्रथित करने का प्रयत्न करती रही।

सम्राट की सहिष्णुता पर कुछ अन्य आक्षेप

प्रथम शिलालेख को पढ़ कर कोई यह कह सकता है कि सम्राट ने अहिंसा हेतु यज्ञ होमादि को रोक कर ब्राह्मणों से असहिष्णुता वरती। सम्राट पर यह दोष लगाना न्यायसंगत नहीं। उनके शिलालेख ब्राह्मणों के प्रति स्पष्टतः उदार भाव प्रकट करते हैं। अहिंसा का प्रचार और हिंसा का पूर्ण निषेध करने से सम्राट की सहिष्णुता पर कोई दोष नहीं आ सकता क्योंकि अहिंसा एवं सर्वभूतों पर दया भाव के ईश्वरीय सिद्धान्त का ब्राह्मण धर्म स्वयं प्रचार करता है। महाभारत, (शान्ति पर्व, राजधर्म प्रकरण 59, 40, 142) अहिंसा, सत्य, वास्तविकता, वृद्धों की सेवा, दान, पवित्रता, पौरुष, प्राणियों पर दया (अनुकम्पा सर्व भूतानुकंपा) का प्रचार करता है। इसी भांति मुंडकोपनिषद कहता है, 'प्लवाहचेतु अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त

भवयेयु कर्म एतच्छेयो येऽ भिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्यन्ते पुनरे वापियन्ति।' 16 ॥ (परिच्छेद 2) यह उपनिषद् भर्त्सना करते हुए कहता है कि 'जो यज्ञादि नाशवान् कर्मों को अथवा कर्ममार्ग को कल्याण देने वाले समझते हैं, वे मूर्ख हैं। उनका हर्षित अथवा प्रसन्न होना निरर्थक है क्योंकि वे बार-बार जरा मरण (जरा मृत्युम्) को प्राप्त होते हैं।' इसी भाँति बृहदारण्यक उपनिषद् (1, 4-40) बिना आत्मज्ञान के यज्ञ करने वालों को अज्ञानी बतलाता है। अतः हम कह सकते हैं कि सम्राट ने यज्ञ आदि कर्मों एवं पशुओं की हिंसा का निषेध कर ब्राह्मणों के प्रति असहिष्णुता नहीं दिखलाई, अपितु ब्राह्मणों के ही उच्च तथा निगूढ़ उपनिषदों के सिद्धांत का प्रचार किया।

9वें शिलालेख में मंगलों का निषेध किया गया है तथा उनकी जगह धर्म मंगल का विधान किया गया है। इस पर कुछ लोगों की यह सम्मति है कि यह कार्य भी ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध था,¹⁴ किन्तु यह सत्य नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मण धर्म अपने सत्य रूप में सर्व प्रकार के मिथ्या धर्मों से ऊपर है। मिथ्या धर्म का आधार अशिक्षित समाज है और ऐसा धर्म अशिक्षितों में ही आश्रय पा सकता है। यही सम्राट ने भी कहा है। 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि लोग बहुत से मंगल मनाते हैं। बीमारी की अवस्था में, व्याह के समय, जन्म दिवस पर, विदेश जाते समय, इन तथा अन्य अवसरों पर लोग अनेक प्रकार के मंगल मनाते हैं। किन्तु ऐसे अवसर पर माताएं और स्त्रियाँ, अनेक प्रकार के निरर्थक मंगल किया करती हैं। ये बहुत कम फल देने वाले हैं, किन्तु धर्म मंगल से बड़ा लाभ होता है। धर्म मंगल में ये बातें हैं - नौकरों और दासों के प्रति उचित व्यवहार, गुरुओं की सुश्रुषा, अहिंसा, ब्राह्मण और श्रमणों के प्रति उदारता आदि।' (शिलालेख 9वां)। ब्राह्मणों के प्रति उदारता दिखलाने को धर्म मंगल के अन्तर्गत रखना क्या ब्राह्मण धर्म का विरोध प्रकट करता है? स्पष्ट है कि क्षुद्र मंगलों का निषेध किसी के प्रति विरोध उत्पन्न करने के लिए न था और न उसमें असहिष्णुता का ही भाव था। सम्राट के समय बहुत से मिथ्या धर्म प्रचलित थे जैसे - भूत-प्रेत, यक्ष-किन्नर, अश्व, कुत्ता आदि की उपासना और इस कारण समाज में क्षुद्र धर्म का प्रचार बढ़ चला था। अतः सम्राट चाहते थे कि लोग न्यून फलदायक मिथ्या मंगलों को छोड़ कर धर्म मंगल किया करें 'क्योंकि उसमें इहलोक में भी सिद्धि प्राप्त होती है और परलोक में अनन्त पुण्य मिलता है' (9वां शिलालेख)।

सम्राट की सहिष्णुता के प्रति एक और विचारणीय प्रश्न है। सम्राट ने जब प्राणियों की हिंसा का पूर्ण निषेध करवा दिया था, तब प्राणदण्ड को क्यों बना रहने दिया? चतुर्थ स्तम्भ लेख में सम्राट कहते हैं, 'बन्धन में पड़े हुए फांसी के कैदी, जिनका न्याय हो चुका है, मैंने उनको तीन दिन आराम के दिये हैं। इन तीन दिनों

के भीतर उनके संबंधी रज्जुकों को फिर से न्याय करने के लिए कह सकते हैं और यदि ऐसे कैदियों का कोई संबंधी न हो, जो उनके न्याय का फिर से निवेदन करे, तो वे कैदी अपने परलोक के सुख हेतु दान देंगे, क्योंकि मेरी अभिलाषा है कि तीन दिन आराम के वीत चुकने पर वे परलोक (स्वर्ग) प्राप्त कर सकें।' इससे प्रकट है कि सम्राट ऐसे अपराधी मनुष्यों के प्रति भी यथेष्टया उदार थे। सम्राट की अनुकम्पा नहीं चाहती थी कि कोई फांसी पायें, इसलिए चतुर्थ लेख में फिर से न्याय करवाने की अनुज्ञा प्रदान की गई है। लेकिन यदि कोई फांसी से न बच पाये, तो उसके लिए दान करने का विधान दिया गया है, जिससे उन्हें कम से कम स्वर्गीय सुख तो उपलब्ध हो सकें। निःसन्देह सम्राट का सर्वकल्याण से बढ़ कर और कोई कार्य न था (नास्ति हि क्रमतर सब्रलोक हितेन)। उनको सर्व प्राणियों (सर्वभूतों) के त्राण (मंगल) में ही सत्य धर्म की अनुभूति हुई। उनके पावन शब्दों में 'सर्वभूतानां अछति च, सयमं च, मादवं च' यही धर्म एवं उपासना का मूल मंत्र है।



अध्याय-6

बौद्ध धर्म के प्रचारक अशोक

ईसा से कोई पांच शताब्दी पूर्व लुम्बिनी वन में महापुरुष सिद्धार्थ का जन्म हुआ था। संसार की दुःखजनित उष्ण उसांसों से इस महापुरुष का जी घबड़ा उठा और अन्ततः एक दिन विश्व कल्याण के उत्तरदायित्व का भार अपने कोमल कन्धों पर लेकर अर्द्धरात्रि के मध्य अपनी नवप्रसूता सोई हुई वल्लभा और लाडले राहुल को छोड़ कर सिद्धार्थ घर से निकल गये। विश्व शान्ति और मंगल की खोज में इस महापुरुष को अपूर्व कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। शाक्य महामुनि के इस अद्वितीय त्याग का सम्पूर्ण विश्व ने लाभ उठाया। इस राजर्षि को गया के पास अश्वत्थ वृक्ष के नीचे अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति हुई। सिद्धार्थ अब बुद्ध हुए। बुद्ध होने के अनन्तर भगवान ने सर्वमंगल की अभिलाषा की। गौतम ने अपने शिष्यों से कहा था, 'हे भिक्षुगण! विश्व मंगल और कल्याण के लिए इधर-उधर भ्रमण करो। किन्तु दो, एक ही मार्ग से न जाना। हे भिक्षुगण! तुम सर्व मांगलिक, सर्व उत्तम सिद्धांत का सर्वत्र प्रचार करो। पुण्यमय, आतपरहित और विशुद्ध जीवन का सर्वत्र विस्तार करो' (महावंश, पृ.188)।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बुद्ध धर्म का प्रचार बुद्ध से ही प्रारम्भ हो गया था। भगवान के जीवन काल में ही बौद्धधर्म सर्वत्र अपना प्रसार करने लगा था, किन्तु उसका अभी सम्पूर्ण भारत एवं विदेशों में पूर्णता से विस्तार न हो सका था। इस पूर्णता का श्रेय प्रथमतः सम्राट अशोक को ही प्राप्त है। सम्राट की इस धर्मपूर्णता के प्रति महावंश लिखता है, 'दूसरी महासभा के आचार्यों ने भविष्यवाणी की थी कि सम्राट अशोक धर्म सम्पन्न और बौद्ध रक्षक होंगे' (महावंश, प्रकरण पांचवां)।

बौद्ध अशोक

पिछले दो प्रकरणों से भली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि सम्राट अशोक बौद्धधर्मी थे और उन्होंने बौद्धधर्म के साधारण उपासकों अथवा गृहस्थों के धर्म को ही अपना धर्म अंगीकृत किया था। इस धर्म-प्रचार में जो उत्साह एवं पराक्रम सम्राट ने प्रदर्शित किया, वह अद्वितीय है। इस पराक्रम का ब्रह्मगिरि शिलालेख प्रथम में निर्देश किया गया है। इस प्रकरण में हम सम्राट के धर्म-पराक्रम का वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि बौद्ध धर्म-प्रचारक के रूप में सम्राट ने कितना उद्यम और कार्य किया।

बौद्ध धर्म के प्रचारक अशोक

सम्राट की मौलिकता तथा दूरदर्शिता प्रशस्त एवं सराहनीय है। धर्म की अभिवृद्धि किस प्रकार हो सकती है तथा वह किन कारणों से चिरजीवी हो सकती है, इसका सम्राट को पूर्ण ज्ञान था। इसका परिचय हमें 7वें स्तम्भ लेख से प्राप्त होता है - 'सम्राट विचारते हैं कि किस प्रकार लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति हो सकती है। मैं किन कारणों से उन्हें धर्म के साथ उन्नत बना सकता हूँ। इस पर विचार कर देवताओं का प्रिय कहता है, मुझे ज्ञात हुआ कि धर्मानुशासन प्रकाशित कराऊंगा, मैं धर्म की शिक्षा दूंगा और लोग इन धर्म सन्देशों को सुन कर उन पर आचरण करेंगे, अपना उत्कर्ष करेंगे और धर्माचरण करते हुए आगे बढ़ेंगे। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है, मैंने यह विचार कर धर्म स्तम्भ स्थापित किए, धर्म महामात्रों की नियुक्ति की और धर्म लेख लिखवाये। धर्म के ये लेख पाषाण स्तम्भों तथा पाषाण शिलाओं पर लिखे जाने चाहिए, जिससे वे (धर्म लेख) चिरस्थायी हों, इस प्रकार प्रकट है कि सम्राट ने धर्म के प्रचार एवं प्रसार के लिए एक सुव्यवस्थित योजना बना ली थी।

धर्म कल्याण एवं मंगल की भावना से प्रेरित होकर सम्राट ने धर्म प्रचार के लिए जिस उत्साह और पराक्रम के साथ उद्योग किया, वह गौण शिलाभिलेख प्रथम से स्पष्ट है - 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लगभग ढाई साल मैं उपासक रहा। इस समय मैंने कुछ पराक्रम न किया, किन्तु संघ की यात्रा किये लगभग एक साल से अधिक हुआ, तबसे मैंने बहुत उद्योग अथवा पराक्रम किया। इस समय के दौरान जम्बूद्वीप के जो लोग देवताओं से परिचित न थे, अब परिचित हो गये हैं। पराक्रम (उद्योग) का यही परिणाम है। केवल महान व्यक्ति ही इस कार्य को नहीं कर सकते हैं, बल्कि छोटे लोग भी सतत् पराक्रम से स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं।' इस शिलालेख से प्रकट होता है कि सम्राट ने धर्म के लिए किस तरह पराक्रम किया और उसका क्या परिणाम हुआ। इस धर्म प्रचार का प्रथम परिणाम जम्बूद्वीप के मनुष्यों एवं देवताओं के बीच पारस्परिक संबंध स्थापित होना था। दूसरा फल स्वर्ग का मिलना था। मनुष्यों और देवताओं के मध्य पारस्परिक संबंध होने से यहां पर क्या तात्पर्य है? इस विषय पर डा० एफ० डब्लू० थामस लिखते हैं अशोक यह व्यक्त करना चाहते थे कि एक साल के लगभग उन्होंने ब्राह्मणों के देवताओं को उन लोगों से अर्थात् जंगली जातियों से, जो अब तक उनसे अपरिचित थे, परिचित करा दिया।¹ भंडारकर का मत है कि अशोक के धर्मानुशासन का अनुसरण करने से लोग पुण्यात्मा हो चले। अतः उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई और वहां उनको देवताओं का सानिध्य प्राप्त हुआ।² राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं - इस

समय (ढाई वर्ष) के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से भिन्न थे अथवा अलग थे या दूर थे अर्थात् जिनका न कोई धर्म था, न देवता थे, वे देवताओं से सम्बन्धित हुए अर्थात् वे धार्मिक होकर देवताओं की पूजा करने लगे। इस समय के भीतर देवताओं और उनके बीच का झगड़ा जम्बूद्वीप में शांत हुआ। अर्थात् सम्राट की धार्मिक सहिष्णुता से विभिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक विरोध का अंत हुआ और उनमें मेल स्थापित हुआ।

हमारी सम्मति में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जम्बूद्वीप के मनुष्यों और देवताओं का पारस्परिक संबंध किस विषय का परिणाम था? वस्तुतः वह उस धर्म का ही फल था (ब्रह्मगिरि, शिलालेख प्रथम), जिसका प्रचार पूर्ण उत्साह के साथ संघ में प्रविष्ट होने के अनन्तर किया गया था। यह धर्म क्या था? द्वितीय स्तम्भ लेख कहता है - 'धर्म क्या है? अपासनीव अर्थात् पाप कृतों (उग्रता, हिंसा, क्रूरता, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, दर्प आदि) से बचना, सुकृत करना, कृपालुता अथवा उदारता, दान, सत्यता और विशुद्धता।' आठवें और नवें शिलालेख के अनुसार - 'समाचरण (सबके साथ समान आचरण या बर्ताव करना), सेवा, अहिंसा, दान आदि भी धर्म के अन्तर्गत माने गये हैं।' अतः इस धर्म निरूपण के अनुसार सम्राट के धर्म की दो वृत्तियां अथवा रूप हैं - एक अच्छा रूप या सद्वृत्ति, दूसरा बुरा रूप (अपासनीव) अर्थात् असद्वृत्ति।

1. सद्वृत्ति के लक्षण हैं- सुकृत, एकरूपता (समान भाव), कृपालुता, उदारता, दान, सत्यता, विशुद्धता, अहिंसा आदि।
2. असद्वृत्ति के लक्षण- हिंसा, क्रोध, उग्रता, क्रूरता, अहंकार, ईर्ष्या आदि।

धर्म और अधर्म (पुण्य और अपुण्य) अथवा सद और असद वृत्तियां मनुष्यों में स्वभावतः पायी जाती हैं। इसी लिए तीसरा स्तम्भ लेख लिखता है - 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, लोग अपने ही सुकृतों को देखते हैं और विचारते हैं कि यह सुकृत अथवा पुण्य मैंने किया है। किन्तु वे कभी अपने दुष्कर्मों को विचारते हुए यह नहीं कहते कि यह पाप (अपुण्य अथवा दुष्कर्म) मैंने किया है अथवा यह आसीनव मेरे द्वारा हुआ है।' यह देखना है भी अंत्यत कठिन। निःसन्देह संसार में ऐसे लोग बहुत कम दिखाई पड़ते हैं जो अपने पापों को देखते हैं और उन पर विचार करते हैं। यह तो दादू ही कह सकता था, 'महा अपराधी एक मैं, सारे इहि संसार। अवगुण मेरे अति घने अन्त न पावे पार।'।

उक्त दो प्रवृत्तियां किसी मनुष्य में अधिकता और किसी में अल्पभाव से पायी जाती हैं। मानव मन में दो वृत्तियों का हमेशा संघर्ष होता रहता है। मनुष्य की बुरी वृत्तियों के प्रबल होने से वह अहंकारी, क्रूर, ईर्ष्यालु, उग्र, भीषण,

अमर्यादित, असंयमी और सम्राट के शब्दों में आसीन हो जाता है। असद्वृत्तियाँ मनुष्य को पैशाचिक बना डालती हैं क्योंकि उसमें काम, क्रोध, लोभ आदि अवगुण उत्पन्न हो जाते हैं। अतः कामी पुरुष अथवा पापी पुरुष देवताओं या भगवान से अक्षम्य एवं तिरस्कृत हो दूर हटते जाते हैं। कबीर कहते हैं, 'और गुनह हरि बकससी, कामी डार न सूर।' भगवान सम्भवतः और पापों को क्षमा कर सकता है, किन्तु कामी का वह जड़ (मूल) से नाश कर देता है। फलतः परमात्मा और पापियों का परस्पर संबंध अथवा योग होना दुष्कर है। इसीलिए सम्राट कहते हैं कि 'मनुष्यों को अपने दुष्कर्मों अथवा पापों पर दृष्टि रखनी चाहिए, जिससे वे पाप कृत्यों में न फँसे। वे कहते हैं आसीन हो अथवा पाप के ये कारण हैं - उग्रता, क्रूरता, क्रोध, हिंसा, अहंकार, दर्प, ईर्ष्या इत्यादि। अतः इन कारणों से अपनी क्षति अथवा विनाश न करना चाहिए। इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि यह मेरे इहलोक के सुख का कारण है तथा परलोक के सुख का हेतु।' (स्तम्भ लेख, तीसरा)। निस्सन्देह इन लक्षणों से रहित होकर ही मनुष्य की आत्मा प्रसन्न हो सकती है और वह इस लोक में सुखी और परलोक में भी सुख प्राप्त कर सकता है। आत्मशुद्धि होने के फल से ही हृदय में तादात्म्य एवं विश्वभाव पैदा होता है, जिसके फलस्वरूप मैं और तू का भेद नहीं रहने पाता। यही तादात्म्य-भाव परमात्मा, पूर्णदेव से योग कराता है। इसी से कबीर कहते हैं - 'आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरवान', अर्थात् जब मुझे यह अनुभूति हुई कि मैं और तू में भेद नहीं है या जब मैंने सबमें एकरूपता देखी, तभी मुझको निर्वाण-पद प्राप्त हुआ। इसी तादात्म्य भाव में आगे बढ़ते हुए कबीर पुनः कहते हैं - 'जेति औरत मरदां कहिए सब में रूप तुम्हारा।' फलतः धर्म से आत्मशुद्धि होने के कारण तादात्म्य-भाव की उत्पत्ति होती है और तादात्म्य से पुनः एकरूपता उत्पन्न होती है एकरूपता से तू और मैं, अन्य का भाव जाता रहता है और जब यह स्थिति आती है तो सब एक हो जाता है। अतः जब सब एक हो जाता है तो मनुष्यों देवताओं आदि का कोई भेद नहीं रह पाता। फलतः मनुष्य जब इस दशा को पहुँचता है, तो उसका भगवान अथवा दैव (देवताओं) से योग हो जाता है और पारस्परिक सम्बंध की स्थापना हो जाती है।

देवता की परिभाषा सद्गुणों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों अथवा धर्म लक्षणों के समुदाय में है अर्थात् सद्गुणों के समुदाय का नाम ही देवता है। अतः जिस मनुष्य के भीतर समवेत रूप में सद्गुणों का पूर्ण उदय होता है, वह व्यक्ति देवता हो जाता है अन्यथा असुर या पापी। भगवान बुद्ध सद्गुणों के पूर्ण उदय होने से पहले सिद्धार्थ थे, किन्तु बुद्ध अथवा भगवान वे तभी हो सके, जब उनकी पूर्ण सद्गुणियाँ जागृत हो उठीं, उनका तादात्म्य भाव इतना व्यापक हो चला कि वे सबमें और सब उनमें रम गये। लेकिन जिनके भीतर बुरी प्रवृत्तियाँ ही बल पकड़ती हैं,

वे असुर में परिणित हो जाते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् कहता है- 'द्वैया ह प्रजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कनीपसा एवं देवा जायसा असुरास्त एषु लोकेष्वः स्पर्धत शतं शयाः।' देवताओं और असुरों में सौ वर्ष की लड़ाई हुआ करती है। स्मरण रहे यह लड़ाई युद्ध क्षेत्र में दो दलों के बीच नहीं होती। इसका आध्यात्मिक भाव³ ग्रहणीय है। मनुष्य की आयु सामान्यतया सौ वर्ष की मानी गयी है। इन सौ वर्षों तक मनुष्य के बुरे और भले विचारों में संघर्ष होता रहता है। वस्तुतः यहां पर देवताओं से अभिप्राय भली प्रवृत्तियों से है और असुरों से बुरी प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है। अतः देवताओं (सद् वृत्तियों) और असुरों (असद् वृत्तियों) के मध्य युद्ध मनुष्यों के मन में ही हुआ करता है। इस युद्ध में जो वृत्ति विजयी होती है, वही मनुष्य के चरित्र के स्वरूप का कारण बनती है। यदि मनुष्य की बुरी प्रवृत्तियां जीतती हैं तो मनुष्य असुर हो जाता है, यदि उसकी अनतःकरण की सद्वृत्तियां विजयी होती हैं, तो मनुष्य देवता हो जाता है। यही देवता एवं असुरों की लड़ाई एवम् हार-जीत है। बुरी और भली प्रवृत्तियों के विजयी होने के कारण अधर्म तथा धर्म ही हैं। फलतः सम्राट का अभिप्राय सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि उनके धर्म प्रचार के परिणाम स्वरूप लोग धर्म पर आचरण करने लगे और इस धर्माचरण के कारण उनकी बुरी प्रवृत्तियों का नाश हुआ, भली प्रवृत्तियां जागृत हुई, जिस कारण उनका देवताओं (सद् वृत्तियों) से संबंध स्थापित हुआ या वे देवता हो गये।

सम्राट ने किस प्रकार इन सद्वृत्तियों अथवा धर्म का प्रचार किया, इसका निर्देश चतुर्थ शिलालेख करता है 'बहुत समय व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए कि जीवों की हिंसा, प्राणियों के प्रति क्रूरता, सम्बंधियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति अनादर बढ़ता गया, किन्तु आज देवताओं के प्रिय धर्माचरण के कारण वीरघोष, धर्म घोष हुआ और प्रजा को विमान, श्वेत हाथी, अग्निस्कंध तथा अन्य दिव्य रूपों के दर्शन कराये गये।' इस विवरण से स्पष्ट होता है कि सम्राट ने प्रथमतः धर्म प्रचार का कार्य दिव्य रूपों के दर्शन द्वारा आरम्भ किया। जनता को इन दिव्य रूपों का दर्शन करवा कर सम्राट यह व्यक्त करना चाहते थे कि धर्माचरण का परिणाम परम आनन्द और स्वर्गीय उपहारों की उपलब्धि है। धर्माचरण से स्वर्ग के अनंत सुख की प्राप्ति होती है एवम् मनुष्य दिव्य रूप हो जाता है। इस प्रकार प्रथम अपने विजित राज्य में सम्राट धर्म प्रचारक के रूप में प्रविष्ट हुए क्योंकि विदेशों से पूर्व अपने राज्य में धर्म का प्रचार एवं प्रसार होना आवश्यक तथा अनिवार्य था। भंडारकर की राय है कि सम्राट जनता को शासन काल के अन्त तक दिव्यरूपों के दर्शन कराते रहे, किन्तु हमारी सम्मति में यह संदेहात्मक मालूम होता है। सम्राट ने कुछ समय बाद इन दिव्य रूपों का दिखलाना बंद करवा दिया क्योंकि ये दिव्य रूप समाज में ही प्रदर्शित किये जाते थे और बुरे समाजों के कारण अशोक को

अनेक समाजों का निषेध कर देना पड़ा। प्रथम शिलालेख लिखता है — 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने यह धर्म लिपि लिखवाई। यहां किसी जीव का होम न किया जाय, न समाज मनाये जायें क्योंकि देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी समाज में कई बुराइयों को देखता है, यद्यपि कुछ समाज ऐसे भी हैं जिन्हें देवताओं का प्रिय अच्छा समझता है।' अच्छे समाज से यहां पर उन्हीं समाजों से तात्पर्य है जो धर्म के अनुरूप थे अथवा जिन समाजों में पूर्वनिर्दिष्ट दिव्यरूपों का दर्शन कराया जाता था। अतः जब समाज बन्द करवा दिये गये तो दिव्य रूपों का शासन के अन्त तक प्रदर्शित किया जाना संभव नहीं प्रतीत होता। दिव्य रूपों (विमान, हरित, अग्नि स्कंध आदि) के प्रदर्शन से लोग यथेष्ट संख्या में बौद्धधर्म की ओर झुके होंगे, इसमें संदेह नहीं। साधारण जनता को स्वर्गीय दिव्य रूपों के उपहार का प्रलोभन अवश्य ही उन्हें धर्मपथ पर खींच लाता रहा होगा। फलतः लोग इतनी अधिक संख्या में बौद्ध धर्म को ग्रहण करने लगे कि सम्राट स्वयं यह देख कर आश्चर्यान्वित हो उठे (गौण शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरि)।

मोग्गलायन के संबंध में बौद्धसाहित्य में एक कथा दी गई है, जिस से प्रकट होता है कि सम्राट द्वारा दिव्यरूपों के प्रदर्शन का अत्यधिक प्रभाव पड़ना कोई असत्य एवम अनोखी बात न थी। कथा इस प्रकार है, मोग्गलायन बुद्ध भगवान के प्रमुख शिष्यों से था। वह धर्म प्रचार के कार्य में अद्वितीय था। उसने अगणित संख्या में लोगों को बौद्ध धर्म में परिणत किया था। इस कारण अन्य धर्मावलम्बी लोग उससे ईर्ष्या करने लगे। अतः विरोधी सम्प्रदाय वालों ने उसका अंत करना चाहा। उन्होंने मोग्गलायन के वध के निमित्त एक हत्यारे को भी नियत किया। भोग्गलायन की शक्ति देवोपम थी। अपनी इस अलौकिक शक्ति से वह स्वर्ग जाया करता था। वहां पहुंच कर वह देवताओं से उनके उच्च पद पाने का कारण पूछा करता था। इसी भांति वह नरक में भी जाया करता था और वहां के दुखार्त जीवों से उनके दुखः का कारण पूछता था। इसके अनन्तर वह पृथ्वी में लौट आता था। यहां पर वह लोगों से अपनी इस यात्रा तथा स्वर्ग और नरक के कारणों का वर्णन किया करता था। इस वर्णन का लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे अगणित संख्या में बौद्ध धर्मी हो गये। अतः सर्वथा स्पष्ट है कि जब एकमात्र मौखिक वर्णन का ऐसा प्रभाव होता था तो साक्षात् स्वर्गीय उपहारों और दिव्यरूपों के प्रदर्शन का कितना प्रभाव पड़ता होगा।

धर्म प्रचार का दूसरा उपकरण

'प्राचीन काल में देवताओं के प्रिय राजा लोग विहार-यात्रा को निकलते थे। इस विहार-यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही मन बहलाव की बातें हुआ करती थीं, किन्तु प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के 10वें वर्ष संवोधि (बुद्ध गया) की यात्रा

की, तबसे धर्म यात्राएं आरम्भ हुई हैं। इसमें ये बातें होती हैं—श्रमणों और ब्राह्मणों का दर्शन तथा उन्हें दान देना, वृद्धों का दर्शन और उनको सोने का दान, जनता का दर्शन, उन्हें धर्म शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय तो इसी धर्म पर जिज्ञासा।' इस सन्दर्भ से प्रकट है कि धर्म प्रचार हेतु सम्राट ने धर्म यात्राएं प्रारम्भ कीं। धर्म यात्रा का स्पष्ट उद्देश्य था लोगों में धर्म जिज्ञासा और जनता में धर्म का प्रचार। सम्राट के इस प्रकार स्वयं धर्म प्रचार करने का जो परिणाम हुआ, वह चतुर्थ शिलालेख से सर्वथा स्पष्ट है (बहुविधि धर्माचरण वधेति)।

धर्म का प्रचार बढ़ाने के अन्य उपायों पर विचार करते हुए 7वें स्तम्भ लेख में सम्राट कहते हैं - 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है, विगत काल के राजाओं की इच्छा थी कि लोग धर्म के साथ उन्नति करें किन्तु लोगों में धर्म की उन्नति न हो सकी। इस पर देवताओं का प्रिय कहता है मुझे यह विचार हुआ कि विगत काल में राजाओं ने इस प्रकार अभिलाषा की कि किस प्रकार लोक की उन्नति के साथ आगे बढ़ें, किन्तु लोगों में धर्म की यथेष्ट उन्नति न हो सकी। फिर किस प्रकार लोगों में धर्म का प्रचार किया जाय? किस प्रकार लोगों को धर्म सहित उन्नत बनाया जाय? मैं उन्हें कैसे धर्म के साथ उच्च बनाऊँ? इस पर देवताओं का प्रिय इस प्रकार कहता है, मैंने यह विचार किया कि मैं धर्म संदेशों अथवा अनुशासनों को प्रकाशित करवाऊँगा तथा धर्म विधान अथवा धर्म की शिक्षा दूँगा। धर्म की इन शिक्षाओं को सुन कर लोग उन पर आचरण करेंगे और इस प्रकार वे धर्म के साथ उन्नत होंगे।' 'इसी कारण मैंने धर्मानुशासन प्रकाशित किये हैं तथा अनेक प्रकार से धर्म की शिक्षा दी है। मेरे पुरुष भी, जो हजारों मनुष्यों के ऊपर शासन के लिए नियत हैं, धर्म प्रचार एवं प्रसार करेंगे, रज्जुक को भी जो सौ सहस्र प्राणियों के ऊपर शासन के लिए नियत हैं, मैंने इस प्रकार शिक्षा दी है कि वे धर्मानुरक्त लोगों को धर्म की शिक्षा दें तथा उन्हें धर्म के प्रति उत्साहित करें। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि यह विचार कर मैंने धर्म स्तम्भ, धर्म महामात्र स्थापित किये तथा शिलालेखों को लिखवाया।' अतः सुस्पष्ट है कि धर्म प्रचार हेतु सम्राट ने तीन और शिलालेखों को लिखवाया। धर्म प्रचार के हेतु सम्राट ने तीन और उपायों से काम लिया है, 1. धर्मानुशासन, धर्म लिपि, धर्म स्तम्भ, 2. धर्म विधान, 3. धर्म महामात्र। इनमें धर्म महामात्रों का धर्म-प्रचार में प्रमुख कार्य था। जिस समय धर्म-प्रचार का भार सम्राट ने अपने कंधों पर लिया, उस समय विभिन्न सम्प्रदायों में पारस्परिक विरोध विद्यमान था। वे परस्पर लड़ते रहते थे। यद्यपि सब धर्मों का लक्ष्य एक था, किन्तु सैद्धांतिक विषय पृथक-पृथक थे और यही विरोध का भी कारण था। सम्राट को इस विषय का पूर्ण ज्ञान था कि धर्म प्रचार और धर्म विस्तार होना तभी संभव हो सकता है जबकि विभिन्न सम्प्रदायों में शान्ति रहे तथा सर्व धर्मों में एक दूसरे के विचारों को सुनने एवं ग्रहण करने की सहिष्णुता

हो। अतः सम्राट ने सर्वप्रथम इसी विरोध को रोकने का उद्यम किया और इसी तात्पर्य से उन्होंने धर्म महामात्रों की प्रथमतः नियुक्ति की। पांचवें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'पहले धर्म महामात्र नियत न थे, किन्तु अभिषिक्त होने के 13वें वर्ष मैंने धर्म महामात्रों को नियत किया। वे सब धर्मों अथवा सम्प्रदायों के लिए नियत हैं। वे धर्म स्थापना अथवा धर्म की देखभाल और धर्म की वृद्धि तथा धर्म पर आचरण करने वालों के सुख एवं हित के लिए नियत हैं।' (मानसेरा)

इस प्रकार, धर्म महामात्रों का प्रथम कार्य विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल स्थापित करना तथा उनके हित का ध्यान रखना था। बौद्ध धर्मग्रंथ संयुक्तनिकाय में सार्वजनिक हित के कुछ कार्यों का निर्देश किया गया है, जैसे रेणु-रुद्ध या रेगिस्तानी प्रान्तर में वृक्ष लगवाना, फल-फूलों के पौधे रोपना, कुएं खुदवाना, धर्मशालाएं बनवाना, औषधालय निर्माण करवाना आदि। इन्हीं सार्वजनिक हित के कार्यों का 7वें स्तम्भ लेख में सम्राट ने उल्लेख किया है। इन सार्वजनिक कार्यों के सम्पादन का भार भी धर्म महामात्रों पर था। 7वां स्तम्भ लेख लिखता है, 'मेरे धर्म महामात्र अनेक प्रकार के हित कार्यों में नियुक्त हैं।' इन हित-कार्यों का उद्देश्य धर्म का प्रचार और धर्म की वृद्धि था। निःसन्देह बौद्ध धर्म की सार्वलौकिक कल्याण एवं धर्म-अभिवृद्धि भावना से प्रेरित एवं प्रभावित होकर नागरिकों का उस धर्म (बौद्धधर्म) की ओर झुकना व बढ़ना स्वाभाविक था। निर्विवाद रूप से सर्वहित के कार्यों द्वारा अशोक को अपने धर्म के प्रचार-प्रसार में यथेष्ट सहायता मिली होगी। सम्राट के साथ उन के कौटुम्बिक-जनों के दान धर्म के लोक कल्याणकारी कार्यों ने भी जनता में धर्म भाव जगा कर उन्हें धर्माचरण के लिए प्रेरित किया होगा।

सम्राट और उन के कुटुम्बियों के दान आदि कल्याण कार्यों के संपादन हेतु सर्वत्र धर्ममहामात्र नाम के राजपुरुष नियुक्त थे। पांचवें शिलालेख में कहा गया है कि 'धर्ममहामात्र यहां (पाटलिपुत्र) और बाहर के नगरों में सब अवरोधनों (अंतःपुरों) में भाइयों, बहिनों और अन्य जाति वालों (जाति बंधुओं के अंतःपुरों) में (वे) नियुक्त हैं। धर्ममहामात्र भृत्यों, आर्यों⁴ (स्वामियों), ब्राह्मण, क्षत्रियों, वैश्यों या गृहपतियों⁵, अनाथों व वृद्धों (आदि) एवं धर्मयुक्तों⁶ (धर्म में निष्ठा रखने वालों) के हित सुख के लिए नियुक्त हैं। प्रकट है कि धर्ममहामात्रों को राजा और उसके परिवार वालों के दान वितरण के साथ-साथ सभी वर्गों और वर्णों के हित-सुख के लिए राज्य की तरफ से अनेक तरह के कल्याण कार्य करने होते थे।

सातवें स्तम्भ लेख में स्पष्टतः कहा गया है - 'अन्ये च बहुका मुखा', अर्थात् अन्य बहुत से मुख्य कर्मी (दान अधिकारी, महामात्र) दान वितरण में नियुक्त हैं। वे मेरे और देवी (प्रथम अथवा पटरानी) के दान वितरण में नियत हैं। वे मेरे सभी अवरोधनों में बहुत प्रकार और आकार के तुष्टिकारक कार्यों को संपादित करते हैं।

राज परिवार की महिलाओं के दान वितरण के लिए यह व्यवस्था की गयी। दूसरे देवी कुमारों के दान वितरण के लिए (महामात्र) नियुक्त होंगे' (पंक्ति 29)।

रानी लघु स्तम्भ लेख में सम्राट अशोक की द्वितीय रानी कारुवाकी के अनेक तरह के दान कार्यों का उल्लेख है। इसमें अशोक ने आदेश दिया है कि 'सर्वत्र महामात्रों को कहना चाहिये, ये जो द्वितीय देवी के दान हैं (यथा) आमवाटिका, आराम (विश्राम गृह या विहार), दानगृह आदि (अन्य कुछ) ये सब देवी (कारुवाकी) के नाम से लिखे (या गिने) जाने चाहिये। द्वितीय देवी, तीवर की माता, कारुवाकी की यह इच्छा है।' प्रकट है कि सम्राट अशोक के साथ-साथ उनकी रानियों, कुमारों, भाई-बहिनों व संबंधियों ने धर्म और दान का प्रजा के सामने जो आदर्श उपस्थित किया, उसका लोगों पर, जैसा कि अशोक चाहते थे, वांछित प्रभाव पड़ा होगा और परिणामतः जनता की धर्म में प्रीति जगी और बढ़ी होगी।

धर्म के प्रचार-प्रसार में धर्ममहामात्र व धर्म के मुख्य अधिकारियों के अलावा राज्य के अन्यान्य प्रमुख राजपुरुषों का भी यथेष्ट योगदान रहा। जनता में धर्माचरण, संयम और दान की प्रवृत्ति जगे व बढ़े, इसके लिये अशोक ने राज्य के विभिन्न उच्चाधिकारियों अथवा राजपुरुषों (यथा युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक) को राजकाज के साथ यह दायित्व भी सौंपा था कि वे प्रति पांचवें वर्ष अन्य कार्यों के साथ-साथ धर्म-अभिवृद्धि के लिए अपने जनपदों का दौरा किया करें। तृतीय शिलालेख (गिरनार) में अशोक कहते हैं, 'अभिषेक के बारह वर्ष पश्चात् ऐसी आज्ञा मेरे द्वारा दी गयी। मेरे राज्य में सर्वत्र युक्त, रज्जुक और प्रादेशिक पांच-पांच वर्ष पर धर्म-अभिवृद्धि के लिए, तथा अन्य कार्य के लिए दौरे पर जाय।' चतुर्थ स्तम्भ लेख में, जो अशोक द्वारा अभिषेक के छब्बीस वर्ष बाद प्रेषित हुआ था, रज्जुकों को जन और जनपद को हित-सुख पहुंचाने और लोगों के इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिए जनपदवासियों को उपदेश देने का आदेश है।

प्रथम स्तम्भ लेख में अशोक अपने समस्त (राज) पुरुषों (उत्कृष्ट, गम्य और मध्यम) के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'वे मेरे (धर्म) का अनुसरण करते हैं और संपादन करते हैं (और) वे चपल व्यक्तियों द्वारा भी (धर्माचरण) कराने में समर्थ हैं। इसी प्रकार अंत महामात्र भी (करेंगे)। यही विधि धर्म द्वारा (प्रजा) पालन, धर्म द्वारा संविधान, धर्म द्वारा सुखीयन (सुखी बनाना) और धर्म द्वारा गुप्ति (रक्षा) के सम्बन्ध में सम्भव है।'।

जनों (लोगों) अथवा मनुष्यों में धर्म भाव जगाने और उन्हें भगवान तथागत के कल्याणमय अहिंसा मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा देने में सम्राट अशोक द्वारा पशु-पक्षी व जलचर आदि जीवों के प्रति किये गये हित-कार्यों का भी महत्वपूर्ण योग रहा। पशु-पक्षी आदि जीवों के प्रति कल्याण कार्य दो प्रकार के थे—एक प्राणियों

के प्रति संयम व अहिंसा (शिलालेख 1,3,4,9 और 11 तथा स्तम्भ लेख) और दूसरा उन का मंगल अथवा रक्षण (शिलालेख 2 और स्तम्भ लेख 2 व 5)।

प्रथम शिलालेख में अशोक ने अपने साम्राज्य में होम (यज्ञ) के लिए पशुओं को न मारने का आदेश दिया है, 'इध (साम्राज्य) न किं जीवं आरभित्या प्रजृहितव्यं (2 पंक्ति)। कतिपय विद्वानों ने अशोक के इस आदेश को ब्राह्मण धर्म विरोधी इंगित किया है। उनका तात्पर्य है कि ब्राह्मण यज्ञों में पशु बलि दिया करते थे, इसलिये बलि देने पर रोक लगा कर अशोक ने ब्राह्मण धर्म को दवाने की चेष्टा की, किंतु ऐसा समझना भूल है। अशोक का अभिप्राय यज्ञों को रोकना नहीं, यज्ञों में हिंसा को रोकना था। ब्राह्मण धर्म में स्वयं हिंसात्मक यज्ञों को निन्दनीय बताया गया है और यज्ञों के अहिंसात्मक स्वरूप की प्रशंसा की गयी है। महाभारत में कहा गया है कि सात्विक पुरुष ब्रह्मधाम को प्राप्त होते हैं। उन्हें स्वर्ग की इच्छा नहीं होती, वे यश और धन के लिए यज्ञ नहीं करते, वे सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने और हिंसा रहित यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं। वनस्पति, अन्न और फल-मूल को ही वे हविष्य मानते हैं।' अतः प्रथम शिलालेख में पशु बलि अथवा पशुओं का वध न करने के आदेश का उद्देश्य केवल पशुओं के प्रति हिंसा को रोकना और अहिंसा धर्म को बढ़ावा देना था।

तीसरे शिलालेख में सम्राट अशोक ने स्पष्टतः यह घोषित किया है कि प्राणियों का अवध साधु अर्थात् उत्तम धर्म है 'प्राणानं साधु अनारंभो' (गिरनार)। इसी तरह 9वें शिलालेख में प्राणियों के प्रति संयम को साधु कहा गया है, 'पाणेषु सयमो साधु' (गिरनार)। और ग्यारहवें शिलालेख में 'प्राणानं अनारंभो साधु', प्राणियों का अवध साधु है, कहा गया है (गिरनार)। अपने धर्मानुशासनों व धर्म नियमों द्वारा अशोक जनता में बुद्ध प्रशंसित अहिंसा धर्म की साधुता जगाने में सफल रहा, यह उस के चतुर्थ शिलालेख एवं सातवें स्तम्भ लेख की घोषणाओं से प्रकट है। चौथे शिलालेख में अशोक ने संतोष व्यक्त करते हुए कहा है कि उसके धर्मानुशासन से लोगों में प्राणियों का वध न करने और जीवों के प्रति अहिंसा-भावों की वृद्धि हुई है, 'अज वडिते देवानंप्रियस प्रियदसिनो राज्ञो धर्मानुसस्ठिया, अनारंभो प्राणानं आवहिसा भूतानं' (गिरनार)। इसी तरह सातवें स्तम्भ लेख में अशोक ने इंगित किया है कि उसने भूतों (जीवों) की अहिंसा और प्राणियों के अवध के लिए बहुत से धर्मनियम प्रचलित किये थे, 'धंमनियमानि यानि में कटानि धंमवडि वडिता अविहिंसाये भुतानं अनालंभाये पानानं,' पंक्ति 20।

शिलालेख दो और स्तम्भ लेख दो और पांच में सम्राट अशोक ने पशुओं के हितार्थ किये गये कल्याण कार्यों एवं उनके प्रति कल्याण के उपायों का उल्लेख किया है। द्वितीय शिलालेख में मनुष्यों के साथ-साथ पशुओं की चिकित्सार्थ चिकित्सालयों

एवं उपयोगी औषधियों की व्यवस्था करने तथा पशु व मनुष्य दोनों के उपयोगार्थ मार्गों में पानी उपलब्ध करने के लिए कुओं के खोदे जाने और विश्राम करने के हेतु वृक्षों के रोपे जाने का विवरण दिया गया है। 'राजानो सर्वत्र देवानं प्रियस प्रियदसिनो राजो द्वे चिकीछ कता, मनुसचिकीछा च पशुचिकीछा च, ओसुडानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि च, मूलानि च फलानि च यत यत्र नास्ति सर्वत हारापितानि रोपापितानि च, पंथेसू कूपा खानापिता ब्रह्मा च रोपापिता परिभोगाय पशुमनुसानं' (गिरनार)। दूसरे स्तम्भ लेख में सम्राट अशोक ने बताया है कि द्विपद (मनुष्य), चतुष्पद (चौपाया-जानवर), पक्षी और जलचरों (मछली आदि) पर उसने अनेक तरह से अनुग्रह किया और उन्हें अभय दान (प्राण दक्षिणा) तक दिया है तथा अन्य भी बहुत से कल्याणकार्य किये हैं। 'दुपद, चतुपदेसु पखिवाल्लिचलेसु विविधे में अनुगहे कटे आ पान दाखिनाये, अनानि पि च मे बहूनि कयानानि कटानि।'

पांचवें स्तम्भ लेख के, विवरणानुसार अशोक ने अभिषिक्त होने के 26 वर्ष बाद कुछ पशु-पक्षी और जलचरों को अवध्य घोषित कर उनके मारने पर रोक लगा दी थी और कतिपय पर्व के दिनों में पशुओं आदि को बधिया करने, दागने तथा मारने आदि का भी निषेध कर दिया था। स्तम्भ लेख की घोषणा इस प्रकार है, देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा- 'छब्बीस वर्षों से अभिषिक्त मेरे द्वारा ये प्राणी अवध्य (घोषित) किये गये हैं। वे हैं-शुक, सारिका, अरुण (लाल रंग का एक पक्षी), चक्रवाक, हंस, नान्दीमुख, गेलाट, जतुका (गीदड़), अम्बाकपीलिका (चोंटियां), दुडि (कछुई), अनटिक मछ (अस्थिरहित मछली), वेदवेयके, गंगा-कुक्कुट, संकुज मछ (संकुज मछली), कमठ (कछुआ), रालय (साही), पर्ण शश, बारहसिंगा, सांड, ओकपिण्ड (गोधा), मृग, श्वेत कपोत, ग्राम कपोत और ऐसे सभी प्रकार के चौपाये जो न उपयोग में आते हैं और न खाये जाते हैं। गर्भिणी व दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ व शूकरी तथा महीने तक की आयु वाले इन के बच्चे भी अवध्य (घोषित) किये गये। कुक्कुट को बधिया नहीं करना चाहिये। इसके साथ ही हिंसा को रोकने के लिए यह भी घोषित किया गया कि- 'सजीव भूसी (जिस भूसे में जीव हो) नहीं जलानी चाहिये। हिंसा के लिए जंगल नहीं जलाने चाहिये। जीव से जीव का पोषण नहीं करना चाहिये।' 'तीनों चौमासों में तिष्य पूर्णमासी को, तीन दिन चतुर्दशी, पञ्चदशी तथा प्रतिपद, निश्चित रूप से उपवास के दिन मछलियां नहीं मारनी चाहिये और न बेचनी चाहिए।' इन दिनों नागवन, कैवर्त भोग (मछुओं के तालाब) में जो भी अन्य जीव समुदाय हों, उनको नहीं मारना चाहिये। 'प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, पञ्चदशी, तिष्य, पुनर्वसु, तीन चातुर्मासों के शुक्ल-पक्ष में लांछित (दागना) नहीं करना चाहिए। बकरा, भेड़, सुअर तथा अन्य, जिन्हें लांछित किया जाता है, उनको लांछित नहीं करना चाहिए।' 'तिष्य, पुनर्वसु, प्रत्येक चातुर्मास

की पूर्णिमा के दिन और प्रत्येक चातुर्मास के शुक्ल-पक्ष में अश्व और गौ को दागना (लक्षण) नहीं चाहिए।'

इस प्रकार, अपने धर्मानुशासनों, धर्म नियमों व निषेधाज्ञाओं द्वारा सम्राट अशोक ने लोगों को हिंसा से हट कर अहिंसा धर्म अपनाने पर बल दिया, लेकिन सम्राट पूर्णतया इस बात से अभिज्ञ थे कि केवल अनुशासन व आदेशों से मनुष्यों में अहिंसा के प्रति पूर्ण अनुराग उत्पन्न होना संभव नहीं है। इसके लिए आवश्यक है कि लोगों की अंतर्भावना में हिंसा के प्रति विराग उत्पन्न हो और वे मन से अहिंसा धर्म के प्रति अनुरक्त एवं अनुरागी बनें। इसी लिये सम्राट ने अपने सातवें स्तम्भ लेख में धर्मनियमों से अधिक अंतर्भावना अथवा ध्यान (निज्ञतिया) को महत्व देते हुए कहा है कि 'मनुष्य में धर्मवृद्धि, धर्मनियम और ध्यान से वर्धित हुई है।' इन में धर्मनियम लघु (कम महत्व का) है, अंतर्भावना (ध्यान-निज्ञयति) ही महत्वपूर्ण है- 'मुनिसानं च य इयं धम्वडि वडिता दुवे हि येव आकालेहि धमनियमेन च निज्ञतिया च, तत च लहु से धमनियमे निज्ञतिया व भुये' (पंक्ति 29-30)।

अतः मनुष्यों के अंतर में धर्म भाव अथवा ध्यान जागृत करने के उपायों पर सम्राट अशोक ने भरपूर जोर दिया और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धर्ममहामात्रों एवं अन्यान्य राजपुरुषों को आदेश प्रेषित किया गया कि वे लोगों को धर्म का संदेश सुनाने अथवा धर्म श्रवण की व्यवस्था करें तथा जनता को धर्म का उपदेश दिया करें ताकि मनुष्यों के मन में धर्म के प्रति प्रीति पैदा हो, परिणाम स्वरूप वे अभ्युदय को प्राप्त हों और धर्म की वृद्धि द्वारा उन्नत होते जायें। सातवें स्तम्भ लेख में अशोक ने अपने इन भावों को व्यक्त करते हुए कहा है कि पूर्व काल में भी राजाओं ने ऐसी इच्छा की थी कि लोगों को धर्मवृद्धि से उन्नत किया जाय, किन्तु ऐसा हो नहीं सका। इस संबंध में देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा ने ऐसा कहा, मुझे ऐसा लगा कि धर्म श्रवणों के सुनाने की व्यवस्था करूं, धर्मोपदेश का आदेश करूं। इस को सुन कर लोग (धर्म का) अनुसरण करेंगे, अभ्युदय प्राप्त करेंगे, धर्मवृद्धि की अधिक उन्नति करेंगे। इस प्रयोजन के लिए मेरे द्वारा विविध प्रकार के धर्मानुशासन आज्ञापित हुए, जिस से मेरे राजपुरुष, जो बहुत जनों में नियुक्त हैं, उन को उपदेश करेंगे और (विस्तार से) धर्म की व्याख्या करेंगे- एतं देवानांप्रिये पियदसि लाजा हे वं आहा, एस मे हुआ, धमसावनानि सावापयामि धमानुसथिनि अनुसासनि एतं जने सुतु अनुपर्यपजीसति अभ्यूनभिसति, धम्वडिया च वाढं वडिसति, एताये मे अठाये धमसावनानि सावापितानि धमानुसथिनि विविधानि आनपितानि य..... (पुरु) सा पि जनसि आयता ए तें पलियो वदिसंति पि पविथलिसंति। (पंक्ति 19-22)।

सम्राट अशोक को इन विविध उपायों से मनुष्य में धर्मभाव जगाने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। अतः सातवें स्तम्भ के अंत में संतोष व्यक्त करते

हुए सम्राट ने कहा है - 'ध्यान (निज्ञयति-अंतर्भावना या तत्त्व दृष्टि) द्वारा बहुत से मनुष्यों में धर्म की वृद्धि है और उनमें भूतों के प्रति अहिंसा और प्राणियों का वध न करने की भावना बढ़ी है। 'निज्ञतिया का चु भुये मुनिसानं धंम वडि वडिता अविहिंसाये भुतानं, अनालंभाये पानानं '(पंक्ति 30' 31)।

देश-विदेश में धर्म प्रचार

देश-विदेश में धर्म दूतों द्वारा धर्म प्रचार कार्य के प्रारम्भ का प्रथम श्रेय सम्राट अशोक को ही प्राप्त है। धर्मदान और कल्याण कार्यो सम्बन्धी सम्राट का कर्म क्षेत्र अपने विजित राज्य (साम्राज्य) तक ही परिसीमित न था। सम्राट का सिद्धांत ही सर्वभूतों और समस्त प्राणियों का कल्याण व हित करना था। अतः समस्त मनुष्यों एवं जीवों के कल्याणार्थ धर्म का प्रचार एवं वृद्धि का कार्य सर्वत्र अपने राष्ट्र के बाहर के देशों में भी संपन्न कराया गया। देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह विजय देवताओं के प्रिय को अपने विजित राज्य और सब सीमान्त प्रदेशों में तथा छःसौ योजन तक जहां यवनराज अन्तियोकस राज करता है तथा उसके पास जो अन्य चार राजा तुरमय, अन्तिगोनस, मग और अलिकसुन्दर हैं तथा नीचे (दक्षिण में) चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्य हैं, सब जगह प्राप्त हुई है। इस विवरण से स्पष्ट है कि सम्राट को इन विदेशी राज्यों में धर्म प्रचार करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई। इस धर्म प्रचार की सफलता के क्या कारण थे अथवा किन उपायों या उपकरणों द्वारा वे वैदेशिक राज्यों में धर्म प्रचार कर सके? इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो प्रकार के उपाय काम में लाये गये। प्रथम, सम्राट ने स्वयं राजकीय पुरुष (दूत, अंत महामात्र, धर्म महामात्र) नियुक्त किए गये। 13वां शिलालेख लिखता है 'देवताओं के प्रिय के धर्म का सर्वत्र अनुसरण हो रहा है। उन राज्यों अथवा देशों के लोग भी, जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुन कर, धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे। यह धर्म विजय सर्वत्र प्रेम देने वाली है। धर्म विजय से ही स्नेह प्राप्त होता है।' इस कथन से प्रकट है कि विदेशों में धर्म के प्रचार के लिए दूत नियुक्त थे। दूतों के अतिरिक्त प्रथम स्तम्भ लेख अन्त महामात्रों का भी उल्लेख करता है। विदित होता है कि विदेशों में ये दोनों (दूत और अन्त महामात्र) ही धर्म प्रचार कार्य किया करते थे। उपरोक्त विवरण से यह भी विदित होता है कि विदेशों में धर्म प्रचार कार्य बड़ी निपुणता और सक्रियता के साथ किया गया था। सम्राट के धर्म प्रचार से बौद्ध धर्म निम्न राज्यों में पूर्णरूप से विजय पा चुका था, जैसे भारत (अपना राज्य) अंतियोकस, तुरमय, अंटिगोनस, पैठानिक, राष्ट्रिक, मग, अलिकसुन्दर, कम्बोज, नाभाक, नाभपंति, आंध्र (के राज्यों) अथवा सीरिया, मिस्र, मैसीडोनिया, इपीरस, कैरीन तथा दक्षिण भारत में दूरस्थ चोड़, सत्यपुत्र, केरल पुत्र और ताम्रपर्णी के

राज्य। इन राज्यों के अतिरिक्त चीन और ब्रह्मा में भी बौद्ध धर्म ने विजय प्राप्त कर ली थी। इसका प्रमाण निम्न संदर्भ से प्राप्त होता है कि उन देशों के लोग भी जहां देवताओं के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण सुन कर धर्म पर आचरण करते हैं और करेंगे। (भण्डारकर, अशोक, पृ.160)।

मालूम होता है कि धर्म प्रचार करने वाले नवीन कर्मचारी, दूत, अंतमहामात्र और धर्म महामात्र आदि का सरकार की ओर से एक पृथक विभाग स्थापित किया गया था। सम्राट की यह योजना अभूतपूर्व थी। जैसा कि हम पूर्वनिर्दिष्ट कर चुके हैं, इनके कार्य का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं व्यापक था। ये लोग केन्द्रीय शासन की परिधि से भी विमुक्त थे। उनके कार्य की व्यापकता पांचवें और 13वें शिलालेख से सर्वशः स्पष्ट है। संक्षेप में राजा के इन कर्मचारियों को अपने देवताओं के प्रिय तथा बाह्य राजाओं, सबकी सेवा करनी थी। यह सब अशोक की महानता के परिचायक हैं (शिलालेख द्वितीय)।

अशोक एक महान् ऋषि एवं पुरुष हैं। अशोक की मानवता अभिनन्दनीय है और उनकी मौलिकता सराहनीय। वे प्रथम धर्मप्रचारक थे और धर्म प्रचारक मिशनो (दूतों) के संयोजक भी। अकेले अशोक ने जो धर्म-प्रचार कार्य रूप में प्रदर्शित किया तथा जितना विस्तार धर्म का किया, उतना आज तक किसी धर्म मिशनरी ने भी न किया होगा। यद्यपि 20वीं शताब्दी के वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप आज आवागमन आदि की अनेक कठिनाइयां हल हो चुकी हैं, किन्तु अशोक धन्य हैं और उनका पराक्रम भी, जिन्होंने बाधाओं की भी चिन्ता न करके दूरस्थ यवन, सीरिया, मिस्र व कैरीन आदि राज्यों पर धर्म की कल्याणमयी विजय, एक बार नहीं कितनी ही बार उपलब्ध की (13वां शिलालेख)।

सम्राट की धर्म विजय पर कटु आक्षेप

यूरोपियन विद्वान सम्राट का यवन राज्यों (अंतियोकस, तुरमय, अंतिगोनस, राष्ट्रिकों, पैटानिकों, मग, अलिक सुन्दर, कम्बोज, नाभाक आदि, 13वां शिलालेख) पर विजय प्राप्त करना अथवा धर्म प्रचार करना असम्भव ही नहीं अपितु असत्य मानते हैं। राइन्ड डेविड्स अपनी पुस्तक बुद्धिस्ट इंडिया में लिखते हैं कि यह कहना असम्भव है कि इस (धर्म विजय) में कितना अंश राजकीय प्रलाप से भरा है। यह पूर्ण रूप से सत्य भासित होता है कि यवन राज्यों पर धर्म की विजय पाने का उल्लेख केवल अपने कार्य का महत्व बढ़ाने के लिए किया गया है, और इस पर जोर देने के लिए है। वस्तुतः वहां पर किसी भी प्रकार का धर्म प्रचार न किया गया और न कोई धर्म प्रचारक अथवा मिशनरी यवन राज्यों तक भेजे गये, और यदि वे भेजे भी गये हों तो यह किसी तरह सम्भव भी नहीं हो सकता कि भारतीय धर्म

का यूनानी धर्म पर कुछ प्रभाव पड़ा होगा। अतः सम्राट अशोक का यवन राज्यों पर धर्म विजय का इस भांति परिणाम दिखलाना, उस (सम्राट) के गर्व का सूचक है। ग्रीक जाति कभी इस बात को सहन नहीं कर सकती थी कि भारतीय जैसी 'असभ्य बर्बर जाति' उनको धर्म की शिक्षा दे। यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं कि एक भारतीय राजा के धर्मनुशासन पर यूनानी लोग अपने देवताओं और धर्म तत्वों को ठुकरा देते।'।

पाश्चात्यों की सभ्यता की नाप साधारणतया शक्ति या पशुबल से की जाती रही है। जो जाति सबल है, जिसमें औरों को ठुकराने की यथेष्ट शक्ति है, उसे यूरोपीय लोग सभ्य मानने के लिए सर्वदा तत्पर हैं। किन्तु जो सरल और सहृदय हैं, उन्हें वे निर्बल व निरा पशु समझते रहे हैं। किन्तु स्मरण रहे कि मौर्यों के समय भारतीय केवल सरल ही नहीं, सबल थे। उस समय पाश्चात्य म्लेच्छों के दांत खट्टे करने वाले प्रगल्भ अभूतपूर्व पराक्रमी चन्द्रगुप्त सदृश क्षत्रियों की भुजा में उष्ण रक्त दौड़ रहा था, जिसकी वीरता ने अभिमानी सिकन्दर को भी चकित कर एवं उसके वीर जेनरल सेल्यूकस को पराजित कर, पाश्चात्य जगत को अभिभूत कर दिया था। ग्रीक जाति भारतीय सभ्यता को मान गयी थी और समकक्ष ही नहीं, अपितु महान समझ कर भारत को ग्रीक कन्या अर्पण कर गयी। इस प्रकार प्रथम मौर्य चन्द्रगुप्त को यूनानियों ने उसकी महानता को स्वीकार करते हुए अपना जामाता बनाया था। सिल्यूकस का राजदूत मेगस्थनीज तब भारतीय मौर्य दरबार में आकर रहने लगा (302 ई.पू.)। तत्पश्चात् निरन्तर यूनानी राजाओं के दूत भारत में आते-जाते रहे। तब से दूतों का आवागमन क्रमबद्ध सा हो गया। मिस्र के राजा क्लिऑडेलफस ने भी अपना दूत मौर्य दरबार में भेजा था। इसी प्रकार बिन्दुसार के समय भी दूतों का आवागमन जारी था।

अशोक के समय विदेशों को दूत भेजा जाना 13वें शिलालेख से स्पष्ट है किन्तु अशोक के समय इन दूतों का तात्पर्य राजनीतिक संबंध के बजाय धर्म संबंध से अधिक था। वे धर्म प्रचार के हेतु ही भेजे जाते थे। विदेशों में धर्म प्रचार करने वाले इन दूतों को अन्त महामात्र भी कहा जाता था (स्तम्भ लेख, प्रथम)। कलिंग शिलालेख द्वितीय से सम्राट की सीमान्त नीति का हमें पूर्ण आभास मिल जाता है। इस शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'अविजित (अविजिता) सीमांत प्रदेश (अन्तानां) यह पूछे कि सम्राट का हमारे प्रति क्या विचार (इच्छा) है? सीमांत प्रदेशों के प्रति मेरी यही इच्छा है कि वे इस बात को समझें कि वे सम्राट के कोप से स्वतंत्र रहें', 'किन्तु मुझ पर विश्वास करें कि मेरे द्वारा दुःख के अतिरिक्त सुख ही पायेंगे तथा वे यह भी समझ लें कि सम्राट जो क्षमा के योग्य हैं उसे क्षमा करेंगे। सम्राट उनको धर्माचरण पर लाना चाहता है, जिससे वे इहलोक और परलोक दोनों में सुख को

प्राप्त हों।' इस विवरण से यह भी पता चलता है कि ये सीमान्त प्रदेश यद्यपि विजित (अर्थात् राज्य के अन्तर्गत) न थे, किन्तु वे सम्राट के प्रभाव में अवश्य थे अथवा अर्द्ध स्वतंत्र थे और उनकी स्वतंत्रता सशर्त थी, अर्थात् धर्माचरण एवम् अच्छे या उत्तम व्यवहार पर निर्भर थी (सके छमनिबक्रे, जो क्षतव्य है वह क्षमा किया जायेगा अन्यथा दण्ड दिया जायेगा)। इन राज्यों के लिए अपरन्ता (5वां शिलालेख) कहा गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं - यवन, कम्बोज, गांधार, राष्ट्रिक, पेटानिक आदि (शिलालेख 13वां)। अतः अर्द्ध स्वतंत्र अथवा प्रभाव में होने के कारण ये लोग सम्राट के धर्माचरण अथवा धर्मानुष्टि पर आचरण करते रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं (देखिए नोट 13 शिलालेख में)। इनके अतिरिक्त अन्य यवन राजा (अन्ता) जो स्वतंत्र थे, वहां सम्राट ने धर्म विजय पायी थी। यह धर्म विजय सम्राट ने अपने मांगलिक कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त की थी। द्वितीय शिलालेख कहता है कि सम्राट ने इन सीमान्त राज्यों में भी पशुओं और मनुष्यों दोनों के लिए चिकित्सालय स्थापित किए थे तथा अन्य धर्म हित और धर्मानन्द वाले उपकरणों का नियमन करवाया था (देखिए स्तम्भ लेख प्रथम)। उपसंहार में कह सकते हैं कि अपरन्ता वालों ने सम्राट की सुनीति और बल से प्रभावित होकर धर्म पर आचरण किया और अन्ता वालों ने सम्राट की विश्व मैत्री एवं तादात्म्य से प्रभावित होकर बौद्ध धर्म को अंगीकृत किया। निःसन्देह सम्राट अशोक में विश्व बंधुता थी और इसीलिए उन्होंने सबके हित के लिए समान रूप से कार्य किया। सम्राट जिस प्रकार अपने विजित प्रदेश की प्रजा को मानते थे और उनका हित चाहते थे, उसी तरह वे सीमान्त के वैदेशिक राज्यों की कल्याण कामना के भी अभिलाषी थे (द्वितीय शिलालेख, 13वां शिलालेख, और स्तम्भ लेख प्रथम)।

सम्भव है कि हर्षतिरेक में सम्राट ने कुछ बढ़-चढ़ा कर कह दिया हो, किन्तु यह कहना कि यवन अथवा यूनानी प्रदेशों में धर्म-विजय का प्रचार का उल्लेख करना केवल सम्राट का प्रलाप मात्र है, सत्य पर आक्षेप लगाना है तथा कोई भी तटस्थ या अनुन्मत्त व्यक्ति इस प्रकार नहीं कह सकता। डेविड्स के कथन में यथार्थ में गौरवपूर्ण अहंकारिता है, जिस रोग से पाश्चात्य विद्वान सर्वदा से पीड़ित रहे हैं। अतः सम्राट ने जो कुछ कहा या लिखा है - वह निःसन्देह सत्य है।

भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति आदि काल से उच्च और महान रही है। आर्य संस्कृति ने किसी पर अपना प्रभुत्व नहीं जमाया। यूनानी, शक, हूण आदि जो भी भारत आये, सब को भारतीय संस्कृति के समक्ष अपना मस्तक झुकाना पड़ा। इसके प्रति हमारे पास कई बहुमूल्य प्रमाण विद्यमान हैं। जब सिकन्दर महान भारतवर्ष में था, उसने एक भारतीय दार्शनिक (यूनानियों ने उसका नाम मैनडिमस दिया है) की बहुत प्रशंसा सुन कर उसे देखने की अभिलाषा प्रकट की। अतः दार्शनिक को

बुलाने के लिए दूत भेजा गया। दूत ने दार्शनिक के पास जाकर कहा, सम्राट सिकन्दर तुम्हें बुलवाते हैं। यदि साथ चलोगे तो तुम्हें पुरस्कार दिया जायेगा अन्यथा मृत्यु-दण्ड पाओगे। यह सुन कर दार्शनिक ने कहा, मुझे पुरस्कार पाने की कोई चिन्ता नहीं है। मुझे धर्मकियों का भी कोई भय नहीं है क्योंकि यदि जीवित रहूंगा तो मुझे भली प्रकार भोजन मिल सकता है और यदि मार दिया गया तो मेरी आत्मा बन्धन रहित हो जायेगी और पुनः दिव्य रूप प्राप्त होगा। जब सिकन्दर ने यह उत्तर पाया तो वह आश्चर्यान्वित हो उठा। उसने ऐसे महान पुरुष की अत्यंत प्रशंसा की और उस दार्शनिक को फिर कभी न छोड़ा।¹⁸ इस विवरण से स्पष्ट है कि मौर्यों के समय भारतीय सभ्यता एवं पौरुष का लोहा सिकन्दर सदृश यूनानियों को भी स्वीकार करना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि अशोक के सर्व मंगलकारी धर्म का यूनानियों पर प्रभाव पड़ा हो, तो इस पर सन्देह न होना चाहिए। सम्राट के धर्म से प्रभावित होने का यह भी कारण रहा है कि उन्होंने धर्म के निगूढ़ तत्वों 'अनारम्भो प्राणानाम' और 'अहिंसा भूतानां' आदि का प्रचार मौखिक ही न किया, अपितु प्रयोगों द्वारा उन्हें चरितार्थ भी किया (शिलालेख द्वितीय, 7वां स्तम्भ लेख)। अतः इस सार्वभौमिक एवं सार्वलौकिक मंगलमय धर्म का यूनानियों पर प्रभाव पड़ना और सम्राट का विजय (धर्म विजय) प्राप्त करना असंगत बातें नहीं हो सकतीं।

आर्य संस्कृति से प्रभावित होकर एक यवन बौद्धधर्म ग्रहण कर भिक्षु बन गया था। इस यवन भिक्षु का भारतीय नाम धर्मरक्षित मिलता है। अपरन्ता में धर्म रक्षित द्वारा ही धर्म का प्रचार हुआ था। अतः अपरन्ता आदि यवन प्रदेशों में सम्राट की धर्म विजय का एक कारण यह था कि स्वयं यवन लोग धर्म प्रचारक संघ में सम्मिलित होकर सहयोगी बन गये थे।

यदि पश्चिमी एशियायी देशों में धार्मिक इतिहास का अध्ययन किया जाय तो प्रकट होगा कि ईसाई तथा अन्य धर्म जैसे इस्तेनिस थीरापन्टी आदि पाषंडों (धर्मों अथवा सम्प्रदायों) पर बौद्ध धर्म का यथेष्ट प्रभाव पड़ा था।¹⁹ इस विवरण को ध्यान में रखकर डा० भण्डारकर कहते हैं कि पश्चिमी एशियाई धर्मों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पहली सदी के पूर्व तक अंकित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि इसका कारण इन प्रदेशों में सम्राट अशोक द्वारा (धर्म विजय) धर्म-प्रचार किया जाना ही था।

धर्म विजय काल की तिथि

13वां शिलालेख बहुत से स्वतंत्र और अर्द्ध स्वतंत्र सीमान्त प्रदेशों तथा अन्य प्रदेशों का उल्लेख करता है, जहां सम्राट के धर्म प्रचारकों को धर्म का प्रचार करने में यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई थी। 13वें शिलालेख में यह भी कहा गया है कि 'यह धर्म विजय विजित राज्य तथा सीमान्त के प्रदेशों में बार-बार उपलब्ध हुई' (सो च पुन लथो देवानांप्रियस इह च सवेसु च अंतेषु)। इस शिलालेख की तिथि 258 ई.

पू. मानी जाती है। अतः स्पष्ट है कि 258 ई.पू. की विजय कम से कम द्वितीय चार उपलब्ध हुई विदित होती है। 13वें शिलालेख में जिन यवन राजाओं का उल्लेख है, वे सामूहिक रूप से 258 ई.पू. तक अशोक के समकालीन रहे क्योंकि उनमें से एक राजा मग (मक) की मृत्यु 258 ई.पू.में हुई थी। अतः 258 ई.पू. विदेशों में धर्म प्रचार की पूर्ववर्तिनी तिथि मानी जा सकती है। महावंश से भी प्रकट होता है कि धर्म प्रचारक मण्डल का कार्य 253 ई.पू. में अत्यधिक उत्साह के साथ प्रारम्भ हो चुका था।

विदेशों में धर्म प्रचारक मण्डल का कार्य

महावंश आदि से मालूम होता है कि बौद्ध धर्म के कई आचार्य विदेशों में बड़े उत्साह एवं उद्योग के साथ धर्म का प्रचार कर रहे थे। महावंश (प्रकरण 5-280) लिखता है कि अशोक के अभिषेक के 17वें वर्ष, पाटलिपुत्र में सम्राट के रक्षण और मोगलिपुत्र तिस्य या उपगुप्त, जैसा कि उत्तरीय गाथा कहती है, की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म की तीसरी महासभा हुई थी। इस सभा के विसर्जन होने पर उपगुप्त ने धीरों को धर्म प्रचार के लिए इधर-उधर भेजा। इन धीरों के नाम नीचे दिये जाते हैं। उनके नाम के आगे उन प्रदेशों का भी उल्लेख कर दिया गया है, जहां वे भेजे गये थे।¹⁰

धर्म प्रसारार्थ प्रेषित गण	प्रदेश
1. मज्झांतिक	कश्मीर और गांधार ¹¹
2. महादेव	महिषमण्डल ¹² (मैसूर या मान्धाता)
3. महारक्षित	यवन ¹³ या यूनानी प्रदेश
4. धर्म रक्षित (मूलतः यह यवन था)	अपरान्तका ¹⁴
5. मज्जहिमा	हिमालय प्रदेश ¹⁵
6. महाधर्म रक्षिता	महाराष्ट्र ¹⁶
7. रक्षित	वनवासी ¹⁷ (उत्तरी कनारा)
8. सोन और उत्तरा	सुवर्णभूमि ¹⁸ (पेगू और मौलमीन)
9. महेन्द्र, राष्ट्रीय, उत्तरीय, संबल और भद्रातर	लंका (सिंहल) (महावंश, प्रकरण 12)

धर्म प्रचार की कुछ भिन्नता के साथ जे.आर.ए.एस. भी एक सूची देता है¹⁹

1. मज्झांतिक	गांधार, कश्मीर
2. महादेव	महिषा (महिषमण्डल)

(किन्तु विगैनटिड कहता है कि महिषमंडल को रेवती भेजा गया था)

- | | |
|--------------------|----------------------|
| 3. रक्षित | वनवासी |
| 4. योन धर्म रक्षित | अपरन्तका |
| 5. महाधर्मरक्षित | महाराष्ट्र (मरहट्टा) |
| 6. महारक्षित | यवन प्रदेश |

(किन्तु विगैनटिड कहता है कि यवन प्रदेश को धर्म रक्षित भेजा गया था)

- | | |
|-------------------------------------|-----------------|
| 7. मज्झहिमा, कास्सपगोत्त, दुराभिश्च | हिमवंत (हिमालय) |
| और सहदेव तथा मुलक देव | |
| 8. सोन और उत्तरा | सुवर्णभूमि |
| 9. महिन्द्र (महेन्द्र) और चार साथी। | |

महावंश के अनुसार उनके नाम हैं :

इत्रतीय, उत्रतीय, सम्बाल और भछसाल (भ्रदसाल) लंका

गाथाएं कहती हैं कि प्रत्येक मुख्य धर्म प्रचारक के साथ चार-चार साथी थे।

महावंश धर्म प्रचारकों के कार्य का अत्यंत सरसता के साथ उल्लेख करता है (महावंश प्रकरण 12)। 'कल्याणमयी भगवान बुद्ध के धर्म दीपक, मोग्गलिपुत्र तिस्स (उपगुप्त) तृतीय सभा को समाप्त कर धर्म के भविष्य को विचारने लगे, यह समझ कर कि विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का समय आ गया है उन्होंने कार्तिक के महीने में थीरो को विदेशों में धर्म प्रचार के लिए भेजा।' महावंश आगे लिखता है, 'कश्मीर और गांधार में इस समय 'अरावलो' नाम का एक राजा राज कर रहा था। यह राजा अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न था। अपनी शक्ति द्वारा भीषण तोयविप्लव (जल प्रलय) कर वह कश्मीर और गांधार की सम्पूर्ण तैयार फसल को डुबा रहा था। थीरो मज्झान्तिक वायु द्वारा उड़ कर तुरन्त अरावला झील में जा उतरा। वहां समाधि लगा कर वह पानी की सतह पर घूमने लगा। नागों ने तब क्रोधित होकर इस घटना की सूचना राजा को दी। क्रोधित नागराज ने उसे अनेक प्रकार से भय संकुल करना चाहा। उसके क्रोध से तूफान आक्रान्त करने लगा और प्रलय का जल बरस पड़ा। विजली स्फुरित होने लगी और चारों ओर विनाशकारी वज्रपात होने लगा, जिससे उत्तुंग श्रेणी वाले पहाड़ मूल से टूट कर गिरने लगे। नागों ने अनेक तरह से भीषण रूप धर कर इस थीरो को भय आक्रांत कर उसे यथ ब्रष्ट करना चाहा। नागराज ने स्वयं अनेक प्रकार से पीड़ित करते हुए उस पर धुंआ और आग उगली। अपनी परालौकिक शक्ति से थीरो ने सब प्रकार के भय पर विजय प्राप्त की। तदनन्तर अपनी शक्ति दिखा कर, थीरो ने नागराज को इस प्रकार संबोधित

किया, 'ऐ नागराज! यदि देवतागण भी मनुष्यों से मिल कर मुझे भयाकुल करना चाहें, तो उनके वे सारे उपक्रम निरर्थक सिद्ध होंगे और यदि तुम सागर और पहाड़ों समेत सारे संसार को मेरे मस्तक पर ढाहना चाहो, तब भी तुम मुझे भयाक्रांत नहीं कर सकोगे। ऐ नागराज, फसल को नष्ट करने की यह क्रिया बन्द कर दो।' थीरो के इस उत्तर को सुन कर नागराज शान्त हुआ। थीरो ने तब उसे धर्म के सिद्धान्त को बतलाये। धर्म ग्रहण करने के फलस्वरूप नागराज को मोक्ष प्राप्त हुआ। इस भांति वर्षीले प्रदेश या हिमवन्त में चौरासी हजार (84000) यक्ष, गन्धर्व, नाग और कुम्भकों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया।

पंचक नामक एक यक्ष ने अपनी स्त्री हरित और पांच सौ सहित, धर्म की प्रथम अवस्था सोपन उपलब्ध किया। इसके अनन्तर उसने अपने पुत्रों को इस तरह सम्बोधित किया, 'पहले की भांति अहंकारी और क्रोधी न रहना, किन्तु प्राणीमात्र के हित के लिए एकांतवास लेना तथा फसलों को नष्ट करने से अपने को रोक कर सर्वप्राणियों (सर्वभूतानां) पर कल्याण भाव रखना। मानवों का रक्षण करते हुए जीवन व्यतीत करना।' इन लोगों (पुत्रों) ने इसी प्रकार व्यवहार किया।

नागराज ने थीरो मज्झांतिक को रत्न जटित सिंहासन पर बिठाया और अपने आप आदरपूर्वक पंखा झलने लगा। नागराज के क्रोध को शान्त करने तथा फसल को विनष्ट होने से बचाने के लिए कश्मीर और गान्धार के निवासी भेंट लेकर नागराज के पास पहुंचे। जब उन्होंने अलौकिक थीरो का वर्णन सुना तो नागराज के बजाय वे थीरो के चरणों में झुके और पास ही सम्मानपूर्वक खड़े हो गये। थीरो ने उन्हें अस्ति विसोपम् (बुद्ध का सिद्धांत) समझाया। अस्सी हजार मनुष्यों ने उत्तम बौद्ध धर्म को अङ्गीकृत किया और एक लाख मनुष्यों ने थीरो से प्रव्रज्या ग्रहण की। तब से लेकर आज तक कश्मीर और गान्धार के लोगों की बौद्धधर्म के तीनों अंगों (बुद्ध, धर्म और संघ) के प्रति अत्यन्त भक्ति है तथा सम्पूर्ण प्रदेश पीत पटों (भिक्षुओं के वस्त्र) की क्रान्ति से भासमान है।

थीरो महादेव महिषामंडल गया (महिषा मंडल को स्मिथ ने मैसूर से समीकृत किया है)। वहां जाकर महादेव ने जनता में देवदूत सुतन्त का प्रचार किया। इससे 40000 मनुष्यों ने सर्वोपरि बौद्ध धर्म को स्वीकार (अङ्गीकार) किया तथा सभी को भिक्षु बनाया। थीरो रक्षित वायु मार्ग से वनवास प्रदेश में गया। वहां जाकर उसने जनता के मध्य अनमतग (बुद्ध सम्वाद) का प्रचार किया। 60000 मनुष्यों ने बौद्ध धर्म अङ्गीकृत किया तथा 37000 मनुष्यों ने दीक्षा ली और भिक्षु हुए। इस प्रदेश में भगवान गौतम का धर्म स्थापित कर थीरों ने पांच हजार विहार बनवाये।

थीरो योनको (यवन) धर्मरक्षित अपरन्तक प्रदेश गया। वहां जनता के

बीच उसने अग्निवखन्थोपम् सुत्त (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया। यह थीरो (आचार्य) सत्य धर्म और असत्य धर्म के सिद्धांतों को अच्छी तरह समझता था। अतः एकत्रित हुए 70000 लोगों को इसने सत्य धर्म के सरस रस की धूँट पिलाई। विशुद्ध क्षत्रिय वंश के 1000 पुरुष और उससे भी अधिक महिलाएँ, धर्म से उत्साहित होकर, भिक्षु संघ में प्रविष्ट हुए।

पवित्र (पुण्यात्मा) आचार्य (थीरो) महाधर्म रक्षित मरट्ठा (महाराष्ट्र) प्रदेश गया। वहाँ उसने भगवान बुद्ध के महा नारद कस्सप जातक का प्रचार किया। 84000 मनुष्यों ने सत्य बौद्ध धर्म ग्रहण किया तथा 13000 मनुष्यों को भिक्षु बनाया। थीरो (आचार्य) महारक्षित यवन प्रदेश को गया। वहाँ उसने कलक राम सुत्त (बुद्ध का संवाद) का प्रचार किया। 10070000 (एक करोड़ सत्तर हजार) मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया तथा 10000 लोगों ने दीक्षा ली।

थीरो मज्झिहो, चार अन्य थीरो सहित (कस्सपो, मलिक देवी, धुन्धि मुनसो और सहसदेवी) हिमवन्त प्रदेश में पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने धम्मच्छको (बुद्ध का संवाद) का प्रचार किया। अस्सी करोड़ मनुष्यों ने सत्य बौद्ध धर्म अंगीकृत किया। इन पाँच थीरो ने अलग-अलग हिमवन्त के पाँच भागों में प्रचार किया। प्रत्येक थीरो के समाज में 100000 मनुष्यों ने अलौकिक बुद्ध भगवान से प्रेरित होकर दीक्षा ली और संघ में प्रवेश किया।

आचार्य सोन, आचार्य उत्तर समेत, सुवर्णभूमि गया। इस समय वहाँ यह हाल था कि ज्योंहि बच्चा उत्पन्न होता, एक जल पिशाचिनी समुद्र से निकल कर उसे निगलती और गायब हो जाती थी। इसी समय (धर्म प्रचारकों के वहाँ पहुँचने पर) राजगृह में एक बालक जन्मा। वहाँ के निवासियों ने भिक्षुओं को देख कर उन्हें राक्षसी (पिशाचिनी) का सहायक समझा। अतः उन्होंने घेरा डाल कर उन्हें विनष्ट करना चाहा। थीरो ने अपना उद्देश्य जता कर उन्हें इस प्रकार सम्वोधित किया—‘हम धर्म के आचार्य हैं, राक्षसी के सहायक वर्ग नहीं।’ ‘इसी समय राक्षसी अपने सहायकों सहित समुद्र से निकली। यह देख कर लोगों की भीड़ भयार्त हो चिल्ला उठी। थीरो ने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा राक्षसों की एक दूसरी सेना तैयार की। यह सेना भक्षण करने वाली राक्षसी से दुगुनी थी। इस सेना ने राक्षसी सेना को घेर लिया। वह इन अगणित राक्षसों को देख कर भयार्त हो भाग खड़ी हुई। इस प्रकार धर्म की रक्षा स्थापित कर, लोगों की एकत्रित हुई भीड़ (समाज) के बीच ब्रह्मज्ञानसुत्त (बुद्ध का संलाप) का प्रचार किया। असंख्य लोगों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। 600000 मनुष्य धर्म के सिद्धान्तों से पूर्णतया भिन्न हो गये। 25000 लोगों ने दीक्षा ली, भिक्षु हुए और 1500 विभिन्न जाति (वर्ण) की महिलाएँ और पुरुष भिक्षु संघ में प्रविष्ट हुए। उस समय के पश्चात् राजगृह में जो

भी राज कुमार जन्मा, उसका नाम (सोनो और उत्तरों के नाम पर) सोनोत्तरों रखा गया (महावंश, प्रकरण 10वां)।

अनेक विद्वदगण परम्परागत खडियों की चमत्कारपूर्ण एवम् सरस साहित्यिक शैली को देख कर उन्हें सहसा असत्य कहने में देर नहीं लगाते, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इन आख्यानों में भी अमूल्य ऐतिहासिक तथ्य छिपा रहता है। शिलालेख के बहुत से प्रदेशों को हम गाथाओं के प्रदेशों से पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं। अतः गाथाओं के उल्लेखों को हम निरी कल्पना नहीं कह सकते। तिब्बती तथा चीनी बौद्ध ग्रंथ भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि मज्झांतिक ने काश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। मज्झांतिक के कश्मीर में धर्म प्रचार का तिब्बती ग्रंथों में महावंश के अनुरूप ही उल्लेख मिलता है। ह्वेनसांग ने भी कश्मीर में बौद्ध धर्म प्रचार का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि 'प्राचीन काल में भगवान बुद्ध जब एक राक्षस को पराजित कर लौट रहे थे तो वायुमार्ग से होते हुए वे कश्मीर पहुंचे। वहां आनन्द को सन्बोधित कर भगवान बोले, 'यहां पर मेरे निर्वाण के बाद मज्झांतिक बौद्धधर्म का प्रचार करेगा।' विभिन्न बौद्धगाथाओं के वर्णन की एकरूपता इन आख्यानों की सत्यता का प्रमाण है।

महावंश के अतिरिक्त समन्तसादिका में भी कुछ भिन्नता के साथ इन धर्म प्रचारकों का उल्लेख है। इसके अनुसार मज्झहिमा, कास्सपगोत्त, अलकदेव, दुन्धुभिस्सार और महादेव को साथ लेकर हिमवन्त प्रदेश गया। ये पांचों वहां पहुंचकर पांच राष्ट्रों अथवा मण्डलों में विभक्त हो गये, किन्तु दीपवंश कास्सपगोत्त कोतिपुत्त को प्रमुख आचार्य कहता है और मज्झहिमा, दुन्धुभिस्सार, सहदेव और मूलदेव को उसके साथी बतलाता है। इन धीरो ने 8000000 मनुष्यों को बौद्ध बनाया। इसी प्रकार यवन धर्म रक्षित ने अग्निखन्थोपम् सुत्त का प्रचार किया और अपरन्ता के 37000 मनुष्यों का धर्मपरिवर्तन किया। मज्झहन्तिक ने कश्मीर और गान्धार में, आसीरिसूपमासुत्त²⁰ का प्रचार कर, 80000 लोगों को बौद्ध बनाया। महादेव ने महिषामंडल में देवदूत सुतंत²¹ का प्रचार कर 40000 बौद्ध बनाए। रक्षित ने वनवासी में महानारद कास्सप जातक का प्रचार कर 84000 बौद्ध बनाए। महारक्षित ने मोनरत्थाम् में कालका राम सुत्त²² का प्रचार किया। सोन और उत्तरा ने सुवर्णभूमि में जाकर ब्रह्मजालसुत्त²³ का प्रचार कर 60000 लोगों को बौद्ध धर्म में परिवर्तित किया।

अतः प्रकट है कि तृतीय महासभा की समाप्ति होते ही धर्म प्रचार का कार्य प्रबलता से होने लगा था। 13वें शिलालेख के धर्म दूतों का कार्य, द्वितीय शिलालेख से वर्णित सर्वकल्याण के कार्य और महावंश में वर्णित धीरो अथवा धर्म के आचार्यों के कार्य में तुलना से यह स्पष्ट है। गाथाओं में दिये गये धीरो के नाम की

वास्तविकता पहली-दूसरी ई.पू. के सांची स्तूपों में पाये गये लेखों से भी प्रमाणित होती है।

सांची के नम्बर दो स्तूप में एक शव सम्पुट पाया गया है। इस सम्पुट के एक ओर ब्राह्मी लिपि में यह लेख लिखा गया है- 'अरहत कास्सपगोत्त, अरहत वाच्छि सविजयत्त' में प्रारम्भिक सब आचार्यों (अरहतों) के अवशेष (मृतक शरीर)। सम्पुट के भीतर चार अन्य मंजूषाएं थीं, जिनमें मनुष्य की हड्डियों के अवशेष मिले हैं। मंजूषा के पटल पर लिखित लेखानुसार ये अवशेष निम्नलिखित आचार्यों के थे-

1. कासपगोत्त, हिमवन्त (वर्फीले, हिमालय) प्रदेश का आचार्य (थीरो)।
2. मज्झहिमा अथवा मज्झिमा
3. हरित पुत्र
4. वाच्छि सुविजयत्त (वातसी सुविजयत्त)
5. महावान्य
6. आपगीव
7. कौदिनी पुत्र (कुन्दिनी पुत्र)
8. कोसिक पुत्त
9. गोतिपुत्त
10. मोगलि पुत्त (मोग्गलि पुत्र)

उपरोक्त आचार्यों में से कास्सपगोत्त और मज्झहिमा हिमालय प्रदेश में प्रचार हेतु गये थे। इनके अतिरिक्त अन्य थीरो ने बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा में भाग लिया था। यह महासभा अन्तिम मोग्गलिपुत्त अथवा मोगाली पुत्त तिस्स की अध्यक्षता में हुई थी। मज्झहिमा का उल्लेख सोनारी के नं. दो स्तूप में पाये गये शवसम्पुट लेख में भी किया गया है। एक तृतीय कलश या कुम्भ लेख में गोतिपुत्त का दुन्धुभिस्सार समेत उल्लेख दिया गया है।

इस प्रकार महावंश, दीपवंश, समन्त पसादिका²⁴ आदि गाथाओं में आये हुए मज्झहिमा, कास्सपगोत्त और दुन्धुभिस्सार के नाम सांची स्तूप के लेखों से भी प्रमाणीकृत हो जाते हैं।²⁵ अतः हम यथेष्ट गाथाओं के धर्म प्रचार व 13वें शिलालेख की विदेशों में बारम्बार धर्म विजय की सत्यशीलता पर राज्ञ डेविड्स के सदृश आक्षेप नहीं लगा सकते।

लंका में धर्म का प्रचार

शिलालेखों में महेन्द्र के लंका जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु गाथाओं से पता चलता है कि लंका और अशोक के मध्य समागम का प्रथमतः उपक्रम देवानांप्रिय तिस्स (लंकाधिप) ने किया और तत्पश्चात् महेन्द्र धर्म प्रचार हेतु

लंका गया। लंका और साम्राज्य (सम्राट अशोक) के मध्य प्रथम समागम का महावंश निम्न उल्लेख देता है, 'आठ प्रकार की मुक्ताएं, हय (अश्व), गजरथ, मालक, वलय (करभूषण वलयें), अंगुलि वेलका (अंगुलीयकं, वलयं अथवा अंगुली मुद्रा), ककुदफल, पकातिका (प्रायिकी साधारण), समुद्र से निकलीं और किनारे पर खड़ी हो गई।'।

इन अलौकिक उपहारों को देख कर पुण्यात्मा राजा ने विचारा कि 'मेरे मित्र धम्माशोक के अतिरिक्त अन्य कोई इन रत्नों का अधिकारी नहीं है, मैं इस उपहार को उन्हें दूंगा।' यद्यपि ये दो राजा देवानांप्रिय तिस्स और धम्माशोक आपस में परिचित न थे, किन्तु बहुत काल से मित्रता के सूत्र में बंध चुके थे।

लंका के अधिपति ने चार दूतों को इस कार्य के लिए भेजा। इन चार में से प्रथम राजा का भांजा (भागिनेयं, भगिनिनयं) महाअरिथो था तथा ब्राह्मण (हाली पर्वत निवासी), मल्ला (राज मंत्री) और तिस्सो ये तीन भी साथ थे। इन चारों के साथ एक शक्तिशाली सेना थी, जिनके हाथ रत्न सौंपे गये थे। ये लोग जम्बूकीलों से जहाज में बैठ कर एक सप्ताह में ताम्रलिप्ति पहुंचे और वहां से सात दिन यात्रा करके पाटलिपुत्र गये। यहां पहुंच कर इन लोगों ने धम्माशोक को रत्न आदि भेंट किए।

इसके बदले में, महावंश लिखता है कि, सम्राट अशोक ने भी अनेकानेक बहुमूल्य वस्तुएं लंकाधिपति को भेजीं तथा उसके भेजे हुए दूतों को राजकीय पदों से सम्मानित किया। अरिथों को सम्राट ने सेनापति बनाया, ब्राह्मण को राजपुरोहित, मंत्री को दण्डनायक तथा तिस्सो को सैठित्तो का पद दिया। अशोक ने जितने अमूल्य उपहार भेजे, उनमें गंगाजल (अभिषेक के लिए यह काम में लाया जाता था) और एक सुन्दर राजकुमारी भी थी।

महावंश पुनः लिखता है, देवानांप्रिय तिस्सो के दूत पांच महीने तक वहां ठहरे। वैशाख के प्रथम उज्ज्वल दिवस को वे पाटलिपुत्र से विदा हुए। ये लोग ताम्रलिप्ति से जहाज पर बैठे और जम्बूकीलों पर जाकर उतरे। तदनन्तर वे लंका के राजा के पास पहुंचे। इस भांति लंका और अशोक के साम्राज्य के मध्य प्रथम सम्पर्क हुआ। इसके बाद महावंश महेन्द्र के लंकागमन का इस प्रकार वर्णन देता है, 'अपने अपुण्य चरित्र के कारण वह पहले अशोक चण्डाशोक कहलाया, किन्तु पीछे पुण्यात्मा होने पर उसका नाम धर्माशोक पड़ा। अलौकिक शक्ति द्वारा उसने रत्नाकर वेष्टित जम्बूदीप के चारों ओर विहारों को स्थापित हुए देखा। इन विहारों को देख कर वह अत्यंत हर्षित हुआ। तदनन्तर उसने आचार्यों से प्रश्न किया, भदन्त, भगवान के काल से अब तक कौन सर्वमहान दानी हुआ? इस पर मोगलिपुत्र ने उत्तर दिया, कल्याणमय भगवान के समय में भी आपके सदृश कोई दानी न था।

यह सुन कर अशोक अत्यंत हर्षित हुआ और उसने पूछा, क्या मैं बुद्ध के शासन योग्य हो सकता हूँ? धीरो ने महेन्द्र तथा संधमित्रा (अशोक के पुत्र और पुत्री) में धर्म की पूर्णता निरख तथा यह सोच कर कि ये दोनों धर्म प्रचार में यथेष्ट सहायक होंगे, राजा से इस प्रकार कहा, राजन! तुम्हारे सदृश धर्म का उपकार करने वाले तुम्हीं कहला सकते हो, किन्तु जो व्यक्ति निज पुत्र और पुत्री को प्रवज्या ग्रहण करा सके, वह दायक ही नहीं, धर्म शासन के भी योग्य हो सकता है' (महावंश, प्रकरण 5वां)।

यह सुन कर सम्राट ने, जो महेन्द्र को उपशासक बनाने वाले थे, धर्म के हेतु संधमित्रा समेत भिक्षु बनवा दिया। इस समय, महावंश के अनुसार महेन्द्र की आयु बीस वर्ष और संधमित्रा की अठारह वर्ष थी। मोगाल²⁶ कुमार का आचार्य हुआ। धीरो महादेव ने उसे प्रथम भिक्षु पद दिया। धीरो मज्झहान्तिक ने कम्मवचन किया और तदनन्तर, महावंश लिखता है कि, महेन्द्र अरहत हो गया। महावंश के अनुसार संधमित्रा की आचार्या भिक्षुणी धम्ममती थी और आयुपाली राजकुमारी की उपदेशिका थी। कुछ समय पश्चात्, महावंश लिखता है, वह (राजकुमारी) भी अरहत पद को प्राप्त हो गयी। ये दोनों (अशोक के पुत्र-पुत्री संधमित्रा और महेन्द्र) धम्मशोक के अभिषेक के 6वें वर्ष संघ में प्रविष्ट हुए थे। इन दोनों ने भगवान के धर्म का उज्ज्वल प्रकाश चारों ओर विकीर्ण किया (महावंश प्रकरण 5वां)। महावंश 13वां प्रकरण लिखता है कि अपने आचार्य मोगालिक के पुत्र तथा अन्य भिक्षुगणों के साथ लंका में धर्म प्रचार के लिए जाते हुए महेन्द्र ने अपने पिता से आज्ञा ली और चार धीरो तथा समनरो सुमनो (संधमित्रा का पुत्र) को साथ लेकर दक्षिण गिरि को चला गया। यहां से वह चैत्यगिरि पहुंचा। यहां पर उसकी माता रहती थी। यहां रहने के कुछ दिन पश्चात् वह ज्येष्ठ के महीने में लंका जाने का विचार करने लगा। उसने यह भी सोचा कि मेरे पिता द्वारा भेजे गये बौद्ध धर्म के तीन सिद्धांतों²⁷ को लंका का राजा अच्छी तरह समझ गया होगा, अतः अब धर्म प्रचार में कठिनाई न होगी।

इसी समय महिन्दों (शको-इन्द्र, देवताओं का राजा) महेन्द्र के पास आया और उससे बोला- 'लंका में धर्म प्रचार के लिए जाओ। भगवान बुद्ध द्वारा बोधिवृक्ष के नीचे की गई भविष्यवाणी को पूर्ण करने का समय आ पहुंचा है। हम भी वहां पर तुम्हें सहायता पहुंचाएंगे।'

इसी समय महारानी देवी (महेन्द्र की माता) की छोटी बहन का पुत्र बन्धु भी बौद्ध हुआ। यह बन्धु महेन्द्र का शिष्य बना। इस प्रकार महेन्द्र, सुमन और बन्धु तथा चार अन्य धीरों, अब आकाशमार्ग द्वारा लंका में मिस्सा पर्वत की अम्बाथलो की चोटी पर जा उतरे। उस समय लंका का राजा देवानांप्रिय तिस्सो सलिना त्योहार

मना कर नगरवासियों का मनोरंजन कर रहा था। त्योहार से निपट कर वह चालीस हजार परिचायकों को लेकर मृग के शिकार के लिए निकला और आखेट खेलते-खेलते गिरसा पर्वत के नीचे जा पहुंचा। इस पर्वत के एक देव की इच्छा हुई कि इन धर्म प्रचारकों को लंकाधीश से मिला दूं। अतः वह मृग बन कर चरने लगा। राजा उसके पीछे हो लिया। जब राजा मृग का पीछा करता हुआ थीरो के पास पहुंचा तो देव अंतर्धान हो गया। थीरो महेन्द्र अन्य भिक्षुओं को पीछे छोड़ कर अकेले राजा से मिलने आया। राजा उसे देख कर चकित हो उठा। थीरो ने उससे कहा, तिस्सो यहां आओ। उसे केवल तिस्सो पुकारता हुआ सुन कर राजा ने उसे यक्ष समझा। इस पर महेन्द्र ने उसे बतलाया कि वे जम्बूद्वीप से धर्म प्रचार के लिए आये हैं। जब राजा को यह विदित हुआ कि वे उसी के मित्र धम्माशोक के आदमी हैं, तो वह निश्चित हो गया। भयरहित हो उसने धनुषबाण को अलग फेंक दिया और थीरो के पास जा कर बैठ गया। महावंश कहता है कि जब राजा ने थीरो के अंसख्य प्रचारक मंडल को देखा तो वह चकित हो पृष्ठने लगा, क्या जम्बूद्वीप में ऐसे अन्य और भिक्षुगण हैं? इस पर थीरो ने उत्तर दिया कि जम्बूद्वीप पीत वस्त्रों से प्रकाशमान है। राजा के प्रश्नों का उत्तर दे चुकने पर थीरो ने राजा से कई प्रश्न किये।

‘राजा, इस पेड़ का क्या नाम है?’

‘यह अम्बो का पेड़ कहलाता है।’

‘क्या इसके अतिरिक्त भी कोई अम्बो का वृक्ष है?’

‘बहुत से अन्य अम्बों के पेड़ हैं।’

‘इस अम्बों तथा अन्य अम्बों के अतिरिक्त क्या और भी पेड़ पृथ्वी पर हैं?’

‘भद्र, अम्बो के अतिरिक्त अन्य कई पेड़ हैं।’

‘नरपति, तुम ज्ञानी हो।’

‘राजा, क्या तुम्हारे संबंधी है?’

‘भद्र, कई हैं।’

‘क्या तुम्हारे सम्बंधियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी हैं?’

‘बहुत से मेरे सम्बंधी नहीं हैं।’

‘तुम्हारे सम्बंधियों को छोड़ कर तथा जो तुम्हारे सम्बंधी नहीं हैं, उन्हें छोड़ कर, क्या और भी कोई प्राणी है?’

‘भद्र, मैं स्वयं हूँ।’

‘नरपति, साधु, तुम ज्ञानी हो।’

इस प्रकार बुद्ध के धर्म को समझा कर महेन्द्र ने राजा और उसके चालीस हजार साथियों को बौद्ध धर्म में परिणित किया। इसके पश्चात् महावंश कहता है कि राजा (लंका) ने बंधु को अलग से बुला कर उससे यह मालूम किया कि महेन्द्र उसके मित्र धम्माशोक का लड़का है। इसके अनन्तर राजा चला गया। राजा के जाने के बाद बन्धु भी प्रवज्या ग्रहण कर अरहत हुआ। इसके अनन्तर थीरो ने समनरो सुमनो (सुमन) को पूजा का निर्देश करने की आज्ञा दी। उसने अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा धर्म घोष को पूर्ण ताम्रपर्णी अथवा लंका में प्रतिध्वनित किया। इस घोष को सुन कर ऊपर (स्वर्गलोक) से देवता भी घोष करने लगे और उनकी प्रतिध्वनि मिल कर ब्रह्मलोक पहुंच गई। इस प्रकार, महावंश लिखता है कि, सब देवता भगवान बुद्ध की उपासना के लिए एकत्रित हो आए। प्रातः राजा ने उन्हें बुलाने के लिए रथ भेजा, पर वे लोग न आए। इसके अनन्तर थीरो ने अपने निवास पर एक चैत्य (डगोवा) का निर्माण किया। राजा फिर उन्हें आदरपूर्वक महल में ले गया। वहां सम्मानपूर्वक थीरो को जिमाया गया। इसके अनन्तर राजा ने उप शासक महानगो (राजा का छोटा भाई) की स्त्री अनुला को बुलाया। अनुला पांच सौ स्त्रियों सहित वहां आई और आदरपूर्वक पास ही बैठ गई। थीरो ने उन्हें बुद्ध का धर्म बतलाया। वे सब भी तब बौद्ध हो चलीं। जब नगरवासियों ने थीरो के प्रति यह बात सुनी, तो वे महल अथवा प्रासाद के द्वार पर आकर चिल्लाने लगे। राजा ने इसका कारण जान कर उनसे कहा, प्रासाद में बहुत कम जगह है। शाही गजशाला को ठीक करो। वहां ही नगर के लोग थीरो से भेंट कर सकते हैं। इसके अनन्तर गजशाला में जाकर थीरो ने देवदूत सुत्त नगरवासियों को समझाया। बुद्ध का यह सम्वाद सुनकर लोग अत्यंत हर्षित हुए। उनमें से एक हजार ने धर्म ग्रहण किया। अंत में, महावंश लिखता है, इस प्रकार उस (महेन्द्र) ने लंका का दीपक बन कर वहां धर्म का प्रकाश फैलाया।²⁸

आगे महावंश (प्रकरण 15) लिखता है कि लोगों ने राजकीय उद्यान में थीरो के लिए बैठने को वेदी बनाई। इस नन्दनवन में थीरो (महेन्द्र) ने वालापण दिव्य सुत्त का प्रचार किया। इस समय 1000 स्त्रियों ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया। तत्पश्चात् राजकुमारी अनुला पांच सौ स्त्रियों सहित थीरो के पास आई। यह राजकुमारी दीक्षा लेकर संघ में प्रविष्ट होना चाहती थी, किन्तु थीरो ने अपनी असमर्थता प्रकट की। उसने राजा को बतलाया कि पाटलिपुत्र में मेरी छोटी बहन संघमित्रा है। वह भिक्षुणी है, अतः हमारे पिता को, ऐ राजा एक पत्र भेजो और प्रार्थना करो कि संघमित्रा को बोधिवृक्ष की दाईं शाखा समेत यहां भेजें। जब वह थैरी आएगी, तभी ये स्त्रियां दीक्षा पा सकती हैं।

थीरो के निर्देशानुसार लंका के राजा ने एक प्रतिनिधि मंडल महाअरिह की अध्यक्षता में अशोक के पास संधमित्रा और बोधिवृक्ष की शाखा लाने के लिए भेजा। जब यह समाचार अशोक ने सुना तो उसने संधमित्रा से इस प्रकार कहा, अम्मा (माता)! पुत्रों, पौत्रों और तुमसे भी अलग होकर मैं कैसे अपने दुख को शान्त कर सकूंगा। संधमित्रा भिक्षुणि ने उत्तर दिया, भाई के वचन गुरु हैं और प्रवज्या लेने वाले भी असंख्य हैं, अतः मेरा वहां जाना आवश्यक है। इसके अनन्तर बड़े यत्न के साथ बोधि वृक्ष की शाखा काट कर निकाली गयी। संधमित्रा तब बोधिवृक्ष की शाखा तथा अन्य लोगों को साथ लेकर लंका के लिए चल पड़ी (महावंश, प्रकरण 19वां)। इस प्रकार दूसरा धर्म प्रचारक मंडल लंका गया। गाथाओं के अनुसार यह मण्डल अशोक के अभिषेक के 18वें वर्ष में लंका गया था (महावंश 20वां सुत्त)।

एक तीसरा मिशन भी सुमन (अशोक का पोता) के नेतृत्व में पाटलिपुत्र से लंका गया था। इस मिशन का तात्पर्य भगवान के अवशेषों को भारत से लंका ले जाना था। महावंश इस मिशन का इस तरह उल्लेख करता है, राजा ने महेन्द्र से अवशेषों के लाने के बारे में पूछा। महेन्द्र ने कहा, सुमन से सलाह लो। इसके अनन्तर राजा ने सुमन से इस प्रकार कहा - 'भद्र सुमन, पाटलिपुत्र जाकर धम्मशोक को मेरा यह सन्देश कहना, महाराज, तुम्हारा मित्र देवानांप्रिय तिस्स एक डगोवा स्तूप बनाना चाहता है। तुम्हारे पास (शाक्य) मुनि के कई अवशेष हैं, उनमें से कुछ अवशेष तथा भगवान के खाने का पात्र मुझे देने की कृपा करो। इस प्रकार सुमन पाटलिपुत्र धम्मशोक के पास पहुंचा और वहां से कुछ अवशेष लंका ले गया।²⁹

इन गाथाओं की सत्यता पुराने गुफा चित्रों से भी सिद्ध होती है। अजन्ता गुफा की एक दीवार के एक मण्डोदक चित्र में गाथाओं में उल्लेखित घटनाओं का चित्रण है। शिलालेखों में भी धर्म प्रचार का उल्लेख मिलता है। शिलालेख द्वितीय तथा त्रयोदश शिलालेख में ताम्रपर्णी का उल्लेख किया गया है, जहां सम्राट अशोक ने अपने दूतों को धर्म प्रचार के लिए भेजा था। इसी ताम्रपर्णी (ताम्बपानी) को गाथाओं में लंका द्वीप कहा गया है (14वां प्रकरण, महावंश)। ताम्रपर्णी को अशोक ने स्वयं उन देशों की नामावली में दिया है, जहां सम्राट को धर्म विजय उपलब्ध हुई थी। द्वितीय शिलालेख से यह स्पष्ट है कि सम्राट ने ताम्रपर्णी में सर्वकल्याण के कार्य करवाये थे। वहां मनुष्य और पशु दोनों के हितार्थ चिकित्सालय स्थापित कराये गये थे। वहां की सड़कों पर पेड़, कुएं आदि की (मनुष्य और पशु दोनों के कल्याणार्थ) व्यवस्था कराई गयी थी। इस प्रकार 258-257 ई.पू. से ही लंका में सम्राट का धर्म कार्य होने लगा था। किन्तु महेन्द्र का उल्लेख शिलालेख में नहीं है। सम्भव है महेन्द्र

द्वारा लंका में धर्म प्रचार का कार्य उक्त शिलालेख के प्रकाशन के बाद अर्थात् 252 ई.पू. में हुआ हो। किन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि सम्राट के पूर्व कार्यों के कारण महेन्द्र को लंका में धर्म प्रचार के लिए यथेष्ट सहयोग प्राप्त हुआ। इसका निर्देश स्वयं महावंश करता है, 'देवानांप्रिय तिस्रो और धर्माशोक ये दो राजा, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से आपास में अपरिचित न थे, किन्तु इस समय के पूर्व ही वे मित्रता के सूत्र में बंध चुके थे' (महावंश, प्रकरण 12वां)।

धर्म प्रचार एवं संसार के प्रति अशोक की सन्देह निवृत्ति

सम्राट को अपने धर्म प्रचार के प्रति संतोष था, यह हम उनके शिलालेखों से मालूम कर सकते हैं। गौण शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरि कहता है, 'संघ की यात्रा करने के एक वर्ष से अधिक मैंने अत्यंत पराक्रम किया। अतः इस समय के भीतर जम्बूद्वीप के वे लोग जो देवताओं से सम्बंधित न थे, देवताओं से सम्बंधित हुए। पराक्रम का ही यह फल है।' इसी प्रकार अपने धर्म प्रचार के प्रति सन्देह की निवृत्ति करते हुए सम्राट चतुर्थ शिलालेख में कहते हैं, 'जैसा सैकड़ों वर्ष पहले न हुआ था, देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्मानुशासन द्वारा आज जीवों की अहिंसा, पशुओं का मारा न जाना, सम्बंधियों से उचित व्यवहार और वृद्ध जनों की सेवा बढ़ रही है। यह तथा धर्म के अन्य आचरण बढ़ गये हैं तथा देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस धर्माचरण को और उन्नत करेगा।' इससे सर्वथा प्रकट है कि सम्राट को अपने धर्म की अभिवृद्धि देख कर तृप्ति हो रही थी। सम्राट की आकांक्षा उन्हें और आगे ले जा रही थी। उनकी इस आकांक्षा की तृप्ति हम महेन्द्र, संधमित्रा, सुमन आदि तीनों अथवा आचार्यों के धर्म प्रचार में पाते हैं। इसी प्रकार प्रथम स्तम्भ लेख, सातवां स्तम्भ लेख और 13वें शिलालेख में सम्राट ने अपने धर्म प्रचार के प्रति संतोष व्यक्त किया है। प्रथम स्तम्भ लेख कहता है कि 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है अभिषिक्त होने के 22वें वर्ष मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई। बिना धर्म कामना, परीक्षा, अनुज्ञा और बिना उत्साह के इहलोक और स्वर्गलोक (परलोक) को पाना कठिन है, किन्तु निःसन्देह मेरे धर्मानुशासन के कारण धर्माचरण तथा धर्मानुष्ठि में दिन-दिन वृद्धि हुई है और होगी।' सातवां स्तम्भ लेख लिखता है, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि जो कुछ पुण्य कार्य अथवा धर्म का पालन मैंने किया है उसका लोगों (प्रजा) ने भी अनुसरण किया है तथा लोग मेरे धर्म नियमों पर चलते हुए उन्नति करने लगे हैं और माता, पिता, गुरु की सेवा तथा वृद्धों, ब्राह्मणों, श्रमणों, गरीबों, असहायों, दास एवं नौकरों के प्रति उचित व्यवहार करते हुए धर्म में बढ़ेंगे।' 13वां शिलालेख कहता है कि 'धर्म विजय को ही देवताओं का प्रिय प्रमुख विजय मानता है। यह धर्म विजय, अपने

विजित राज्य में तथा सभी सीमान्त प्रदेशों में छःसौ योजन तक, जहां यवन राजा अन्तियोक्स तथा उससे भी दूर जो अन्य चार राजा तुरमय, अंटिगोनस, मग (मक) और अलिक सुन्दर हैं तथा नीचे दक्षिण में चोंड़, पांड्य और ताम्रपर्णी तक के राज्यों में प्राप्त हुई है। इसी प्रकार सम्राट के विजित राज्य में यवनों, कम्बोजों, नाभाक और नाभपन्तियों, पैटानिकों, आन्ध्रों व पुलिन्दों के राज्य में सर्वत्र लोग देवताओं के प्रिय के धर्माचरण अथवा धर्मानुशासन का अनुसरण कर रहे हैं। वहां के लोग भी जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्मानुशासन, धर्म प्राप्ति (धर्मविधान) सुन कर उस पर आचरण करते हैं और आचरण करते रहेंगे।'

निःसन्देह सम्राट अशोक ने, धर्म के कल्याणकारी शस्त्रों अहिंसा और स्नेह द्वारा सम्पूर्ण भारत और पश्चिमी देशों के अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त कर संसार को अमानवीय क्रूरताओं और हिंसा की जगह, प्रेम से विजय प्राप्त करने का मार्ग दिखलाया। इस प्रकार की विजय को सम्राट ने धर्म विजय कहा है और उसे इहलोक और परलोक दोनों में सुख देने वाला बतलाया है। क्यों? इसी कारण कि सम्राट की यह विजय धर्म से की गयी थी और उसमें स्वार्थ, दम्भ, पाखण्ड और क्रूर अमानुषिक अत्याचारों का लेशमात्र भी सहयोग न था। इसीलिए महाभारत में भी कहा गया है कि राजा को विजय अवश्य करनी चाहिए, किन्तु दम्भ और पाखण्ड से नहीं।³⁰



अध्याय-7

अशोक कालीन भारत

अशोक कालीन भारत की अवस्था का पूर्ण रूप से पता लगाना कठिन है। इसके लिए हमारे पास बहुत थोड़ी सी सामग्री सम्राट के शिलालेखों से ही उपलब्ध होती है। यद्यपि धर्मलिपियां केवल धर्म प्रचार के लिए ही लिखवाई और प्रेषित की गई थीं, फिर भी अकस्मात् उन लेखों में कुछ ऐसे उल्लेख मौजूद हैं, जिनसे उस समय के भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। द्वितीय, पाली साहित्य की बौद्ध गाथाओं से भी हमें उस समय की अवस्था को समझने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। इस प्रकार हमारे पास अशोक कालीन भारत की सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था को जानने के लिए दो माध्यम हैं-

1. शिलालेख
2. बौद्ध गाथाएं

पहले हम धार्मिक अवस्था का ही उल्लेख करेंगे। सम्राट शिलालेखों में बार-बार धर्म की परिभाषा देते हुए कहते हैं, ब्राह्मण और श्रमणों की सेवा करना उत्तम है (तृतीय शिलालेख)। ब्राह्मण और श्रमणों को कुछ विद्वानों ने एक ही माना है। राजा डेविड्स ब्राह्मण और श्रमणों का इस प्रकार अर्थ करता है, 'जीवन की साधुता से हुए ब्राह्मण।' किन्तु पाली साहित्य में ब्राह्मण और श्रमण का अलग-अलग लेकिन एक साथ उल्लेख किया गया है तथा दोनों ब्राह्मण और श्रमण उत्तम आदर के समान अधिकारी बताये गये हैं।¹ इससे मालूम होता है कि ब्राह्मण और श्रमण दो पृथक् सम्प्रदाय थे। भंडारकर लिखते हैं, ब्राह्मण गण सन्यासी अथवा परिव्राजक थे, जिनका धर्म वैदिक धर्म से सम्बंधित था, किन्तु श्रमणों का धर्म और सिद्धान्त ब्राह्मण धर्म ग्रंथों से अलग था। ये दोनों (ब्राह्मण और श्रमण) विभिन्न धर्म के होने पर भी साधुता का जीवन यापन करें तथा अन्य लोगों से सम आदर सत्कार पायें, इसी भावना से प्रेरित होकर सम्राट अशोक ने दोनों का उचित आदर किया तथा अन्य लोगों को भी इसी प्रकार उनके प्रति आचरण करने का आदेश दिया। 7वें स्तम्भ लेख में अन्य तीन सम्प्रदायों के नाम भी मिलते हैं। इस लेख में सम्राट कहते हैं कि 'मेरे धर्ममहामात्र बहुत प्रकार के उपकार के कार्यों में लगे हैं, जो सन्यासी और गृहस्थ दोनों से सम्बंधित हैं। वे सभी सम्प्रदायों के लिए नियुक्त हैं। मैंने उन्हें

संघ के लिए, ब्राह्मणों के लिए, आजीविक सन्यासियों, निर्ग्रन्थों तथा अन्य सम्प्रदायों के लिए नियुक्त किया है।'

इस प्रकार, ब्राह्मणों और श्रमणों के अलावा संघ, आजीविक और निर्ग्रन्थ तीन सम्प्रदाय प्रमुख थे। इनके अलावा अन्य सम्प्रदायों का भी उल्लेख है, लेकिन उनके नाम नहीं दिये गये हैं। इससे मालूम होता है कि ये अन्य सम्प्रदाय प्रमुख सम्प्रदायों में न थे। शिलालेख में आये संघ से तात्पर्य बौद्ध संघ से है। सम्राट अशोक स्वयं बौद्ध थे, इसलिए सर्वप्रथम संघ का उल्लेख किया जाना ठीक है। अशोक के समय में बौद्ध धर्म में मतभेद होने प्रारम्भ हो गये थे और इसलिए संघ में फूट पड़ने का अंदेश पैदा हो गया था। अतः संघ की रक्षा हेतु सम्राट ने कड़े नियमों का निर्माण किया, संघ का विच्छेद किसी तरह भी नहीं किया जा सकता। जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ का भेद करे, उसे सफेद वस्त्र पहना कर विहार से अलग कर दिया जाय।² निग्लिव स्तम्भ लेख से मालूम होता है कि अशोक के समय के प्राग्भूत बुद्ध बोधिसत्त्वों की पूजा भी वर्तमान थी। सम्राट कोनकामन (बुद्ध) की यात्रा पर गये थे और कोनकामन स्तूप का जीर्णोद्धार भी किया था। इसका उल्लेख सम्राट ने इस तरह किया है, 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी राजा ने अभिषिक्त होने के 14वें वर्ष बुद्ध कोनकामन के स्तूप को द्विगुणित किया और अभिषिक्त होने के 20वें वर्ष स्वयं आकर पूजा की तथा (वहां पर) सम्मानार्थ एक पाषाण स्तम्भ स्थापित किया।' कोमकामन चौबीस बुद्धों में से एक बुद्ध का नाम है जो गौतम बुद्ध से पूर्व तीसरे बुद्ध हुए हैं।

बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण

मूलतः बौद्ध धर्म मूर्ति पूजक न था। स्वयं बुद्ध भगवान ने मूर्ति न पूजने का आदेश दिया था, किन्तु कालान्तर में तथागत के भक्तों की श्रद्धा भगवान की मूर्तियों के निर्माण करने का कारण बनी और सर्वत्र बौद्ध मन्दिरों में उनकी पूजा की जाने लगी। लेकिन यहां पर हमें यह विचार करना है कि क्या अशोक के समय बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हो चुका था या नहीं? सम्राट अशोक के स्मारकों पर जैसे, चैत्य, स्तम्भ, शिलालेख कहीं भी बुद्ध भगवान की मूर्ति अंकित नहीं है। कालसी शिला प्रस्तर के उत्तर ओर हाथी की रेखांकित प्रतिकृति है, जिसके लिए गजोत्तम (उत्तम हस्ती) लिखा है (6वां शिलालेख)। धौली में भी सेती (सफेद हाथी) लिखा है तथा 13वें गिरनार शिलालेख में ये वाक्य खुदे हैं, 'शुभ्र हस्ति विश्व के कल्याण को लाने वाला है।' इससे मालूम होता है कि गिरनार शिला पर भी हाथी का चित्र अंकित रहा होगा। निःसन्देह शुभ्र हस्ती शाक्य मुनि भगवान बुद्ध का द्योतक है क्योंकि बौद्ध गाथाओं के अनुसार बोधिसत्त्व (आगामी गौतम बुद्ध) ने स्वर्ग को त्याग कर विश्वकल्याण के लिए शुभ्र हस्ती के रूप में अपनी माता मायादेवी के गर्भ में प्रवेश

किया था।³ फलतः अशोक के समय बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण न हुआ था, इसलिए तब बुद्ध के प्रतीक जैसे शुभ्र हस्ती आदि ही पूजे जाते थे।

आजीविक सम्प्रदाय

भण्डारकर आजीविक को ब्राह्मण का विशेषण मानते हैं। उनका कहना है कि आजीविक एक पृथक् सम्प्रदाय था, जिसका मुखिया गोसाल था। गोसाल पहले जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर का शिष्य रह चुका था। आजीविक नग्न सन्यासी होते थे। ये लोग इन्द्रिय निग्रह को धर्म का लक्षण नहीं मानते, यही कारण था कि महावीर ने पार्श्वनाथ के चार जैन सिद्धान्तों में पवित्रता और ब्रह्मचर्य संयम, इन दो सिद्धान्तों का भी समावेश किया। गोसाल का सिद्धान्त नियति अथवा दैवपरता था। उनका कहना था कि प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना नियति अथवा भवितव्यता के अनुरूप होती है। अस्तु किसी भी प्रकार की घटना के लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं है और इसलिए नियति का दास मनुष्य हर प्रकार के इन्द्रिय निग्रह या धार्मिक बन्धनों से मुक्त है।⁴

निर्ग्रन्थ

ये लोग महावीर के अनुगामिन थे। जैनियों का दूसरा नाम निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है- जिसकी ग्रन्थियां मुक्त हो चुकी हों, अर्थात् जो संसार के बन्धनों से मुक्त हो चुका है। इन्द्रिय जीत या जिन शब्द का अभिप्राय भी जैन से ही है। जैन धर्म को सम्राट के पोते सम्प्रति का संरक्षण प्राप्त था। फलतः अशोक के समय उगते हुए धर्मों में जैन धर्म प्रमुख धर्मों में था।

विभिन्न सम्प्रदायों के लिए अशोक ने पाषडपि अथवा पाषंडमिड्ड या पासंड शब्द का प्रयोग किया है। 13वें प्रज्ञापन शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'नथि चा वे जनपदे यथा नथि इमं निकाया, आनंता येनेष ब्रम्हने चाषमने, चा नथि चा कुवापि जनपदपि तथा नथि मनुषानं एकतलपि पि पाषडपि नो नाम पषाडे।' अर्थात् ऐसा कोई जनपद नहीं है जहां ब्राह्मण व श्रमण आदि सम्प्रदाय न हों। ऐसा कोई जनपद नहीं है, जहां मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। इस प्रकार प्रकट है कि अशोक के समय सम्प्रदाय अथवा धर्म के लिए पाषंड शब्द का प्रयोग किया जाता था। पाषंड संस्कृत शब्द पाषण्ड का अपभ्रंश है। किन्तु भण्डारकर की सम्मति में पाषंड संस्कृत शब्द पाषंड नहीं वरन् पार्षद वा पार्षण्ड का विकृत रूप है। पार्षण्ड शब्द अन्य संस्कृत ग्रंथों में नहीं मिलता है, किन्तु सम्भवतः यह शब्द अशोक के समय बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त होता रहा हो।⁵

पाषंड से अभिप्राय, जैसा कि हम उपर लिख चुके हैं, धर्म से भी है। अस्तु, इस धर्म का तात्पर्य क्या है? इस धर्म से सम्राट का तात्पर्य उन्हीं सद्वृत्तियों से है,

जिन्हें वे सब धर्मों के अन्तर्गत समझते हैं तथा जिनको सर्व पापंड, ब्राह्मण अथवा श्रमण सभी समान रूप से मानते और अंगीकार करते हैं तथा उन धर्म नियोगों पर आचरण करते हैं। इसी से सम्राट 7वें शिलालेख में कहते हैं, 'देवताओं के प्रिय की अभिलाषा है कि सभी सम्प्रदाय एक ही स्थान पर रहें क्योंकि वे सब आत्मा की शुद्धता एवं संयम चाहते हैं।' इसी प्रकार सम्राट 12वें शिलालेख में एक दूसरे के धर्म को श्रवण करने का आदेश देते हैं। फलतः अशोक के समय सम्प्रदायों के अच्छे सिद्धांतों, नियमों अथवा शुद्ध संयमित आचरण का दूसरा नाम ही धर्म था। इस धम्म वा धर्म का लक्षण जानने के लिए द्वितीय गौण शिलालेख देखिए, 'देवताओं का प्रिय कहता है कि माता और पिता की आज्ञा का पालन होना चाहिए। इसी भांति अन्य जीव धारियों का आदर भी अनिवार्य है। सत्यभाषी होना अच्छा है। ये ही धर्म के लक्षण हैं, जिनका अवश्यमेव अनुशीलन होना चाहिए।'

प्रोफेसर जाली का कहना है कि संस्कृत साहित्य में धर्म एक प्रच्छन्न तथा प्रमुख शब्द है। भारतीय आलोचकों के अनुसार आत्मा के विकास का मूल है धर्म पर आचरण करना। धर्म स्वर्गिक उपहारों एवं सुख का प्रदायक तथा मोक्षदायक है। इस प्रकार धर्म उन शिव, सुन्दर, साधु और दैवी अथवा सद्गुणियों का निर्मल समूह है, जिन पर आचरण करने से मनुष्य इह लोक और परलोक दोनों पर विजय प्राप्त कर सच्चे सुख का भागी हो सकता है। इस कारण सम्राट अशोक कहते हैं कि प्रत्येक सांसारिक या साम्प्रदायिक रीति रिवाज सन्द्देहात्मक तथा निरर्थक हैं क्योंकि उनसे सच्चे सुख का लाभ होना कठिन है, किन्तु जो फल धर्म मंगल से होता है, वह अक्षय सुख का प्रदायक है। इस धर्म मंगल से सबसे बड़ा सुख अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये धर्म मंगल क्या है? 9वां शिलालेख लिखता है कि धर्ममंगल में निम्न बातें होती हैं, दास और नौकरों से उचित व्यवहार, वृद्ध तथा गुरुजनों की पूजा, अहिंसा व प्राणियों में संयम, (प्राणियों में संयम का अर्थ है हिंसा से अलग रहना, किसी जीव को अपने सुख के लिए नष्ट न करना, सर्वप्राणियों की रक्षा करते हुए अहिंसा व्रत का पालन करना) श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना तथा इसी प्रकार के अन्य कर्म धर्म मंगल के कर्म (कार्य) हैं। इस धर्म मंगल से यहां (इस संसार में) मनचाहा फल मिलता है और परलोक में भी यह अनन्त पुण्य देने वाला है।

धर्म की उपरोक्त व्याख्या से हम कह सकते हैं कि सम्राट अशोक कर्म पर अधिक जोर देते हैं। कर्म अच्छे होने चाहिए, चाहे मनुष्य किसी विशेष देवता का अथवा धर्म का उपासक क्यों न हो। उनका विश्वास था कि कोई भी मनुष्य किसी सम्प्रदाय में न रह कर भी साधु अथवा गृहस्थ हो सकता है। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्राट सुन्दर प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने और सुन्दर नियमों पर आचरण करने को ही प्रधान धर्म समझते थे। इसी कारण विसैंट

स्मिथ ने अशोक के धर्म को 'विना ईश्वर का धर्म' कहा है।¹ अशोक के समय संभवतः कर्मवाद का सिद्धांत साधारण उपासक से लेकर सभी पाषंडों, सम्प्रदायों आदि में जोर पकड़ने लगा था। लोगों में यह विश्वास घर करने लगा था कि सद्वृत्तियों एवं सुन्दर कर्मों के विकास से ही उनके इहलोक और परलोक दोनों शुद्ध होंगे और उन्हें परम सुख की प्राप्ति होगी। सम्राट सद्वृत्तियों पर अनुशीलन करने का परिणाम, समाज में दिव्यरूपों अर्थात् स्वर्गीय उपहारों (विमान, अग्निस्कंध, शुभ हस्ति आदि) को दिखला कर स्पष्टतः व्यक्त करते थे। इस प्रचार के फलस्वरूप सुन्दर कर्म के सिद्धांत अथवा नियमों को ही लोग अपने देवता समझ कर उनकी (सिद्धान्तों की) पूजा करने लगे। इस प्रकार मालूम होता है कि कर्मवाद या कर्मयोग को अंगीकार कर अशोककालीन सम्पूर्ण जनता ज्ञाननिष्ठ या तत्त्वविद् हो चली थी। उस काल में भी आजकल की भांति बहुत से अंधविश्वास समाज में प्रचलित थे। विशेषतः, जैसा कि आज भी देखने को आता है, उस समय सशक्तित हृदय वाली स्त्रियां संभवतः अन्धविश्वासी हुआ करती थीं। अशोककालीन स्त्रियों में मिथ्या धर्म का कितना प्रचार था, इस बात को सम्राट ने 9वें शिलालेख में कहा है, 'देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि जनता में बहुत से मंगल मनाये जाते हैं। किसी के बीमार होने पर, लड़के और लड़कियों के ब्याह के अवसर पर, बच्चों के जन्मोत्सव पर, घर से विदा होते समय आदि सभी अवसरों पर लोग बहुत तथा विभिन्न प्रकार के मूढ़ उत्सव या मंगल मनाते हैं। मंगल अवश्य मनाने चाहिए, किन्तु उपरोक्त मंगल बहुत कम लाभप्रद हैं। जो मंगल धर्म से सम्बंध हो, वह अत्यंत फलदायक होता है। इस धर्म मंगल में निम्न बातें होती हैं- वेतनभोगी और दासों से उचित व्यवहार, गुरुओं का आदर-सत्कार, अहिंसा (प्राणियों में संयम) ब्राह्मणों और श्रवणों की सुश्रुषा, इन्हें और ऐसे ही अन्य मंगल कार्य धर्म मंगल कहलाते हैं।' इस विवरण से प्रकट है कि आजकल अशिक्षित जनता और अशिक्षित स्त्रियों में जिस प्रकार बहुत से मूढ़ तथा अन्धविश्वास जैसे - भूत-प्रेत आदि की पूजा प्रचलित है, इसी प्रकार अशोक के समय भी अशिक्षित स्त्री समाज और जनता में अनेक प्रकार के अंधविश्वास फैले हुए थे। इस मिथ्या धर्म के कारण उस समय के समाज में यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, नाग, सुदसी, हस्ती, अश्व व काक आदि की उपासना जाग उठी थी। बौद्ध ग्रंथ सुत्तपिटक निदेश में अनेक प्रकार के सम्प्रदायों का उल्लेख है जैसे जतिल, अवरुद्धक, परिव्राजक, हस्ति पूजक, अश्व और गौ के उपासक, कुत्ता और कौवा के उपासक, यक्ष, गन्धर्व, चन्द्र, सूर्य, पुष्पभद्र, मणिभद्र, वासुदेव, बलदेव, ब्रह्मा, इन्द्र तथा विभिन्न दिशाओं के उपासक। इस तरह के मिथ्या धर्म अथवा अन्धविश्वासों को मिटाने के लिए ही सम्राट ने धम्ममंगल को अन्य मंगलों से सर्वोत्तम कहा है।

जाति निरोध

अशोक के समय जाति-पांति के नियम बड़े न थे। उस समय का धर्म संकुचित न होकर विशाल था। जनता जातिगत दारुण नियमों से बंधी न थी। विभिन्न जातियों में पारस्परिक मेलजोल था। जाति के नियमों की कर्कशता लोगों को एक-दूसरे से पृथक् करने वाली न थी। छुआ छूत का पूर्णतया अभाव था। सम्राट के प्रतापी पितामह ने यवनकुमारी हेलेन का प्रेम अंचल स्वच्छंदतापूर्वक अंगीकार किया था। जाति की उच्चता और नीचता का अन्तर न होने के कारण ही यवन राज तुहषास्प अशोक के सौराष्ट्र का अधिनायक था। प्राचीन काल में आर्य मिशन यवन प्रांत सीरिया, मिस्र, कैरीन, मेसिडोनिया और इपीरस में धर्म प्रचार कर रहे थे।¹⁷ सामुद्रिक अथवा वैदेशिक यात्रा पर तब कोई प्रतिबन्ध न था। इस प्रकार उस समय का समाज जाति के बन्धनों और छुआछूत के घृणित प्रतिबन्धों आदि से विल्कुल मुक्त था।

सामाजिक व्यवस्था

सम्राट अशोक के समय लोगों में मांस-भक्षण काफी प्रचलित था। प्रथम शिलालेख में सम्राट कहते हैं कि राजकीय पाकशाला में कई सहस्र प्राणी भोजन के लिए मारे जाते थे। बहुत से पशु ऐसे भी थे, जिनका मारा जाना पाप कृत्य समझा जाता था। 5वें स्तम्भ लेख में सम्राट कई प्रकार के पशु और पक्षियों के मारने का निषेध करते हैं, जिन्हें वे 'परिभागं नो एति न च खादियति' कहते हैं जो न काम में आते हैं और न खाये जाते हैं। धर्म शास्त्र के धर्म संहिता में कई ऐसे पशुपक्षियों का नाम दिया है, जिनका मारना पाप बतलाया गया है। कई जानवर सम्राट ने ऐसे भी दिये हैं, जिनका मारना वे निषेधात्मक बतलाते हैं, किन्तु याज्ञवल्क्य, गौतम, मनु, वशिष्ठ आदि उनकी हिंसा का निषेध नहीं करते, जैसे गंडक और ग्वङ्गधेनु।

अशोक के समय होम, बलि और यज्ञ आदि की प्रथा का भी काफी प्रचलन था। इस बलि प्रथा के कारण जनता में हिंसा-भाव बढ़ चला था। शिलालेख चतुर्थ लिखता है, 'बहुत समय बीता, सैकड़ों वर्ष हो गये, कि जीवों का यज्ञ के लिए बलि होना, जीव हिंसा और सम्बंधियों, श्रमणों तथा ब्राह्मणों का अनादर बढ़ता ही गया, किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के धर्माचरण से भेरी घोष धर्म घोष में परिवर्तित हो चला, बढ़ती हुई जीव हिंसा को रोकने के लिए सम्राट को राजकीय आज्ञाएं प्रेषित करनी पड़ी।'।

जीव हिंसा बढ़ने का दूसरा कारण आखेट प्रथा थी। अशोक से पूर्व के राजागण बहुधा विहार यात्रा को निकला करते थे। इन विहार यात्राओं में शिकार खेलते हुए वे मनोरंजन किया करते थे। इस प्रकार जीव हिंसा बढ़ती जाती थी।

आखेट में होने वाली जीव हिंसा को रोकने का भी सम्राट ने प्रयत्न किया। आठवां शिलालेख लिखता है, 'विगत समय में राजा लोग विहार यात्रा को निकलते थे। इस (विहार यात्रा) में शिकार आदि मनोरंजन हुआ करते थे, किन्तु देवताओं के प्रिय ने अभिषिक्त होने के 20वें वर्ष सम्बोधि की यात्रा की, तब से ये धर्मयात्राएं आरम्भ होती हैं। इस धर्मयात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं, ब्राह्मणों का दर्शन, श्रमणों का दर्शन और उन्हें दान देना, गुरुजनों का दर्शन और उन्हें सोने का दान देना, जनपद के लोगों का दर्शन, उन्हें धर्म की शिक्षा देना और यदि उचित समझा जाय, तो उनके साथ धर्म पर जिज्ञासा करना, (शाहवाजगढ़ी)। इस प्रकार विहार यात्रा को धर्म यात्रा में बदल कर सम्राट ने लोगों को हिंसा के मार्ग से हटा कर धर्म पथ पर ले जाने का प्रयत्न किया। जीव हिंसा को रोकने के लिए अन्य अहिंसात्मक आजीविक सम्प्रदायों जैसे जैन आदि ने भी इस दिशा में काफी प्रयत्न किया। जीव हिंसा को रोकने के लिए सम्राट ने और भी बहुत से प्रयत्न किये (चतुर्थ स्तम्भ लेख)।

स्त्री समाज

स्त्रियों के विषय में शिलालेखों से हमें बहुत कम ज्ञान होता है। 9वें शिलालेख से इतना अवश्य मालूम होता है कि उस समय की स्त्रियों में अन्धविश्वास बहुत था, जैसा कि अशिक्षित समाज में आज भी है।

पर्दाप्रथा

भंडारकर की सम्मति में अशोककालीन स्त्रियों में प्राचीन काल से पर्दा की प्रथा विद्यमान थी। इसके प्रमाण में वे अवरोधन शब्द देते हैं। उनका कहना है कि अशोक ने अपनी रानियों के महल के लिए अवरोधन शब्द प्रयुक्त किया है। इनसे मालूम होता है कि अशोक की रानियां बन्द पर्दे में रहा करती थीं। इसके प्रमाण में वे कौटिल्य के अन्तःपुर का भी उल्लेख करते हैं। सत्यकेतु ने भी भण्डारकर के मत का समर्थन करते हुए स्वीकार किया है कि प्राचीन समय में पर्दाप्रथा का प्रचलन था।

पर्दाप्रथा की विवेचना करने से पहले हमें पर्दा का अर्थ पूर्णतया समझ लेना चाहिए। पर्दा के दो अर्थ हैं। प्रथम गोपनीयता के लिए पर्दा, दूसरा पर्दा जैसा कि बुर्के के अर्थ में विद्वानों ने लिया है। यदि कोई व्यक्ति किसी बात को पर्दे में गोपनीयता के साथ करना चाहता है, तो क्या वह व्यक्ति पर्दा प्रथा का अनुगामी कहा जाएगा? यदि रानियों का अन्तःपुर गुप्त या अलग स्थान पर बनाया जाता था तो क्या इसका अर्थ पर्दा प्रथा के रूप में लेना चाहिए? अवरोध या अन्तःपुर को अवश्य अवरुद्ध रहना चाहिए क्योंकि इसका उपयोग निजी गोपनीयता के लिए किया

जाता है। यदि कौटिल्य ने राजकीय अन्तःपुर का निर्माण सुरक्षित जगह पर करने को कहा, जहां कोई पर पुरुष या विदेशी आक्रमणकारी न पहुंच सके, तो उचित ही है। स्त्रियां कोमल हृदय की होती हैं, उनमें पुरुषों की सी हिंसा, पटुता तथा पौरुषता का अभाव रहता है, फलतः विदेशी आतताई, आक्रमणकारी षडयंत्रकारियों से उनकी रक्षा करने के लिए सुरक्षित अवरोधन या अन्तःपुर का निर्माण आवश्यक था। इसलिए अवरोधन तथा अन्तःपुर शब्दों को पर्दाप्रथा के प्रमाण-रूप में देना भूल है। उस समय पर्दा था, किन्तु उतना ही जहां तक मर्यादा कहती है। रानियों के अन्तःपुर गुप्त या एकान्त स्थान में होते थे, इसलिए नहीं कि पर्दा का रिवाज था, इसलिए कि वे मर्यादा और नियमों के अन्तर्गत रहना चाहते थे। गोपनीयता और पर्दा दो भिन्न बातें हैं। भंडारकर ने अपने पक्ष की प्रबलता के लिए पाणिनी के सूत्र असूर्यम्पश्या को पेश किया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने 'असूर्यम्पश्या राजदारा', राजा की स्त्री किया है। यह असूर्यम्पश्या शब्द कौमुदी महोत्सव नाटक में भी एक राजकुमारी के लिए प्रयुक्त किया गया है। भण्डारकर कहते हैं कि राजा की स्त्रियां या रानियां इतनी निर्दयता और दृढ़ता के साथ बन्द रहती थीं कि सूर्य भी उनको न देख पाता था। खेद है कि बिना विवेचना के ही असूर्यम्पश्या का सरल अर्थ लगा कर उसका अनर्थ किया गया है। साधारणतया असूर्यम्पश्या का अर्थ जिनको सूरज नहीं देख पाता, ही लिखा जाता है, किन्तु वस्तुतः उसका भाव यह है कि वे (स्त्रियां) इतनी पतिव्रता होती थीं कि पर पुरुष का मुख देखना तो असम्भव ही है, वे सूर्य के मुख को भी न देखती थीं^१ ब्राह्मण धर्म में स्त्रियों के लिए सूर्य को अर्ध देना नहीं लिखा है, इसलिए भी शायद वे असूर्यम्पश्या कहलाती थीं। संस्कृत साहित्य के इस श्लोक को भी देखिए, 'ललाट तप्तसूर्य्यतु ताऽसौन्दर्य विधातक मुखये च कि मोत्पादकत्वेन न पश्यन्ति', स्त्रियां इतनी कोमलंगी होती थीं, उनका सौन्दर्य इतना तरल और स्निग्ध था कि सूर्य की तीखी किरणों के भाले उनके लावण्य कुसुम को विदीर्ण कर देते थे। इस अलंकारिक भाव के अनुसार सौन्दर्य की रक्षा के हेतु ही वे सूर्य को न देखती थीं, जिसके फलस्वरूप उनका असूर्यम्पश्या नाम पड़ा। फलतः असूर्यम्पश्या शब्द स्त्रियों की पवित्रता, चारित्र्य की उज्ज्वलता तथा कोमलता या बोधक है, पर्दा प्रथा का नहीं। प्राचीन काल की स्त्रियों में पाश्चात्य ढंग की स्त्रियों सा फैशन या चुलबुलापन न था किन्तु सतीत्व की मर्यादा अवश्य थी जो उन्हें सूर्य का मुख तक देखने से रोकती थी। पर्दाशब्द से भ्रम में न पड़ना चाहिए। हम पहले ही कह चुके हैं कि पर्दा के दो अर्थ हैं, गोपनीयता और बुर्का। हमने पर्दा का अर्थ गोपनीयता से लिया है, जिससे अभिप्राय भीतरी गोपनीयता, मर्यादा और संयम का पालन करने से है।

सत्यकेतु जी ने एक और शब्द अनिष्कासिनी प्रस्तुत कर कहा है कि क्योंकि कौटिल्य ने स्त्रियों के अनिष्कासिनी (बाहर न निकलने वाली) शब्द का प्रयोग किया है, इसलिए सिद्ध होता है कि स्त्रियों में प्राचीनकाल से पर्दा-प्रथा प्रचलित थी।¹⁹ हमारी सम्पत्ति में यह शब्द पर्दा प्रथा का कतई प्रमाण नहीं है। अनिष्कासिनी कौन हुआ करती थी? कहना न होगा कि राज रानियाँ, जिनके लिए कौटिल्य आदि प्राचीन ग्रन्थकारों ने यह शब्द प्रयुक्त किया है, अनिष्कासिनी कहलाती थीं। अनिष्कासिनी शब्द ऐश्वर्य या वैभव का द्योतक है। साम्राजियों को बाहर निकलने की क्या आवश्यकता, जब कि उनके लिए भोग और ऐश्वर्य के सभी उपकरण पास ही रहते हैं। फलतः अनिष्कासिनी असीम ऐश्वर्य का लाक्षणिक है। मां सीता के लिए भी इस अनिष्कासिनी शब्द का प्रयोग किया गया है। सीता जी भगवान राम की सहचारिणी थी, जिन्होंने कभी पलंग के नीचे पांव भी न रखा था, वही सीता वनवास के समय नंगे पैर रामजी के साथ वन गयी थीं। यदि सीता पर्दे के अर्थ में अनिष्कासिनी होती, तो वे किस प्रकार वन को जा सकती थीं? लेकिन जब आर्य कवि उनके ऐश्वर्य का उल्लेख करता है- सीता व न जाने से पहले अनिष्कासिनी थी क्योंकि ऐश्वर्य और वैभव की विपुलता के कारण उन्हें पलंग से नीचे पांव रखने की तब कोई आवश्यकता ही नहीं थी। हमें मालूम है कि प्राचीन काल में यज्ञ करते समय स्त्रियाँ भी साथ रहा करती थीं। लंका विजय करने के पश्चात् रामचन्द्र जी ने अश्वमेध यज्ञ किया था। इस (अथवा राजसूय) यज्ञ के समय सीता जी पुनः राम से परित्यक्त हो वन में रहा करती थीं। उस यज्ञ को करते समय धर्म पत्नी के रूप में सीता जी की उपस्थिति अनिवार्य थी। अस्तु रामचन्द्र जी को सीता जी की एक स्वर्ण प्रतिमा बनवानी पड़ी, तभी यज्ञ प्रारम्भ हो सका। जब सीता जी ने यह वृत्तांत सुना तो वे व्याकुल हो उठीं। महाकवि लिखता है-

वृत्तान्तेन श्रवण विषय प्रणिना तेन भर्तः

सा दुर्वार कथमपि परित्याग दुःखे विषेहे ॥ रघुवंश ८७।

महाराज रामचन्द्र के पूर्वज दिलीप नृपति को जब कोई पुत्र न हुआ तो राजकार्य छोड़ दिलीप और उनकी धर्मपत्नी सुदक्षिणा मुनि वशिष्ठ के आश्रम में जाकर कामधेनु की उपासना करने लगे। वहां रात को गाय की आराधना कर चुकने पर जब कामधेनु सो जाती थी तो दोनों राज पति-पत्नी गुरु और गुरु पत्नी की सेवा में संलग्न हो जाते थे। महाकवि ने इसका बड़ा ही रोचक वर्णन किया है। उनके एक-दो श्लोक यहां पर प्रस्तुत किये जाते हैं-

अथाम्यर्च्य विधातरं प्रयातौ पुत्र काम्यया।

तौ दम्पती वशिष्टस्य गुरोर्जम्भतुराश्रमम् ॥

तसयाः खुरन्यास पवित्र पांसुम पांसुलानां धुरि कीर्तिनीया।
मार्ग मनुष्येश्वर धर्मपत्नी श्रुतिरिवार्थ स्मृति मन्वगच्छत्॥

(रघुवंश 9-३५)

इसी प्रकार, कालिदास के नाटक शकुन्तला आदि में भी पर्दा-प्रथा नहीं पायी जाती। शकुन्तला की सखियां प्रियंवदा और अनुसूया दुष्यंत से खुल कर वार्तालाप करती हैं। भास के नाटक में भी वासवदत्ता अपने राखीबन्ध भाई के साथ विदेश यात्रा को निकल जाती है। इन प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्राचीन काल में पर्दा प्रथा का प्रचलन न था। हमारी प्राचीन चित्रकला, पाषाण शिल्पकला भी इसकी साक्षी हैं। प्राचीन काल की जितनी भी चित्रकारी है, किसी पर पर्दा (वुर्का) का चिन्ह अंकित नहीं है। मौर्य काल में स्त्रियां सैर के लिए ही नहीं, आखेट के लिए भी बाहर निकल करती थीं। मेगस्थनीज ने लिखा है कि आखेट को जाते हुए चन्द्रगुप्त के साथ पुरुष योद्धाओं के अलावा अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित स्त्रियों का भी एक दल होता था। अस्त्र-शस्त्रों से सजी-धजी ये स्त्रियां ऐसी मालूम देती थीं मानो किसी युद्ध में जा रही हों। अशोक के समय स्त्री अध्यक्ष महामात्र भी नियत किये गये थे। अतः मालूम होता है कि स्त्रियां राजकार्य, धर्मकार्य, आखेट आदि सभी विभागों में नियुक्त थीं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार स्त्रियां शिल्पशालाओं में भी काम किया करती थीं।

सम्राज्ञियों का बाहर जाना दिव्यादान से भी प्रमाणित है। दिव्यावदान लिखता है कि अशोक अपनी ईर्ष्यालु रानी तिष्यरक्षिता के साथ बोधि वृक्ष के दर्शन करने गये थे। यह बोधि वृक्ष झुलस उठा था। सम्राट उसे सुगन्धित जल से सींचना चाहते थे। इस वृक्ष की यात्रा का चित्र सांची स्तूप पर अंकित है।¹⁰

अशोक काल में स्त्रियां पुरुषों की भांति संघ में शामिल हुआ करती थीं। पुरुष और स्त्रियों में कोई धार्मिक और सामाजिक अन्तर न था। स्त्रियां पुरुषों की तरह प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी हो सकती थीं। धर्म के प्रचार में स्त्रियों ने भी यथेष्ट योगदान दिया था। सम्भवतः स्त्रियों के मिशन अथवा धर्म प्रचारक मण्डल पृथक-पृथक हुआ करते थे। महेन्द्र के प्रव्रज्या ग्रहण करने के दो वर्ष पश्चात् संघमित्रा भी प्रव्रज्या ग्रहण कर भिक्षुणी बन गयी थी। उस समय संघमित्रा की आयु केवल बीस वर्ष की थी। धर्म प्रचार के लिए वह भी अपने भाई के साथ लंका गयी थी। राजा तिस्स ने संघमित्रा के लिए लंका में एक विहार का निर्माण करवाया था। संघमित्रा 59 वर्ष तक लंका में रही और 79 वर्ष की अवस्था में वहीं शरीर त्याग किया। महावंश के अनुसार धीरो मोगाली राजकुमार महेन्द्र का आचार्य था और आयुपाली संघमित्रा की याजिका (आचार्या) थी। धर्म को उज्ज्वल करने वाले ये दोनों व्यक्ति धम्माशोक के

अभिषिक्त होने के 6ठें वर्ष परिव्राजक हुए थे। 'जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र विश्व को प्रकाशमान करते हैं, उसी तरह संघमित्रा और महेन्द्र ने गौतम के धर्म को प्रकाशमान किया।'¹¹

समाज

अशोक के समय अनेक वर्ग विद्यमान थे। 5वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'ये (महामात्र) भियेषु, ब्राह्मण, अभेषु और गृहस्थों, अनाथों (निराश्रयों), वृद्धों तथा धर्मगामिन लोगों के सुख और रक्षा के लिए नियत किये गये हैं।' स्पष्ट है कि उस समय का समाज ब्राह्मण, भियेषु या वैश्य भट और उनके अधिपति (अधिनायक) क्षत्रिय, दास, वेतन भोगी (शिलालेख 9, 11 और 13 तथा स्तम्भ लेख 7वें में इनका उल्लेख है) अथवा शूद्र आदि विभिन्न वर्गों या जातियों में विभाजित था। ये विभिन्न जातियाँ साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में पायी जाती थीं। केवल यवनों का प्रदेश ही एक ऐसा प्रदेश था, जहाँ सम्राट कहते हैं, 'यवनों के जनपद प्रदेश को छोड़ कर, कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है, जहाँ ये जातियाँ (ब्राह्मण, श्रमण, साधु, क्षत्रिय आदि जो ऊपर लिखी हैं) न पाई जाती हों।'

भियेषु

यह शब्द केवल एक बार उपनिषद में आया है, किन्तु पाली साहित्य में यह कहीं नहीं पाया जाता।¹² महानारद कश्यप जातक में भियेषु को गृहपति या गृहपति कहा गया है। गृहपति का अर्थ तृतीय वर्ग अर्थात् वैश्यों से लिया जाता है। इस वर्ग का समाज में यथेष्ट स्थान था, क्षत्रियों के बाद यही वर्ग विशिष्ट वर्ग समझा जाता था।

क्षत्रिय

अशोक के शिलालेख क्षत्रियों का कुछ भी उल्लेख नहीं करते हैं, किन्तु मानना पड़ेगा कि क्षत्रिय उस काल में एक शासक जाति थी। सम्राट अशोक स्वयं अभिजात मौर्य क्षत्रिय कुल के थे। अशोक ने अपने संबंधियों तथा भाइयों आदि का शिलालेख में उल्लेख किया है। अभिलेख में सीमान्त के क्षत्रिय दक्षिणी राजाओं का उल्लेख किया गया है। भट और उनके अधिनायकों का भी शिलालेख में उल्लेख है। इन वृत्तों के आधार पर कह सकते हैं कि शायद शासकवर्ग होने के कारण सम्राट ने क्षत्रियों का पृथक् रूप से उल्लेख नहीं किया है, लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से उनका उल्लेख अवश्य किया गया है।

शूद्र

शूद्रवर्ग पूर्णतया अवस्थित वर्ग न था। समाज के इस निकृष्टतम वर्ग में भृत्य

और दास भी शामिल थे। इन भृत्यों और दासों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का सम्राट बार-बार आदेश करते हैं तथा भृत्य और दासों के प्रति किए गये अच्छे व्यवहार को सम्राट धर्म का लक्षण मानते हैं। मालूम पड़ता है कि दास और भृत्यों से लोग अच्छा बर्ताव न करते थे। इसीलिए सम्राट को दास और भृत्यों के प्रति अच्छा व्यवहार करने का जनता को आदेश और उपदेश देना पड़ा।

मनुष्य और पशुओं के लिए चिकित्सालय

अशोक अपने दूसरे शिलालेख में कहता है, 'देवताओं के प्रिय ने सर्वत्र दो प्रकार के चिकित्सालयों की स्थापना की है, मनुष्यों के चिकित्सालय और पशुओं के चिकित्सालय। औषधियां भी, जो मनुष्यों के लिए फलदायक हैं और जो पशुओं के लिए लाभदायक हैं, जहां-जहां वे नहीं पाई जातीं और पैदा नहीं होतीं, वहां-वहां भेजी और रोपी गयी हैं।' इस वृत्त से प्रकट है कि उस समय का समाज हर प्रकार से एक विशिष्ट समाज था। उस समय के लोगों के हृदयों में प्राणियों का मूल्य समान था; जीव रूप में मनुष्य तथा अन्य प्राणियों में अन्तर न समझा जाता था। यही कारण है कि मनुष्य और पशु दोनों के लिए पृथक् चिकित्सालयों का प्रबन्ध किया जाता था। मनुष्यों की निःशुल्क चिकित्सा होती थी और स्वतंत्रतापूर्वक दवाइयों का वितरण किया जाता था। इसी तरह पशुओं के लिए भी प्रबन्ध था। असहाय पशुओं तथा बीमार जानवरों के लिए अलग अस्पताल मौजूद थे। सम्राट किस प्रकार औषधियों का स्वतंत्र और उदारता के साथ वितरण किया करते थे, यह महावंश की निम्न कथा से प्रकट है- 'महावंश के विवरणानुसार (अनुवाद, भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पंचम परिच्छेद, पृ.32-33) पाटलिपुत्र के वन में विचरते हुए किसी वनचर ने कुन्ती नाम की एक किन्नरी से सहवास किया, उस सहवास से उस किन्नरी को दो पुत्र हुए, जिनमें से बड़े का नाम तिष्य और छोटे का नाम सुमित्र रखा गया। ये दोनों समय बीतने पर थीरो महावरुणी की शिष्यता ग्रहण कर संघ में सम्मिलित हुए। एक बार किसी विषैले कीड़े के काटने से तिस्स को घाव हो चला। इस घाव के लिए शुद्ध घी की आवश्यकता थी, किन्तु वह नियत समय पर न मिल सका। रोग बढ़ता चला गया और अन्त में थीरो चल बसा। जब सम्राट (अशोक) ने थीरो तिस्स के कारुणिक अन्त का हाल सुना तो वह अशोकाराम (विहार) गये और उसके अवशेषों को एकत्र कर धातु-सत्कार किया। इसके पश्चात् सम्राट ने संघ से पूछा कि यह स्थविर किस बीमारी से मरा था? जब सम्राट को मालूम हुआ कि थीरो की मृत्यु समय पर औषधि उपलब्ध न होने के कारण हुई तो उन्होंने नगर के द्वारों पर शुभ्र चूने के चार तड़ाग बनवाये और उन्हें औषधीय पेय (रोग हारिन पेय, पानीय) से भरते हुए कहा, 'भिक्षु संघ को औषधि मिलना दुर्गम न हो' और

प्रति दिन भिक्षु संघ को औषधि दिलवाते रहे। अभिलेखों के विवरण से प्रतीत होता है कि अशोक के समय प्रत्येक चिकित्सालय की अपनी-अपनी आयुर्वेदिक वाटिकाएं हुआ करती थीं। इन वाटिकाओं में जगह-जगह से लाकर औषधि-वृक्ष लगाये जाते थे। इस प्रकार चिकित्सालय स्वयम् औषधियां उगाया करते थे। फलस्वरूप चिकित्सालयों को कभी औषधियों की कमी न रहा करती थी। सम्राट इन वानस्पतिक वाटिकाओं के लिए औषधियों के पौधों की कमी न होने देते थे। औषधियों की कमी न रहे, इसका सम्राट को सदा ध्यान रहता था। जहां जिस औषधि के वृक्ष न पाये जाते थे, वहां उस औषधि के विरवों आदि के भेजने का प्रबन्ध किया जाता था। दूसरे शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'औषधियां जो मनुष्य और जो जानवरों के लिए उपयोगी हैं, जहां-जहां नहीं हैं वहां भेजी गईं और रोपी गईं हैं। इसी तरह जड़ें और फलों के वृक्ष भी जहां-जहां नहीं पाये जाते, वहां-वहां भेजे गये और रोपे गये।' यह सम्राट के महान कार्यों में से एक महान कार्य था। जिस समय गौरांग प्रदेशों तथा पश्चिमी एशियाई प्रदेशों में मनुष्य को ही औषधियां प्राप्त न थीं, सम्राट पशुओं को भी स्वतंत्र रूप से औषधि वितरण का प्रबंध किया करते थे। उनके राज्य में मनुष्यों और पशुओं के लिए चिकित्सालयों की कमी न थी। ये दोनों प्रकार के औषधालय सम्राट के विजित या अपने राज्य में ही नहीं थे, अपितु यवन प्रदेशों में भी सम्राट ने इन दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबंध करवाया था।

अशोक काल में विद्या की अभिवृद्धि

अशोक के समय में दो प्रकार की लिपियां प्रचलित थीं 1. ब्राह्मी लिपि और 2. खरोष्ठी लिपि। शाहबाज गढ़ी और मानसेरा के चतुर्दश शिलालेख खरोष्ठी लिपि में लिखे गये हैं। इनके अलावा अन्य शिलालेखों की लिपि ब्राह्मी है। व्यूलर का कहना है कि खरोष्ठी लिपि के नाम का मूल खरोष्ट्र (खरओष्ट्र) से है। इस लिपि का प्रवर्तक खरोष्ठी नामक एक साधु था, जिसके कारण इस लिपि का नाम खरोष्ठी पड़ा। डा0 सिलमन के अनुसार यह लिपि मूलतः खरोष्ट्र प्रदेश में प्रचलित थी, जिस कारण इस लिपि का नाम उक्त प्रदेश के नाम पर खरोष्ठी पड़ा। खरोष्ट्र प्रदेश भारत के समीपस्थ एक बाह्य प्रदेश का नाम था।

ब्राह्मी लिपि

प्राचीन लोगों का विश्वास था कि यह लिपि साक्षात् ब्रह्मा से प्रसूत हुई है, जिसके परिणामस्वरूप इसका नाम ब्राह्मी लिपि रखा गया। खरोष्ठी लिपि की लेखन शैली दाएं से बाएं थी, किन्तु ब्राह्मी लिपि के लिखने का ढंग आजकल की अंग्रेजी और हिन्दी लेखन प्रणाली की तरह बाईं से दाहिनी ओर था। खरोष्ठी लिपि का प्रचार उत्तर-पश्चिम भारत के सीमान्त प्रदेशों से लेकर चीनी तुर्किस्तान तक था,

किन्तु ब्राह्मी लिपि भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित थी। खरोष्ठी लिपि 5वीं शताब्दी के लगभग भारत से लुप्त हो गई।

ब्राह्मी लिपि कालान्तर में सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं की माता बनी। सीलोन अर्थात् श्रीलंका ब्रह्मा और तिब्बत की भाषाओं का उद्भव भी ब्राह्मी से ही हुआ कहा जाता है। ब्राह्मी लिपि के प्रति बहुत से यूरोपियनों के विभिन्न मत हैं। वेबर और ब्यूलर का मत है कि ब्राह्मी लिपि का मूल फिनिसियन वर्णमाला से है। फिनिसियन वर्णमाला का समय आठवीं सदी ई.पू. के लगभग कहा जाता है। कनिंघम इसके सामी मूल को स्वीकार नहीं करता। कनिंघम का कहना है कि ब्राह्मी लिपि सेमीटिक न थी क्योंकि उसकी लेखन प्रणाली हमेशा बाईं से दाहिनी ओर रही है। इन सब विवादों को देख कर भण्डारकर कहते हैं, 'यह अनुमान करना अधिक नीतियुक्त है कि ब्राह्मी लिपि स्वदेशी है। ब्राह्मी लिपि आठवीं ई.पू. की सेमीटिक वर्णमाला से उद्धृत नहीं हुई थी, अपितु उसे प्राग ऐतिहासिक काल का मानना चाहिए।'

अशोक के शिलालेखों में वर्णविन्यास अथवा अक्षर विन्यास की विचित्रता पाई जाती है। शिलालेखों में कहीं भी समान व्यंजन द्विगुणित नहीं किये गये हैं। इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का व्यवहार किया जाता था। 7वें स्तम्भ लेख की भाषा तथा चतुर्दश शिलालेखों की धौली, जौगुडा और कालसी प्रज्ञापनों की भाषा एक ही है, किन्तु शाहबाज गढ़ी, मानसेरा और शिलालेखों की भाषा में भिन्नता और निजी विशेषताएं पाई जाती हैं, यद्यपि स्तम्भ लेख की भाषा के बहुत से लक्षण उनमें भी विद्यमान हैं। इस प्रकार, इस काल में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया जाता था। स्तम्भ लेखों की भाषा का भारतवर्ष में बहुलता से प्रचार था। यह भाषा सम्पूर्ण मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और देहरादून तक प्रचलित थी। इससे मालूम होता है कि बोलचाल की साधारण भाषा स्तम्भ लेखों की भाषा ही रही होगी। शिलालेखों और स्तम्भ लेखों का उद्देश्य जनता को धार्मिक शिक्षा देना था। अतः उन लेखों का साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में लिखा जाना स्वाभाविक था। भण्डारकर के अनुसार मौर्य दरबार की राजकीय भाषा भी वही थी। विद्वानों ने इस भाषा का मूल मागधी को माना है। विद्वानों का कहना है कि स्तम्भ लेखों की भाषा की भांति मागधी भाषा में भी 'ल' का 'र' और 'उ' का 'ई' होना पाया जाता है। मागधी की यह शाब्दिक विचित्रता रामगढ़ के जोगीनारा लेख से स्पष्ट विदित है (तीसरी ई.पू.)। रामगढ़ पहाड़ी बिहार में है, अस्तु स्तम्भ लेखों की भाषा मगध की राजकीय भाषा थी तथा सर्वत्र मध्यदेश और कलिंग तक इसी भाषा का प्रचार था। अतः यह कह सकते हैं कि यह भाषा उस समय की राष्ट्र भाषा थी।¹³ किन्तु उत्तरापथ के शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेखों की भाषा तथा दक्षिणापथ के

गिरनार की भाषा में अंतर है। इन लेखों की भाषा पर प्रान्तीय भाषाओं की छाप है। मध्य देशादि की भाषा की तरह यहां (उत्तरापथ, दक्षिणापथ) की भाषा में 'ल' का 'र' होना नहीं पाया जाता। उत्तरापथ और दक्षिणापथ की भाषाओं में भी कुछ-कुछ अन्तर पाया जाता है।

ध्वनि शास्त्र

एक बात और ध्यान देने की है, कालसी और गिरनार की भाषाओं की ध्वनि का निरीक्षण करने से मालूम होता है कि कालसी की भाषा में गिरनार की भाषा से अधिक ध्वनि-शास्त्रीय फर्क है। संस्कृत रूप सर्वत्र को गिरनार सर्वत और कालसी सर्वता लिखता है। इसी तरह सुकृत (संस्कृत) को गिरनार सुकतं और कालसी सुकट लिखता है। गिरनार संस्कृत शब्द कर्तव्य को कतव्य और कालसी कतविय लिखता है। इस ध्वनि अपकर्ष का निरीक्षण कर प्रो० निकलसन कहते हैं, कालसी की भाषा गिरनार की भाषा से उत्तर कालीन है। अशोक के समय विद्या तथा ज्ञानोत्कर्ष के प्रमुख केन्द्र बिहार तथा संघ आदि ही थे। इन धार्मिक मठों में धर्म की व्याख्या तथा धर्म की जिज्ञासा हुआ करती थी। दार्शनिक तत्वों का भी यहीं निर्माण और पालन होता था। विद्या और संस्कृत की स्वर्ण-किरणें मठों से उदित होकर सम्पूर्ण भारत को ज्ञान के प्रकाश से निर्मल कर गईं। साधारण जनता में भी दिन प्रतिदिन ज्ञान का उत्कर्ष बढ़ता गया और लोग अधिक से अधिक संख्या में शिक्षित होने लगे। अशोककालीन जनता अपनी शिक्षा के बल पर ही सम्राट के साथ धर्म पर जिज्ञासा करने के योग्य हो चली थी। आठवें शिलालेख में सम्राट कहते हैं कि 'बहुत समय बीता, प्राचीन राजा लोग विहार यात्रा को निकलते थे। इस विहार यात्रा में आखेट तथा ऐसे ही अन्य मनोविलास के विषय थे, किन्तु देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा को अभिषिक्त होने के 10वें वर्ष सम्यक ज्ञान की (या बौद्ध धर्म तीर्थ यात्रा की) प्राप्ति हुई, तब से इस धर्म यात्रा का आरम्भ हुआ। इस धर्म यात्रा में निम्न बातें हुआ करती हैं - श्रमणों, ब्राह्मणों का दर्शन और उनको दान देना, वृद्धों का दर्शन और उन्हें स्वर्ण दान देना, जनपद व राज्य के लोगों से मिलना और उनसे धर्म के विषय पर जिज्ञासा करना आदि।'

विद्या की अत्यधिक उन्नति में धर्म के विषय पर जिज्ञासा, दार्शनिकों, ज्ञानियों आदि का परस्पर वाद प्रतिवाद, विभिन्न पाषंडों (धर्मों) का एक-दूसरे के धर्म का श्रवण, पारस्परिक भावों का एक-दूसरे से आदान-प्रदान (विनिमय) आदि सबने मिल कर यथेष्ट रूप से सहायता पहुंचाई होगी। अशोक के लेखों से प्रकट है कि साधारण जनता में शिक्षा का काफी प्रचार था। गौण स्तम्भ लेख सारनाथ में सम्राट कहते हैं, 'ऐसा एक लेख (धर्म लेख) बिहार में स्थापित किया जाय और दूसरा वैसा ही लेख उपासकों (साधारण जनता) के लिए लिखा जाय, जिससे हर एक व्रत

(उपवास) के दिन जनता इस लेख को पढ़ने के लिए एकत्र हो सके।' इस प्रकार लेखों को जनता के लिए स्थापित करवाना, जिससे जनपद के लोग एकत्र होकर उन धर्म लेखों को पढ़ें तथा धर्म के सिद्धान्तों पर आचरण कर सकें, इस बात की पुष्टि करता है कि सम्राट के समय जनता में शिक्षा का यथेष्ट रूप से प्रचार रहा होगा।

विद्या की उन्नति में प्रमुख कार्य विहार व संघ आदि ने किया था। राधाकुमुद मुकर्जी कहते हैं, विहार तथा मठों ने जिस सरलता और कुशलता के साथ शिक्षा की उन्नति में सहायता पहुंचाई, उनका साक्षात्कार आज अवनत अवस्था में पड़े हुए बर्मा के मठों की शिक्षा सम्बंधी उन्नति को देख कर किया जा सकता है। बर्मा के इन मठों में प्रति हजार मनुष्यों में 378 पुरुष और 45 स्त्रियां पढ़ी-लिखी हैं। जबकि 1901 की गणनानुसार संयुक्त प्रान्त की, जिसमें कई ऐतिहासिक राजनगरियां और विशाल नगर बसे हैं, शिक्षा की दर 1000 में 37 पुरुष और दो स्त्रियां हैं।¹⁴ स्मिथ का भी मत है कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार में बौद्ध मठों का सर्वाधिक योगदान रहा होगा, परिणामतः अशोक के समय जनता में शिक्षितों की दर बहुत बाद के ब्रिटिश राज्य के अनेक प्रान्तों से भी अधिक थी।¹⁵

गृहस्थ जीवन

अशोक कालीन गृहस्थ जीवन या पारिवारिक जीवन शुद्ध और निर्मल था। स्नेह, सद्व्यवहार और कल्याण कामना, ये तीन पारिवारिक जीवन के आधारस्तम्भ थे। कुटुम्ब ही धर्म के प्रमुख शिक्षालय थे। गृहस्थ जीवन की साधुता और स्नेह धर्म का प्रथम तथा प्रमुख लक्षण था। परिवार के लोगों को माता-पिता की सेवा करने, मित्र परिचितों के प्रति उदारहस्त होने, सम्बंधियों, ब्राह्मणों, श्रमणों की सेवा और प्राणियों का संयम आदि की शिक्षा घर में ही दी जाती थी (गिरनार, शिलालेख तीसरा)। सम्बंधियों, मित्रों, और परिचितों के अलावा पशुओं, दास और नौकरों आदि का भी पूरी तरह से ध्यान रखा जाता था।

ब्राह्मण श्रमण, साधु और पारिव्राजक आदि (जो ज्ञान की खोज में सब कुछ त्याग कर धर्मानुरत थे) का भार भी गृहस्थों को ही वहन करना पड़ता था। गृहस्थ वर्ग इन साधु-संतों का आदर करते थे। इन साधुओं की संख्या कम न थी। ये लोग विहार, मठ, संघ तथा गुफाओं और अरण्यों में रहा करते थे। सम्राट ने स्वयं आजीविक साधुओं के लिए गुफाओं (निगरोध खानाटिक गुफाएं) का निर्माण करवाया था। बहुत से साधु सामाजिक कार्यों में भी (धर्म मान कर) भाग लिया करते थे। अशोक के मिशन कार्य अथवा धर्म प्रचार में अनेक स्थविरो ने अमूल्य सहायता प्रदान की थी।

अशोक के समय बहुविवाह या बहुभार्यत्व की प्रथा भी पाई जाती थी। अशोक

के शिलालेख में हमें उसकी दो रानियों का उल्लेख मिलता है। अशोक की एक से अधिक रानियों के उल्लेख से प्रकट है कि कुलीनों में एक से अधिक विवाह का चलन था। पाली साहित्य में अशोक की तीन रानियों देवी तिष्यरक्षिता, महेन्द्र और असंधिमित्रा की मां और प्रधान रानी संघमित्रा का उल्लेख मिलता है। किन्तु सामान्य जन विशेष स्थिति में ही दूसरा विवाह कर सकते थे। कौटिल्य अर्थशास्त्र में निर्देशित है कि यदि स्त्री जीवित संतान नहीं पैदा करती अथवा पुरुष संतान नहीं उत्पन्न करती या वांझ है, तो उस का पति आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करने के बाद ही दूसरा विवाह कर सकेगा। बहु विवाह के अलावा बाल विवाह भी हुआ करते थे। अशोक का पहला विवाह अठारह वर्ष की वय में हुआ था। सम्राट की पुत्री संघमित्रा 14वें वर्ष में ब्याही गई थी और 20वें वर्ष में वह भिक्षुणी हुई थी (महावंश)। सामन्यतः 16 वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने के पश्चात् पुरुष विवाह कर सकते थे। मौर्ययुगीन कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजकुमारों के विवाह के लिए यही निर्देश दिया गया है (ब्रह्मचर्य चाषोडशा दुषत्ति। अतो गोदानं दारकर्म चास्य', अधिकरण व अध्याय 5)। अशोक का प्रथम विवाह भी सोलह वर्ष के उपरान्त अनुमानतः अठारहवें वर्ष में हुआ था और राजकुमारी संघमित्रा का विवाह अनुमानतः चौदहवें वर्ष हुआ था (अशोक, आर.के.मुखर्जी, पृ.44)।



अध्याय-8

अशोक कालीन कला

कलात्मक कृतियाँ ही मानव सभ्यता की दर्पण हैं, जिन्हें देखने से स्पष्ट होता है कि उस समय का समाज कितना उन्नत था। जो देश अथवा जाति जितनी ही उन्नतिशील होगी, वैसी ही उन्नत उसकी कला भी होगी। जीवन की सूक्ष्मतम अनुभूतियों, हृदय की स्निग्धमयी भावनाओं और मस्तिष्क के उच्चतम विचारों का विवेचनात्मक प्रदर्शन ही कला है। अतः कला की उत्कृष्टता समाज की उत्कृष्टता है, मानव हृदय की चारुता है, बुद्धि की विशालता है और सौन्दर्यमयी अनुभूतियों की उदात्त अभिव्यक्ति है।

अशोक कला का महान प्रेमी था। प्राचीन गाथाओं से मालूम होता है कि अशोक ने असंख्य स्तूपों, विहारों एवम् अनेक नगरों तथा प्रासादों का निर्माण करवाया था। दिव्यावदान में अशोक आचार्य उपगुप्त से प्रतिज्ञा करता है, 'भगवान् बुद्ध के सब निवास स्थानों की मैं यात्रा करूंगा और भावी सन्तान हेतु वहां पर स्मारकों का निर्माण कराऊंगा (27 वां प्रकरण)।' आगे दिव्यावदान कहता है कि अशोक ने बड़ी तेजी के साथ चौरासी हजार विहार बनवा दिये थे। ह्वेनसांग ने भी अशोक के बनवाये चौरासी हजार विहारों का उल्लेख किया है। इन वृत्तों से मालूम होता है कि अशोक स्तूपों आदि का महान निर्माणकर्ता था।

गाथाओं के अनुसार अशोक ने दो नगरों का भी निर्माण करवाया था - श्रीनगर और देवपट्टन। श्रीनगर कश्मीर की राजनगरी थी। कहा जाता है कि यहां पर अशोक ने 500 विहार बनवाये थे। ह्वेनसांग लिखता है कि अशोक ने सम्पूर्ण कश्मीर को बौद्ध विहार हेतु दान कर दिया था।¹ चीनी यात्री ने यह भी लिखा है कि अशोक के बनाये चार स्तूपों तथा एक सौ विहारों को उसने स्वयं देखा था।

देवपट्टन

यह नगर सम्राट ने नेपाल में बनवाया था। कहते हैं अशोक स्वयं अपनी पुत्री चारुमती समेत नेपाल यात्रा के लिए गये थे। इस यात्रा में चारुमती का पति भी साथ था। चारुमती के पति देवपाल ने वहीं बसने की इच्छा व्यक्त की थी। अतः उसने वहां पर भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों के लिए मठ बनवाया। अशोक ने अपनी यात्रा की स्मृति के उपलक्ष्य में वहां देवपट्टन नगर भी बसाया और साथ ही चार

स्तूपों का निर्माण भी करवाया।² अशोक नगर-निर्माणकर्ता से अधिक स्तूपों और विहारों का निर्माता माना जाता है। महावंश लिखता है कि अशोक ने एक समय अपने आचार्य मोगालीपुत्त तिस्स से प्रश्न किया, 'भगवान का धर्म कितना महान है?' इस पर मोगालीपुत्त ने उत्तर दिया, 'भगवान के धर्म के 84000 खंड हैं।' इस पर अशोक ने कहा, 'मैं प्रत्येक के अर्थ एक-एक विहार अर्पण करूंगा।' तदनुसार अशोक ने अपने अधीनस्थ सब राजाओं को विहार बनवाने का आदेश दिया और स्वयं पाटलिपुत्र में अशोकाराम नामक विहार बनवाया। फाहियान ने लिखा है कि अशोक बुद्ध के अवशेषों पर आठ स्तूपों को तोड़ कर उनकी जगह चौरासी हजार स्तूपों को बनवाना चाहता था,³ किन्तु हमें इन चौरासी हजार स्तूपों के ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते। पुरातत्व विभाग अशोक के बहुत थोड़े ही स्तूपों तथा विहारों को खोज सका है। शिलालेखों से हमें केवल निगलिव के कोनकामन स्तूप तथा आजीविकों के लिए बनाई गई तीन गुफाओं का उल्लेख मिलता है। पुरातत्व विभाग की खोज से इतना और पता लगा है कि सांची स्तूप तथा भरहुत स्तूप (इस पर अशोक लिपि में लेख खुदे हैं) भी अशोक के ही बनवाये हुए थे। भरहुत स्तूप अब नष्ट हो चुका है।

सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग भारत आया था। इस चीनी यात्री ने अशोक के लगभग 80 स्तूपों और विहारों तथा कश्मीर के पांच सौ विहारों का वर्णन किया है। ह्वेनसांग ने अशोक के स्तूपों का इस प्रकार उल्लेख किया है 1. कपिसा (काफिरिस्तान), यहां पर अशोक ने एक सौ फीट ऊंचा पीलासुर स्तूप बनवाया था। 2. नगर (जलालाबाद) 3. उदयान (यहां पर भगवान बुद्ध ने राजा शिवि के रूप में कबूतर को छुड़ाने के लिए बाज को अपना मांस दिया था) 4. तक्षशिला (यहां पर बुद्ध ने अपना सिर दान दिया था)। यहीं सौतली मां के कुचक्र के कारण कुणाल की आंखें निकाली गयी थीं 5. सिंहपुर (यहां से 40-50 ली दक्षिण-पूर्व में 200 फीट ऊंचा पत्थर का स्तूप था। इस स्थान पर बुद्ध भगवान ने एक भूखी बाधिन को अपना शरीर खिलाया था) 6. उरस 7. कश्मीर, यहां पर चार स्तूप थे 8. थानेश्वर, यहां पर 300 फीट ऊंचा स्तूप था 9. श्रुयन 10. गोविसन (जहां बुद्ध ने धर्म-प्रचार किया था) 11. ह्यमुख, यहां पर एक स्तूप था 12. प्रयाग (यहां पर सौ फीट ऊंचा स्तूप था। इस जगह पर भगवान बुद्ध ने शास्त्रार्थ करने वालों को हराया था) 13. कौसाम्बी (यहां पर भगवान बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया था) 14. कपिलवस्तु, इसके उत्तर में एक स्तूप था, जिसके सामने शिलास्तम्भ गड़ा था। इस स्तम्भ के सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी और स्तूप लगभग 20 फीट ऊंचा था 15. श्रावस्ती, यहां पर 70 फीट ऊंचा स्तम्भ था 16. रामग्राम (इस स्थान पर बुद्ध ने अपने बालों को कटवाया था और यहीं से सारथी छंदक को वापस लौटाया था) 17. कुशीनगर, यहां पर 200 फीट ऊंचा स्तूप था (इस स्थान पर आठ

राजाओं के मध्य भगवान बुद्ध के अवशेषों का बँटवारा हुआ था) 18. सारनाथ 19. गाजीपुर 20. महाशाल, यहां पर कुम्भ स्तूप था 21. वैशाली यहां पर 50-60 फीट ऊंचा स्तूप था 22. वज्जी (यहां पर भगवान बुद्ध ने धर्म-प्रचार किया था) 23. गया 24. बौद्ध गया (इस स्थल पर एक घास काटने वाले ने भगवान बुद्ध को बैठने के लिए घास दी थी) 25. पाटलिपुत्र 26. राजगृह 27. ताम्रलिप्ति, नगर के एक ओर स्तूप था 28. कर्नसुर्वन, यहां पर बहुत से स्तूप थे 29. उड़ीसा 10 से भी अधिक स्तूप यहां पर थे 30. दक्षिण कोशल 31. चोल प्रदेश 32. द्रविण और कांची प्रदेश (यहां पर बहुत से स्तूप थे) 33. बल्लभी, यहां पर बहुत से स्तूप थे 34. महाराष्ट्र, यहां पर पांच स्तूप थे 35. मुल्तान के पास चार स्तूप थे 36. अफन्त, सिन्ध के पास 37. सिन्ध में बहुत से स्तूप थे 38. चीनपटी यहां 200 फीट ऊंचा स्तूप था 39. मथुरा 40. पाटलिपुत्र में अशोक राम या कुक्कुटाराम विहार था।

विहार और स्तूपों के अतिरिक्त सम्राट प्रस्तर स्तम्भों के भी महान निर्माणकर्ता थे। फाहियान ने छः स्तम्भों का उल्लेख किया है। इनमें से दो स्तम्भ श्रावस्ती में जेतवन विहार के दरवाजे के दोनों तरफ थे। तीसरा स्तम्भ संकाश्य में था। यह 50 हाथ ऊंचा था। इसके सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। इसके चार भागों पर भगवान बुद्ध की मूर्तियां बनी हुई थीं। पांचवां स्तम्भ पाटलिपुत्र में था। छठा स्तम्भ भी पाटलिपुत्र के पास ही था। यह स्तम्भ 50 फीट ऊंचा था तथा सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। फाहियान के विपरीत ह्वेनसांग ने 6 स्तम्भों की जगह 15 स्तम्भों का उल्लेख किया है। उसने अशोक के स्तम्भों को निम्न स्थलों पर देखा था, 1. सनकस्सा, यह स्तम्भ चमकीला पाटल रंग का था तथा सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी (इस शेर को फाहियान ने भी देखा था) 2-3 श्रावस्ती के जेतवन विहार में दो स्तम्भ थे, इनकी लम्बाई 70-70 फीट थी 4. कपिलवस्तु के पास भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ 30 फीट ऊंचा था और सिरे पर शेर की मूर्ति बनी थी। 5. कपिलवस्तु में एक और स्तम्भ था। यह स्तम्भ 20 फीट ऊंचा था। यह स्तम्भ शायद निगलिव के पास पाया गया स्तम्भ हो सकता है। 6. लुम्बिनी वन (वर्तमान रूमिनिन्दि जो नेपाल में है) यहां पर भी एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ के सिरे पर अश्व की एक मूर्ति बनी थी। ह्वेनसांग कहता है कि वज्र गिरने के कारण यह बीच से टूटा हुआ था। 7. कुशीनगर, इस स्तम्भ पर बुद्ध के निधन का उल्लेख था। इस स्तम्भ का अभी तक कुछ पता नहीं चला है। 8. यहीं पर एक और स्तम्भ मिला है 9. सारनाथ के रास्ते पर भी एक स्तम्भ था, यह स्तम्भ चिकने हरे पत्थर का बना था। यह स्तम्भ निर्मल और दर्पण की तरह चमकीला था, जिसमें भगवान बुद्ध का प्रतिबिम्ब निरन्तर दिखलाई पड़ता था। इस स्तम्भ को विंसेंट स्मिथ ने बनारस की लाट से मिलाया है। यह लाट 1908 के दंगे में तोड़ दी गयी 10. सारनाथ,

यहां पर 77 फीट ऊंचा एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ बहुत चिकना और चमकीला था। यह स्तम्भ वहां पर था, जहां ज्ञान अथवा बोध पाने के अनन्तर भगवान बुद्ध ने पहले पहल धर्म की शिक्षा दी थी। सारनाथ में एक स्तम्भ पाया गया है, जिसके सिरे पर चार शेर बने थे किन्तु यह स्तम्भ 70 फीट के बजाय केवल 30 फीट ऊंचा है। 11. महाशाल, यहां पर एक स्तम्भ स्तूप के सामने मिला है। इस स्तम्भ पर एक लेख खुदा था, जिसमें भगवान बुद्ध द्वारा राक्षसों को शान्त कर उन्हें धर्म में परिवर्तित करने का उल्लेख है 12. वैशाली, यहां पर 50 फीट ऊंचा एक स्तम्भ था। इस स्तम्भ को कनिंघम ने बखुरा गांव के पास के अशोक स्तम्भ से मिलाया है। 13. पाटलिपुत्र, यहां पर 30 फीट ऊंचा स्तम्भ था। इस स्तम्भ पर भी लेख खुदा था। इस स्तम्भ के कुछ हिस्से मिले हैं। 14. एक और स्तम्भ पाटलिपुत्र में मिला था, यह स्तम्भ अशोक के नरक के स्थान को बतलाता है 15. राजगृह, यहां पर भी एक स्तम्भ था। यह स्तम्भ 50 फीट ऊंचा था और उसके सिरे पर हाथी की मूर्ति बनी थी। इस स्तम्भ पर भी एक लेख खुदा था। राजगृह जाते समय रास्ते में ह्वेनसांग को दो और स्तम्भ मिले थे। इन दो स्तम्भों में से एक उस स्थल पर था, जहां पर बुद्ध काश्यप समाधि लगा कर बैठे थे और दूसरा स्तम्भ एक तिथि से सम्बंधित था। इन स्तम्भों को ह्वेनसांग ने अशोक के स्तम्भों के रूप में नहीं लिया है।

अब तक अशोक के स्तम्भ तोपरा, मेरठ (तोपरा और मेरठ के दोनों स्तम्भों को सुल्तान फिरोज तुगलक सन् 1356 ई. के लगभग दिल्ली ले गया था), इलाहाबाद (यह स्तम्भ मूलतः कौशांबी में था, जिसे शायद अकबर इलाहाबाद ले गया था), लौरिया अरराज, लौरिया नन्दनगढ़ (इन स्तम्भों के सिरे पर शेर की मूर्ति है), रामपुरवा (इसके सिरे पर उलटा कमल और शेर की मूर्ति है), सांची (इसके सिरे पर चार शेर हैं), सारनाथ (इसके सिरे पर चार शेर हैं), रूमिनिन्दी - इसके सिरे पर उल्टा कमल है और निगलिव में पाया गया है, किन्तु यह बात निश्चयात्मक रूप से नहीं कही जा सकती है कि ये सब स्तम्भ सम्राट के अपने ही बनवाये हुए हैं। सम्राट स्वयं कहते हैं 'ये लेख चट्टानों पर खोदे जायं। यहां पर तथा दूरस्थ स्थानों में जहां शिलास्तम्भ हैं, इन लेखों को शिला स्तम्भों पर लिखो।' इसी तरह सातवें स्तम्भ लेख में सम्राट कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय कहता है कि यह धर्मलिपि जहां कहीं शिलास्तम्भ तथा प्रस्तर हों, वहां लिखवाई जाय जिससे वह चिरजीवी हो।' अतः स्पष्ट है कि कुछ स्तम्भ अशोक के पहले से ही स्थित थे। साथ ही यह बात ध्यान देने की है कि अशोक ने सभी स्तम्भों से काम न लिया था। रामपुरवा के दो स्तम्भों में से एक स्तम्भ पर कोई लेख नहीं खुदा है। स्तम्भों की भांति कुछ स्तूप भी अशोक के पहले से विद्यमान थे। निगलिव स्तम्भ लेख में सम्राट ने कहा है कि 'उन्होंने बुद्ध कोनकामन के स्तूप को द्विगुणित किया था।'

अशोक कालीन कृतियां, उनकी बनावट और आकार की विशेषताएं

सांची स्तूप यथेष्ट बड़ा था, किन्तु अब वह एक गोलाकार खण्डहर मात्र रह गया है। पूर्णावस्था में इसकी पूरी ऊंचाई $77\frac{1}{2}$ फीट रही होगी। आधार के पास इसका व्यास 210 फीट के लगभग है। यह स्तूप ईंटों का बना है। सांची स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक शिलास्तम्भ के कुछ भाग भी मिले हैं।

भरहुत

यह स्तूप इलाहाबाद के 95 मील की दूरी पर है। सबसे प्रथम कनिष्क ने सन 1873 में इसका अन्वेषण किया था। भरहुत स्तूप भी ईंटों का बना था। स्तूप का व्यास 68 फीट था। स्तूप के चारों ओर से एक पाषाण वेष्टिनी थी। यह पाषाण वेष्टिनी लगभग 7 फीट ऊंची थी, जिस पर बहुत सी बौद्ध गाथाएं चित्रित की हुई थीं। ये चित्र मौर्य चित्रकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। यह स्तूप अब प्रायः नष्ट हो गया है। इसी पाषाण वेष्टिनी का कुछ भाग कलकत्ता म्यूजियम में है।

मार्शल तथा विसेंट स्मिथ का कहना है कि सांची स्तूप अशोक के समय का नहीं है, वह अशोक के लगभग 200 वर्ष पश्चात बनाया गया होगा क्योंकि अशोक कालीन ईंटों और इन ईंटों में अन्तर है किन्तु ईंटों द्वारा अथवा ईंटों के आकार से शिल्प के काल का ठीक-ठीक पता नहीं लगाया जा सकता क्योंकि पहले की निर्मित ईंटों और बाद की निर्मित ईंटों तथा मौर्यकालीन ईंटों में परस्पर अन्तर पाया जाता है। मौर्य काल की बनी हुई भीता की ईंटों की नाप है, $29\frac{1}{2} \times 12\frac{1}{4} \times 2\frac{1}{4}$ इंच और $17\frac{1}{2} \times 11\frac{3}{4} \times 2\frac{2}{4}$ इंच। मथुरा की ईंटों की नाप है, $13\frac{1}{2} \times 12\frac{1}{4} \times 3$ इंच तथा कटरा की ईंटें $11 \times 8\frac{1}{3} \times 2\frac{1}{3}$ इंच नाप की हैं। सारनाथ अशोक स्तम्भ के आधार पर की ईंटों की नाप हैं $16\frac{3}{4} \times 11 \times 2\frac{3}{4}$ इंच, किन्तु अन्य भागों की ईंटें इस नाप की हैं $15\frac{1}{2} \times 6\frac{1}{2} \times 2\frac{1}{2}$, $8 \times 6\frac{1}{2} \times 2\frac{1}{2}$ और $8 \times 6\frac{1}{2} \times 2\frac{1}{2}$ इंच। आधार की ईंटें सबसे बड़ी हैं। बाद के बने हुए भीतरगांव मन्दिर की ईंटें करीब मौर्यकालीन ईंटों के बराबर हैं। इन ईंटों की लम्बाई $28 \times 9 \times 3$ इंच है। अतः स्पष्ट है कि ईंटों के नाप से हम शिल्प काल का समय निश्चयात्मक रूप से निर्धारित नहीं कर सकते।

मौर्यकालीन गुहा भवन

अशोककालीन सात गुहा भवन प्राप्त हुए हैं। ये गुहा भवन गया के पास बराबर और नागार्जुन पहाड़ियों पर मिले हैं। गुहा भवन पहाड़ियों को काट कर बनाये गये हैं। इन सात गुहा भवनों में से तीन अशोक के पौत्र दशरथ द्वारा बनाये गये हैं। गुहा भवनों में सबसे बड़ा गुहा भवन गोपिका गुहा है। इस गुहा के दोनों

किनारे अर्द्ध गोलाकार हैं। इसकी लम्बाई 40 फीट 5 इंच तथा चौड़ाई 17 फीट 2 इंच है, इसकी ऊँचाई 20 फीट 9 इंच है। बराबर पहाड़ी की तीन गुफाएं अशोक की हैं, जिन पर उनका लेख खुदा है। प्रथम गुहा का नाम कर्ण चौपर गुहा है। इस गुहा भवन की लम्बाई 33 फीट 6 इंच, चौड़ाई 14 फीट और ऊँचाई 20 फीट 9 इंच है। दूसरी गुहा सुदामा गुहा है। इस गुहा भवन के बाहरी और भीतरी दो कोष्ठ हैं, भीतरी कोष्ठ गोलाकार है तथा छत अर्द्ध गोलाकार है। बाहरी कोष्ठ दीर्घाकार है, जिसकी लम्बाई 32 फीट 9 इंच और ऊँचाई 12 फीट 2 इंच है। तीसरी लोमश ऋषि गुहा है। इस गुफा पर अशोक का कोई लेख नहीं है। इस पर मौखरी सम्राट अवन्तिवर्मन का लेख खुदा है। चौथी गुहा विश्वामित्र गुहा है। इस गुहा के भी दो कोष्ठ हैं जो पूरे नहीं हो सके हैं। (फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐंशियन्ट एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, पृ.130-131)

इन सब गुफाओं अथवा गुहा भवनों पर मौर्य शिल्पकला की विशेषताएं पूरी तरह से अंकित हैं। गुहा भवनों की दीवारों तथा छतों पर चमकीली पालिश है। इनमें से अभिलिखित गुफाएं अथवा गुहा भवन आजीविकों को भेंट की गई हैं। ह्वेन सांग के अनुसार अशोक ने पाटलिपुत्र में कई गुहा भवन अपने आचार्य उपगुप्त को भेंट किये थे।¹⁶ महावंश आदि गाथाओं के अनुसार सम्राट ने अपने भाई महेन्द्र तथा अन्य अर्हत्तों के लिए भी गुहा भवनों का निर्माण करवाया था।

अशोककालीन वास्तु निर्माण कौशल देखने से ज्ञात होता है कि इस काल में कला कितनी उंचाइयों पर पहुंच चुकी थी। इस समय की कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने स्तूप, शिला स्तम्भ और गुहा भवन हैं, जिन पर सम्राट की धर्म लिपि अंकित है। फर्गुसन लिखता है कि कला के रूप में सर्वसुन्दर और पूर्ण उदाहरण सम्राट अशोक की कलाकृतियां हैं।¹⁷

ललित कला के क्षेत्र में मौर्य काल की प्रमुखता शिला स्तम्भों के निर्माण-कौशल में है। ये शिला स्तम्भ एकमेव स्थूलाकार या पिण्डाकार हैं। इन स्तम्भों की लम्बाई 40 फीट से लेकर 50 फीट तक है और सामान्यतः इनका व्यास 2 फीट 7 इंच से लेकर 4 फीट 1/1/2 इंच तक है। ऊपरी भाग का व्यास 2 फीट 6 इंच से लेकर 2 फीट 11 इंच तक है। 4 फीट वर्गाकार और 50 फीट लम्बा पाषाण स्तम्भ आजकल के वैज्ञानिकों को भी हैरान कर देता है। 20वीं शताब्दी की विज्ञान-क्षमता को भी इस कला के समक्ष मस्तक झुकाना पड़ता है। स्तम्भ के ऊपरी भाग घंटाकार हैं। सर्व सुन्दर स्तम्भ इस समय लौरिया नन्दनगढ़ का है। इस स्तम्भ के सिरे पर शेर की मूर्ति बनी है। इसके ऊपर-नीचे कई चौकोर पत्थर सुन्दर हंसों से चित्रित हैं। हंस दाना चुगते हुए दिखाये गये हैं। ये बुद्ध के शिष्यों के प्रतीक हैं। रामपुरवा और कोलुहा के (बखिरा) स्तम्भों पर केवल सिंह की मूर्ति है, किन्तु सांची तथा

सारनाथ स्तम्भ पर आगे-पीछे चार सिंहों की मूर्तियां बनी हैं। सारनाथ के सिरे पर बनी हुई सिंहों की चार मूर्तियां बहुत ही सुन्दर और सहज स्वाभाविक हैं।⁸ इस स्वाभाविकता को चित्रित करने में ही कलाकार की कुशलता है। सिंहों के निर्माण में उनकी पुष्ट पेशियों को अंकित करने तथा प्राकृतिक शौर्य प्रदर्शित करने में कलाकार की कुशलता कला की सीमा को पार गई है। सिंहों की आखें मूलतः मणियुक्त थीं, जैसी कि बहुत से विद्वानों की धारणा है। सिंह की मूर्तियों के नीचे चार चक्र बने हैं, इन चक्रों के मध्य हस्ती, बैल तथा अश्व के चित्र अंकित हैं। नीचे का भाग विशाल घण्टाकार है। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना है। सन्किस के स्तम्भ के सिरे पर हस्ती की मूर्ति है। रामपुरवा स्तम्भ के सिरे पर बैल की मूर्ति है तथा लोरिया अरराज स्तम्भ के सिरे पर गरुड़ की मूर्ति है (वि. स्मिथ), किन्तु राधाकुमुद मुकर्जी इस मूर्ति को गरुड़ के बजाय अकेले सिंह की मूर्ति बतलाते हैं।

फाह्यान और ह्वेनसांग के अनुसार सन्किस, कपिलवस्तु के दो स्तम्भों, महाशाल और वैशाली तथा पाटलिपुत्र के स्तम्भों के सिरे पर सिंह की मूर्तियां थीं और श्रावस्ती स्तम्भ के सिरे पर बैल की मूर्ति; लुम्बिनी स्तम्भ के सिरे पर अश्व की मूर्ति और राजगृह के सिरे पर हस्ती की मूर्ति बनी थी। अतः स्पष्ट है कि अशोक कालीन स्तम्भों के सिरे पर बहुधा, सिंह, हंस, हस्ती, बैल, गरुड़, चक्र और अश्व की प्रतिमूर्तियाँ अंकित रहा करती थीं। स्तम्भों की प्रधान विशेषता उनके शीर्ष तथा आधारशिलाओं की सजावट है। आधार शिला पर कमल, चक्र, पशु आदि क्रम से अंकित किये जाते थे। स्तम्भों के निर्माण-कौशल का निरीक्षण कर मार्शल कहते हैं- *These sculptures are masterpieces in point of both style and technique, the finest carving, indeed, that India has yet produced and unsurpassed, I venture to think of anything of their kind in the ancient world.*⁹

स्तम्भों पर चमकीली कान्तियुक्त पालिश है। पालिश की यह कुशलता मौर्य कलाकारों की उत्कृष्टता का सर्वसुन्दर प्रमाण है। विसेंट स्मिथ की सम्मति में इस काल के पाषाण कलाकारों की कुशलता पूर्णता को प्राप्त हो चुकी थी। उनकी पूर्णता का सर्वोच्च प्रमाण यही है कि उन्होंने कला की ये वस्तुएं निर्माण कर रखी हैं, जिनका निर्माण करना आज 20 वीं सदी में भी सामर्थ्य के बाहर है। निःसन्देह 40-50 फीट के भीमकाय पाषाण स्तम्भों को चरम लालित्य और सूक्ष्मता के साथ मंडित करना कला की पराकाष्ठा का उज्ज्वल दृष्टांत है। चमकीली पालिश की उज्ज्वलता के कारण पहले बहुत लोगों का यह विचार था कि ये स्तम्भ धातु के बने हैं। 17वीं सदी के लगभग टॉम कॉपरेट ने दिल्ली अशोक स्तम्भ को देख कर उसे

पीतल का बना बतलाया था।¹⁰ स्तम्भों पर पूर्णतया यही स्निग्ध पालिश है, किन्तु भूमि में गड़े हुए स्तम्भ के भाग मण्डित अथवा पालिश नहीं किये गये हैं।

अशोक के स्तम्भों में दिल्ली तोपरा स्तम्भ पर केवल 35 फीट तक पालिश मिलती है, जब कि सम्पूर्ण स्तम्भ 42 फीट 7 इंच लम्बा है। रामपुरवा का स्तम्भ लगभग 8 फीट 9 इंच तक मण्डित नहीं है, जबकि पूरा स्तम्भ 44 फीट 9/1/2 इंच है। इसी तरह लौरिया नन्दनगढ़ स्तम्भ भूमि के नीचे 8 फीट तक मण्डित नहीं है। यह आठ फीट का निचला भाग कठोर है, जिस पर तक्षणी के चिन्ह अंकित हैं। यह स्तम्भ 39 फीट 7/1/2 इंच ऊपर की ओर लम्बा है और 20 फीट जमीन के अन्दर गड़ा है। इस स्तम्भ के खोदने पर एक चार इंच की मयूर प्रतिमा पाई गयी है। इससे मालूम होता है कि सम्भवतः मयूर या मोर मौर्यों का राजकीय चिन्ह था, जैसे कि गरुड़ गुप्तों का राज चिन्ह रहा है।¹¹

अशोक स्तम्भ एकाकार पाषाण के हैं। ये स्तम्भ चुनार पत्थर के बने हैं। अनुमानतः चुनार में ही ये शिला स्तम्भ काट कर बनाये गये थे और वहीं से इधर उधर भेजे गये थे। सामान्यतया ये स्तम्भ 50 फीट ऊंचे हैं और इनका व्यास भी सामान्यतः 50 इंच का है। इन स्तम्भों का वजन कनिष्ठम ने लगभग 50 टन बतलाया है। स्तम्भों की भीमकाय लम्बाई, चौड़ाई और वजन को देख कर आश्चर्य ही नहीं होता, अपितु हमारे सामने यह समस्या खड़ी होती है कि ये भीमकाय स्तम्भ उस काल में किस विधि से एक जगह से दूसरी जगह हटाये या ले जाये जाते रहे होंगे। निःसन्देह उस काल के इंजीनियर दैवी शक्ति वाले थे। अशोक के कलाकारों का हस्तकौशल श्लाघ्य है, उनके इंजीनियरों का स्तम्भों के गढ़ने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने का उपक्रम और विधि योजना भी अद्वितीय एवं अभिनन्दनीय है। इन स्तम्भों को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में जो कठिनाइयां उठानी पड़ी होंगी, उनका अनुमान शम्सेसिराज के उल्लेख से किया जा सकता है। सिराज ने फिरोजशाह द्वारा अशोक के तोपरा स्तम्भ को दिल्ली ले जाने का उल्लेख करते हुए लिखा है, 'भाटा से लौटने पर सुल्तान फिरोज देहली के आसपास भ्रमण किया करते थे। इस प्रदेश में दो शिलास्तम्भ थे। इनमें से एक स्तम्भ सलुरा और खिजराबाद जिले के तोपरा नामक गांव की एक पहाड़ी पर था और दूसरा स्तम्भ मिरथ कस्बे के पास था। इन स्तम्भों को देख कर फिरोजशाह ने बहुत तारीफ की और उन्हें विजय स्तम्भ के रूप में दिल्ली ले जाने का विचार किया। लाट उखाड़ने का विचार होने पर दोआब के निवासियों तथा पैदल और घुड़सवार सैनिकों को फरमान भेजे गये कि सब वहां इकट्ठे हों। इसके बाद सेमल की रुई मंगवाने का हुक्म हुआ। यह रुई स्तम्भ के चारों ओर रखी गयी और जमीन खोदने के पश्चात स्तम्भ आहिस्ता से रुई पर लिटा दिया गया। स्तम्भ की नींव की

जांच करने पर एक चौकोर पत्थर मिला। यह पत्थर भी बाहर निकाल लिया गया। इसके बाद सारा स्तम्भ ऊपर से नीचे तक कच्ची खाल और घास से लपेट दिया गया, जिससे स्तम्भ पर कोई खरोंच न आ सके। तब 42 पहियों की एक गाड़ी बनवाई गई, जिसके हर पहिए पर रस्सियां बंधी थीं। रस्सियों को खींचने के लिए हजारों मनुष्य जुटाये गये और बड़ी मेहनत व कठिनाई से स्तम्भ गाड़ी पर रखा गया। हर पहिए को खींचने के लिए 200 आदमी तैनात हुए।¹ अर्थात् 42 पहियों को 8400 (आठ हजार चार सौ) मनुष्यों ने खींचा था। इस प्रकार हजारों आदमियों के प्रयत्न से गाड़ी खींच कर यमुना के किनारे पहुंचायी गयी, जहां पर नावों की एक बड़ी संख्या पहले से ही इकट्ठी कर दी गयी थी। इन नावों में अधिकतर नाव 5000 और 7000 मन अनाज ले जाने के योग्य थीं और छोटी से छोटी नाव भी 2000 मन तक अनाज ले जा सकती थी। बड़ी होशियारी से लाट उन नावों पर रख कर फीरोजाबाद पहुंचायी गयी।² फीरोजशाह अशोक के मध्यम श्रेणी वाले कुल तीन स्तम्भों को उनके पूर्व स्थित स्थान से हटा कर 150 मील की दूरी पर ले गया था, किन्तु सम्राट को वैसे ही तथा उनसे भी बड़े-बड़े 30 स्तम्भों को निर्माण स्थल से 150 मील से कहीं अधिक दूरी पर ले जाना पड़ा था। इस विवरण से सर्वथा स्पष्ट है कि अशोककालीन कलाकार ही कला कौशल में अद्वितीय न थे, अपितु उस समय के वास्तु विद्या विशारद भी अपनी प्रतिभा में अद्वितीय थे। इन यन्त्रकारों की अद्वितीयता स्तम्भों को दूर-दूर सुगमता और सरलता सहित ले जाने तथा स्थापित करने से प्रत्यक्ष है।

अशोक से पहले वास्तु निर्माण कला का साधन लकड़ी रहा है। काठ की जगह पाषाण द्वारा वास्तु निर्माण करने का श्रीगणेश भी अशोक से प्रारम्भ होता है। सम्राट की अभिलाषा थी कि उनकी धर्म लिपियां चिरस्थायी हों (धर्मदिपि लिखित चिरटितिक हेतु, 6वां शिलालेख, मानसेरा), किन्तु यदि काठ काम में लाया जाता तो धर्म लेखों का चिरस्थायी होना सम्भव नहीं था। अतः सम्राट को यह काम पाषाणों द्वारा कराने का विचार आया। फलतः धर्मलिपियों के खुदवाने हेतु शिला स्तम्भ व पाषाण चट्टानों आदि का उपयोग प्रारम्भ किया गया। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए कहा है कि राज प्रासाद लकड़ी का बना था। जातकों में प्रायः लकड़ी के भवनों का उल्लेख मिलता है।

सिंचाई योजना

मौर्य युग में सिंचाई के लिए बहुत ही सुन्दर प्रबंध था। उस काल की सुदर्शना झील की सुन्दरता और सुरम्यता की प्राचीन कलाविदों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। रुद्रदामन के लेख से स्पष्ट है कि (150 ई.) यह झील रैवतिक और उर्जयत पहाड़ियों पर स्थित थी। यह झील पलासिनी आदि नदियों के बहाव को रोक कर

प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त द्वारा निर्मित की गयी थी। अशोक के समय यवन राज तुहषाण ने पानी के निकास के लिए मार्ग बना कर झील को और भी सुन्दर बना दिया क्योंकि झील के जल का अब सुगमता से उपयोग किया जा सकता था। झीलों से सिंचाई का काम लिया जाता था। सिंचाई विभाग के लिए मेगस्थनीज के कथनानुसार अलग कर्मचारी नियुक्त थे। इन कर्मचारियों का काम भूमि नापना तथा जलद्वार (जहां से नहरों में पानी दिया जाता था) की रक्षा करना था। सुदर्शना झील का वर्णन स्कन्दगुप्त के एक लेख में भी पाया जाता है।¹³ यह झील गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेश अथवा सौराष्ट्र में थी। इस समय सौराष्ट्र का अधिपति पर्णदत्त था। पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को गिरनार का शासक नियुक्त किया था। उसके समय में एक बार बहुत अधिक पानी बरसने के कारण झील टूट गई। चक्रपालित को तब बहुत अधिक धन व्यय कर झील की मरम्मत करानी पड़ी थी।

आभूषण और मणिकार कला

आभूषणों के निर्माण में मौर्य कलाकार अत्यंत कुशल थे। इन आभूषण बनाने वाले तथा मणिकारों की कुशलता धातु की वस्तुओं पर बीजाकार रूप देने तथा निपुणता के साथ समूचे पाषाण को काट कर उसे मंडित करने व स्निग्ध बनाने में थी। मौर्य काल के स्वर्ण और चांदी के बने आभूषणों के सर्वोच्च प्रमाण आभूषणों के वे दो टुकड़े हैं जो डायोडोटस के सिक्कों के साथ तक्षशिला में प्राप्त हुए थे। इन आभूषणों की प्रशंसा करते हुए सर जान मार्शल लिखते हैं—"The art of jeweller had at all times appealed strongly to Indian genius and throughout Indian History has exercised a deep influence upon the national sculpture and painting".¹⁴

पाषाण कलाकारों की सुन्दरतम कला के कुछ अन्य उदाहरण भी मिले हैं। विरैल में पाई गई शव मंजूषा और भट्टिप्रोल तथा पिपरहवा स्तूप पर बने अंकन पाषाण कला के उत्कृष्ट प्रतीक हैं।¹⁵ वेसनगर में मौर्य काल की बनी पत्थर की एक स्त्री मूर्ति पाई गई है। पटना और दीदारगंज में भी दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं, किन्तु ये मूर्तियाँ कला की दृष्टि से अच्छी नहीं हैं। कुमारस्वामी इन्हें लोक कला का प्रतीक मानते हैं।¹⁶

मौर्यकालीन नगर

मौर्यकालीन इंजीनियर अथवा वास्तु विद्या विशारद नगर बनाने में भी अत्यंत कुशल थे। अजातशत्रु के पौत्र उदयन ने पाटलिपुत्र की नींव डाली थी। पाटलिपुत्र आगे चल कर मौर्य सम्राटों की राजधानी बना। चन्द्रगुप्त के समय पाटलिपुत्र उन्नति के शिखर पर पहुंच गया था। पाटलिपुत्र का उल्लेख करते हुए मेगस्थनीज लिखता

है, 'गंगा नदी की चौड़ाई 100 स्टैडिया और गहराई न्यून से न्यून 20 फैदम है। इसी गंगा तथा सोन नदी के संगम पर पाली बोधरा (पाटलिपुत्र) नगर बसा है। यह नगर लम्बाई में 80 स्टैडिया और चौड़ाई में 15 स्टैडिया है (अर्थात् 9/1/2 मील लम्बा और 1/1/2 मील चौड़ा है) इसका आकार समानांतर चतुर्भुज का है। यह नगर चारों ओर काठ की दीवाल से वेष्टित है। इन दीवालों पर तीर चलाने के लिए छेद बने हैं। सामने की तरफ रक्षा हेतु एक बड़ी खाई खुदी है'।¹⁷ मेगस्थनीज आगे फिर लिखता है, पाटलिपुत्र की इस काष्ठ नगरी में राजा का भव्य प्रासाद है। यह संसार के राजकीय भवनों में सबसे सुन्दर है। इस प्रासाद के सामने मूसा और इकबताना के राज प्रासादों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता है। इस प्रासाद के मण्डित स्तम्भों पर स्वर्णम अंगूरी लतिकाएं चित्रित हैं, जिन पर चांदी की चिड़ियां कल्लोल करती हैं। प्रासाद के सामने मछलियों के लिए सरोवर बने हैं, जिनकी शोभा को उत्कीर्ण करने के लिए कई सजावटी वृक्ष, कुंज तथा झाड़ियां लगा दी गई हैं।'

इसी राजप्रासाद को देख कर गुप्त काल में फाह्यान भी आश्चर्य चकित हो उठा था। उसकी समझ में नहीं आया कि वह अद्वितीय राजप्रासाद मनुष्यों का बनवाया हुआ है या देवताओं का। वह लिखता है (यह लेख अशोक के बाद 650 वर्ष का है) 'राजप्रासाद और कमरे, जो अभी तक वैसे ही नगर के मध्य में स्थित हैं, यक्षों द्वारा बनाये गये थे। यह राजप्रासाद ऐसी सुन्दरता और भव्यता के साथ बनाया गया है जैसा कि इस संसार की मानवीय कला कभी नहीं बना सकती।' ¹⁸ पुरातत्वविदों की खोज के फलस्वरूप मौर्य सम्राज्य के कुछ अवशेष उपलब्ध हुए हैं। इस खोज का कार्याम्भ पी.सी.मुकर्जी ने किया था। उनकी खोज के परिणामस्वरूप अशोक के स्तम्भों के कुछ खंड प्राप्त हुए थे। कुछ वर्षों के पश्चात डा. स्पुनर ने फिर से खोज प्रारम्भ की। इस खोज से चुनार के बलुए पत्थर से बने कुछ स्निग्ध चमकीले स्तम्भ प्राप्त हुए। ये स्तम्भ लगभग 20 फीट ऊंचे और आधार पर 3/1/2 फीट व्यास के थे। ये स्तम्भ समानांतर श्रेणी में 15 फीट के फासले पर स्थित थे। इससे ज्ञात होता है कि मौर्य प्रासाद के भीतर 110 स्तम्भों का एक विशाल दालान अथवा हाल रहा होगा। अनेक विद्वानों का मत है कि मौर्य राजप्रासाद डेरियस के एकेमीनियन प्रासाद की नकल है तथा वह पर्सिया के कलाविदों द्वारा बनाया गया था, किन्तु इस धारणा की उपेक्षा करते हुए भारतीय कला विशेषज्ञ हैवेल लिखते हैं, 'स्तम्भों की बनावट को परसिपोलिस के अपादान से मिलाकर जल्दी में यह निष्कर्ष निकाला गया है कि चन्द्रगुप्त ने पर्सियन शैली का प्रासाद बनाने के लिए विदेशी कारीगरों को बुलवाया था। हो सकता है कि चन्द्रगुप्त की प्रशंसा सुन कर बहुत से कलाकार आकर्षित हो चले हों, किन्तु भारतीय इतिहास चन्द्रगुप्त से ही प्रारम्भ नहीं होता। भारतीय निर्माणकला काफी प्राचीन है एवं उस काल की है, जब पाटलिपुत्र की नींव डाली गयी थी। इस वृत्त से कि इण्डो आर्यन (भारतीय आर्य)

प्रासाद तथा इरानियन प्रासाद सामान्यतः मिलते-जुलते हैं, यह निष्कर्ष निकालना चाहिए कि भारतीय संस्कृति को ईरान ने भी अपनाया था, न कि चन्द्रगुप्त इच्छापूर्वक डेरियस के प्रासाद की नकल कर रहा था। अन्त में हैबेल कहता है कि - 'आर्यावत को मैसिडोनियन आतंक से स्वतंत्रता प्रदान करने वाला महान आर्य राष्ट्र निर्माता चन्द्रगुप्त ईरानी मस्तिष्क की प्रभुता को कैसे सहन कर सकता था?' कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी मालूम होता है कि चन्द्रगुप्त की राजनीति पूर्णतया आर्य रूढ़ियों पर निहित थी।¹⁹

अशोककालीन कला

मार्शल कहता है कि अशोक के स्तम्भ फारस-यूनानी ढंग के हैं और उसके शिलालेख एकिमिनियन सम्राट के शिलालेखों की नकल हैं। घण्टाकार शीर्ष पर्शिया में ही पहले-पहल निर्मित हुआ था एवं स्तम्भों पर पालिश लगाने की मौर्य शैली भी परशियन है।²⁰ सम्राट अशोक विश्वविख्यात सम्राट थे। उनकी जनप्रियता और कलाप्रियता की गाथाएं सुन कर निःसन्देह दूर-दूर से कलाविज्ञ मौर्य दरबार में आये होंगे, किन्तु यह कहना सत्य नहीं हो सकता कि अशोक ने सब कुछ पर्शिया से ही लिया था। सम्राट धार्मिक पुरुष थे और उन्हें धर्म प्रचार करने की अतिशय अभिलाषा थी ताकि वे प्रजा को स्वर्ग का सुख दे सकें (6वां शिलालेख)। अतः इस स्वर्ग के सुख का विधान करने हेतु सम्राट ने विचार करना प्रारम्भ किया कि प्रजा में धर्म का प्रचार करना चाहिए, किन्तु यह धर्म-प्रचार किस विधि से किया जाय, इस सम्बंध में सातवें शिलालेख में वे कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि विगत काल में राजाओं की यह इच्छा थी कि किस प्रकार प्रजा में धर्म की उन्नति हो, लोग धर्म के अनुरूप बड़ सकें। अतः सम्राट ने विचार किया कि लोगों को धर्म पर कैसे आचरण कराया जा सकता है। किस तरह लोगों में धर्म के अनुरूप उन्नति हो सकती है? किस तरह मैं उन्हें धर्म के अनुरूप उन्नत बना सकता हूं? इस पर देवताओं का प्रिय कहता है कि विचार हुआ कि मैं धर्मानुशासन प्रकाशित कराऊंगा।' फलतः सम्राट कहते हैं कि 'यह ज्ञात करके मैंने धर्म स्तम्भ स्थापित किए, महामात्र नियुक्त किए तथा धर्म लिपियां लिखवाई।' इन उद्धरणों से पूर्णतः प्रकट है कि प्रजा एवं विश्व के हित धर्म प्रचार करने की चिन्ता से आकुल होकर ही सम्राट ने शिलालेख एवं लेख स्तम्भों का निर्माण किया था। ये लेख सम्राट ने पर्शिया की नकल करके पाषाणों तथा शिला स्तम्भों पर नहीं खुदवाये थे, अपितु धर्म लिपियों को चिरंजीवी बनाने के निमित्त ही सम्राट ने पाषाण, शिला व स्तम्भों पर लिखवाने की योजना बनायी थी। पांचवें शिलालेख में सम्राट कहते हैं - 'इयं धम्मलिपि लेखिता चिलाथितिया हेतु' (कालसी) अर्थात् यह धर्म लिपि लिखवाई कि चिरंजीवी हों। सातवां स्तम्भ लेख इस विषय को और भी अधिक स्पष्टता के साथ

प्रमाणित करता है, 'अभिषिक्त होने या अभिषेक के छब्बीसवें वर्ष यह धर्मलिपि शिला स्तम्भों या शिला प्रस्तरों पर लिखी जाय, जिससे वह चिरंजीवी हो।' इस वृत्त से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि शिला स्तम्भों एवं शिला प्रस्तरों की योजना सम्राट की मौलिक योजना थी।

भारतीय मूर्ति विज्ञान से मालूम होता है कि घण्टाकार कहलाने वाला ऊपरी सिरे का आकार अशोक के बहुत पहले से ही भारत में प्रचलित था। अशोक स्तम्भ का घण्टाकार सिरा वस्तुतः उल्टा कमल है। यह कमल भगवान बुद्ध के उद्भव अथवा उत्पत्ति का लाक्षणिक प्रतीक है। भरहुत के पूर्वी दरवाजे पर लोकपाल को गरुड़ की मूर्ति से अंकित घण्टाकार पताका ले जाते हुए चित्रित किया गया है। गरुड़ विष्णु का वाहन है तथा नीला कमल विष्णु का लाक्षणिक कमल है। अतः कहीं-कहीं घण्टाकार सिरे के स्थान पर स्तम्भों पर नीला कमल बना है। बुद्ध भगवान का कमल-सिंहासन भारतीय कला के अनुरूप हमेशा नीचे की ओर झुकी पुष्प पत्तियों के रूप में चित्रित दिखलाया गया है। ये पुष्प दल नाल पर इस प्रकार झुके होते हैं कि घण्टाकार सिरे और उसमें कोई अन्तर ही नहीं दिखलाई पड़ता। इसी कारण भूल से विद्वानों ने अशोक स्तम्भ के सिरे के कमल को पर्शियन घण्टाकार सिरे से मिलाया है। कमल भारतीय जीवन व कला का चिर अंग रहा है। सांची स्तूप की एक शलाका पर अशोक की पताका चित्रित है, जिसके सिरे से दो कमल की कलियां प्रस्फुटित होती हुई दिखलाई पड़ती हैं। इससे भी प्रकट है कि घण्टाकार भाग कमल की नीचे मुड़ी हुई पत्तियां हैं। भारतीय कलाकारों को कमल पुष्प के नीचे झुकी हुई पंखुड़ियों का दिखलाना सुन्दर लगता है। इससे वे स्वर्गीय आकाश को प्रकट करते थे, जिसे नीचे से पवित्र पहाड़ अवलम्ब दिये हुए दिखाए गये हैं। अशोक का यह घण्टाकार सिरा (मौलि) अथवा कमल पुष्प राजकीय चिन्ह एवं विश्व साम्राज्य का निर्देशक भी माना जाता था और चक्र से अभिप्राय धर्म के चक्र से है, जिन्हें सिंह अवलंब दिये हुए हैं।

भारतीय संस्कृति कमल के फूलों में ही खिली और विकसित हुई है। सूर्योदय का रहस्य प्रकट करने के लिए भी कमल का सहारा लिया गया है। यह कमल नारायण की नाभि से प्रस्फुटित होता है, जिसके ऊपर विश्व निर्माता ब्रह्मा बैठते हैं। महायान बौद्ध सम्प्रदाय भी अलौकिक ज्ञान की समता कमल पुष्प से करता है। कमल की जड़ का भाग ब्रह्मा है, तना (नाल) माया है, पुष्प सम्पूर्ण संसार और फल पूर्ण निर्वाण हैं। इन वृत्तों से भी स्पष्ट है कि अशोक के कलाकार सुदूर वैदिक काल के इन्हीं भावों को लेकर कार्य कर रहे थे। अतः स्पष्ट है कि शिलादंड नाल है (कमल पुष्प की नाल से आशय), यह भाग माया अथवा सांसारिक जीवन का निर्देशक है। घण्टाकार सिरा संसार का निर्देशक है जो आकाश रूपी दलों से वेष्टित

है और कमल का फल मोक्ष का निर्देशन करता है।²¹ अतः सर्वथा स्पष्ट है कि अशोक की उच्चतम कला का आधार पूर्ण रूप से भारतीय था और उसकी कला भारतीय कमल पुष्प से ही जन्मी और प्रस्फुटित हुई थी।

अशोक के स्तम्भ और घंटाकार सिरे को परमो हेलनिस्टिक बताने वालों को हैवेल ने जो उत्तर दिया है, वह पठनीय है-

"This symbolism is so characteristically Indian and so widely spread in early Buddhist art that the mere coincidence of bell shaped capital occurring in Persia hardly justifies the name which archaeologists have given them. Perhaps Persia borrowed this idea from India, the land of the lotus with the flower itself." हैवेल का अनुमान है कि अशोक के स्तम्भ का गोलाकार रूप सम्भवतः प्राचीन चन्द्र उपासना की अवशिष्ट स्मृति का भी लक्षण हो सकता है। ह्वेनसांग् के अनुसार भारतवर्ष चन्द्र प्रदेश के नाम से भी विख्यात था।²²



अध्याय-9

अशोक का इतिहास में स्थान

पूर्व विवरण से हमें विदित हो चुका है कि अशोक ने राजा, शासक, गुरु और विश्व कल्याणकारी के रूप में मानव एवं प्राणिमात्र के लिए कितना उपक्रम तथा कार्य किया। इन्हीं सब कार्यों के आधार पर अब हम महान अशोक का ऐतिहासिक मूल्यांकन एवं स्थान-निर्धारण करने का प्रयत्न करेंगे।

अशोक का स्थान

अशोक के स्थान का निर्णय करने के लिए हमें दो बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए। प्रथम उनके क्या आदर्श थे तथा उनके कार्य का हेतु क्या था? सम्राट का निजी व्यक्तित्व एवं हृदय उनके लेखों में स्पष्टतः प्रतिबिम्बित है। सम्राट की पावन वाणी हृदय की उच्चता और निर्मलता से परिपूर्ण है। उनकी लेखन शैली पूर्ण रूप से उनके व्यक्तित्व को प्रकट करती है। पाश्चात्य विद्वान चानपेंशियर कहता है कि अशोक ने अपने लेखों में अपना असल व्यक्तित्व छिपा दिया है।¹ चानपेंशियर की यह धारणा सर्वशः निर्मूल है। दूसरी तरफ सेनार्ट लिखता है कि सम्राट के वाक्य बहुधा संचित तथा विषम होते हैं और उनमें भिन्नता नहीं पायी जाती।² सेनार्ट यह भी स्वीकार करता है कि सम्राट के लेखों में भावों की एकरूपता, स्वाभाविकता एवं साम्य है। यह स्वीकार करना अन्यायपूर्ण है कि अशोक अपने लेखों में सहिष्णुता व धार्मिकता की अभिवृद्धि और प्रजा के हित के प्रति उत्साह नहीं प्रदर्शित करते। सेनार्ट के इस कथन का सभी विद्वानों ने सहर्ष अभिनन्दन किया है। निःसन्देह अशोक सच्चे, सरल और प्रजासेवी राजा थे। उनके वाक्य हृदय के सच्चे उद्गार थे। प्रजा के हित और सुख की कामना से उनका मस्तक सर्वदा ऊंचा रहा। वे कहते थे 'सब मुनीषि मी प्रजा' (कलिंग शिलालेख) अर्थात् सब मनुष्य मेरी संतान है, जिस प्रकार मैं अपने पुत्रों के हित और सुख का अभिलाषी हूँ, वैसे ही मैं प्रजा के सुख की भी इच्छा करता हूँ। 6वें शिलालेख में वे कहते हैं कि 'कटिवयमते हि में सर्वलोक हिते।' (मानसेरा 6) अर्थात् सर्वलोक का कल्याण ही मेरा कर्तव्य है तथा 'हिद च कानि सुखायमि पलत चा स्वर्ग आलधयितु', अर्थात् 'मेरी अभिलाषा है कि अपनी प्रजा को इस लोक में सुख दूँ, जिससे वे परलोक में स्वर्ग प्राप्त करें' (कालसी 6)। स्पष्ट है कि सम्राट अपने कर्तव्य के उत्तरदायित्व को पूर्णतया समझते थे। अशोक जानते थे 'सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितः नृपः'³ राजा

इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से निर्मित हुआ है। अतः इनका परम कर्तव्य 'परिरक्षणम्' (मनुस्मृति, सातवां अध्याय, श्लोक 2) है। सम्राट का परिरक्षण कार्य अपनी प्रजा तक ही सीमित न था। वे सर्वलोक की रक्षा के प्रति भी चिन्तनशील थे। मनुष्यों के अलावा वे सर्वप्राणियों एवं जीवमात्र के रक्षा के प्रति भी चिंतित थे। मनुष्यों के अलावा वे सर्वप्राणियों एवं जीवमात्र का पालन करना चाहते थे। सम्राट प्रजा के ऐहिक सुख के साथ-साथ पारलौकिक अथवा स्वर्गिक सुख के भी अभिलाषी थे। यही कारण है कि उनके शिलालेखों तथा स्तम्भ लेखों में कई बार इहलोक और परलोक, 'इध' और 'परम' शब्द आया है।

इस प्रकार वह सम्राट, जिसका मस्तक प्रजा के ऐहिक और स्वर्गिक हित तथा सुख की कामनाओं से सतत चिन्तित था, उसका ऐतिहासिक मूल्य-निरूपण करना सरल कार्य नहीं है। कह सकते हैं कि अशोक मानव इतिहास के लाखों-करोड़ों राजाओं, सम्राटों एवं शहंशाहों में सर्वोपरि था। इतिहास में सिकन्दर, पौम्पे, सीजर, नेपोलियन आदि महान् कहलाते हैं क्योंकि अपनी इच्छा, स्वेच्छाचारिता तथा स्वार्थ के लिए जितना रक्तपात इन तथाकथित महापुरुषों ने किया, उतना अन्य कोई राजा न कर पाया। वे महान थे क्योंकि वे सर्वोच्च आतंकवादी थे। इसी भांति क्रूर, अत्याचारी, अमानुषिक भीषणता से प्रजा का रक्त शोषण करने वाले सम्राट चंगेजखां और तैमूरलंग आदि भी महान कहलाते हैं, लेकिन क्या उनकी महानता गण्य है? क्या वे सत्यशः महान थे? क्या मानव जाति एवं विश्व के लिए वे हितकर थे?

लेकिन अशोक महान थे, देवता थे और सच्चे मानव थे क्योंकि उन्होंने जो किया, सब सर्वलोक के हित एवं सुख के लिए किया। उनका सिद्धांत ही सर्वलोक हित (6वां शिलालेख) था। सेनार्ट लिखता है, 'जिस पराक्रम सहित सम्राट धर्म के लिए उत्साहित हुए तथा साम्राज्य से बाह्य राष्ट्रों के प्रति उनका जो सम्बंध था अथवा भारतवर्ष के सुदूरवर्ती लोगों से जो उनका सम्बंध रहा और अन्ततः जो कुछ स्तूपों तथा लेखों से ज्ञात होता है, प्रियदर्शी ने निःसन्देह भारतीय संस्कृति के निमित्त अनन्य सेवा की तथा इन सेवाओं के लिए अशोक को गौरव प्रदान करने को हम न्यायबद्ध हैं'।¹ अतः स्पष्ट है कि सम्राट का जो संबंध अपने प्रजा के प्रति था, उनका वही संबंध अन्य देशीय प्रजा के साथ रहा। जिस प्रकार सम्राट अपनी प्रजा की हित-चिन्ता किया करते थे, उसी तरह वे बाह्य प्रदेशों की प्रजा की हित कामना के लिए भी उत्कटित रहा करते थे, (देखिए शिलालेख दूसरा, सम्राट ने अन्य देशों में भी समाज के हित-कार्यों का प्रबन्ध करवाया था)। मनुष्यों के अलावा वे-पशुओं आदि सर्वभूतों की सेवा करना अपना कर्तव्य समझते थे। सातवां स्तम्भ लेख लिखता है, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा कहता है कि मैंने मार्ग पर वरगद के

पेड़ लगवाये, जिससे वे मनुष्यों और पशुओं को छाया प्रदान करें। आम्रकुंज लगाये गये और प्रत्येक आधे कोस पर कुएं खुदवाये गये, धर्मशालाएँ बनवायी गयीं तथा मैंने कई पानी पीने के स्थान स्थापित किये। क्यों? मनुष्यों और पशुओं के सुख के लिए ही, जिससे लोग धर्म पर आचरण करें, इसीलिए मैंने इस प्रकार किया।' स्पष्ट है कि धर्म की वृद्धि के लिए सम्राट ने मनुष्य और पशु दोनों के हित तथा दोनों को सुख पहुंचाने के निमित्त कार्य एवं पराक्रम किया। उनके धर्म-कार्यों का अभिप्राय मनुष्य और पशु दोनों को सुख पहुंचाना ही था।

सम्राट अशोक की यह भी महानता थी कि वे अपनी प्रजा के अतिरिक्त अन्य देशीय प्रजा आदि के हित के लिए भी इसी प्रकार कार्य करने में विश्वास करते थे। द्वितीय शिलालेख कहता है कि 'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के विजित राज्य में तथा जो और सीमान्त प्रदेश या राज्य हैं जैसे चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र और ताम्रपर्णी के प्रदेश तथा अन्तियोकस नामक यवन राजा और अन्य राजागण जो अन्तियोकस के पड़ोसी हैं, हर एक जगह (सर्वत्र) देवताओं के प्रिय ने दो तरह की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया है, मनुष्यों की चिकित्सा और पशुओं की चिकित्सा। औषधियाँ जो मनुष्य के लिए लाभदायक हैं और जो पशुओं के लिए उपयोगी हैं, जहां-जहां नहीं हैं, वहां-वहां भेजी गयीं और रोपी गयीं।' स्पष्ट है कि सम्राट का सर्वकल्याण का भाव असीमित था, उनके समक्ष अपने और पराये का भाव न था, यही कारण है कि सर्वकल्याण की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने सकल विश्व को अपना कर्मक्षेत्र बनाया। सम्राट का यह हित कार्य अथवा सर्वकल्याण का कार्य मनुष्य और पशुओं तक ही सीमित न रहा, अपितु छोटे-छोटे जीव-जन्तु, कीड़े-मकोड़े, चिड़ियों तथा जल-जीवों की भी उनको उसी तरह चिन्ता बनी रहती थी (दूसरा स्तम्भ लेख)। उनका सिद्धांत ही 'प्राणनां अनारम्भो' तथा 'अवहिंसा भूतानां' अर्थात् जीवों (प्राणीमात्र) को दुख न देना तथा हिंसा न करना था। पांचवें स्तम्भ लेख में सम्राट कहते हैं 'जिस भूसे मैं जीव हो, वह जलाया न जाय। निष्प्रयोजन जीव-हिंसा के लिए जंगल जलाये न जायें। जीव से जीव का पालन न होना चाहिए।' कलिंग शिलालेख कहता है, 'जिस प्रकार मेरी अभिलाषा है कि मेरे पुत्र इहलोक और परलोक दोनों में सुखी हों, ऐसे ही मैं सर्व मनुष्यों के प्रति अभिलाषा करता हूं। अविजित अन्ता (सीमान्त निवासी) प्रश्न कर सकते हैं कि राजा (सम्राट अशोक) की हमारे प्रति क्या इच्छा (अथवा भाव) है। अन्तों (सीमान्त लोगों या प्रदेशों) के प्रति मेरी केवल यह इच्छा है कि वे मुझसे भय न खायें, मुझमें विश्वास रखें कि मेरे द्वारा दुख के सिवाय सुख ही पायेंगे (या लब्ध करेंगे)। वे यह भी समझ रखें कि राजा (अशोक) जो कुछ क्षमा किया जा सकता है, वह क्षमा करेगा। मैं उनको धर्म-पथ पर अनुसरण कराने का उद्योग करूंगा, जिससे वे

इहलोक व परलोक दोनों के सुख पा सकें।' स्पष्ट है कि सम्राट सभी मनुष्यों को अपने महामात्रों द्वारा यह भली भाँति समझा देना चाहते थे कि अशोक सर्वप्राणियों के लिए उसी प्रकार व्यग्र है, जैसा कि अपने पुत्रों के लिए। अपने पुत्रों की भाँति ही वे उन्हें भी सुख पहुँचाना चाहते थे। इन सब वृत्तों के आधार पर हम कह सकते हैं कि वस्तुतः सम्राट का सर्वकल्याण ही एक मात्र आदर्श था, जिसे चरितार्थ कराने के हेतु उन्होंने अपूर्व पराक्रम किया। इसी आदर्श की सफलता के लिए सम्राट ने सारे राजकीय वैभवों को ठुकरा दिया और पूर्ण त्यागी बन कर आजीवन विश्व कल्याण के हित कार्य करते रहे।

सम्राट के इस आदर्श का आधार क्या था? इस पर भण्डारकर⁵ दिग्गनिकाय के एक सुत्त उद्धृत करते हैं। इस सुत्त में दहलनिमी अपने पुत्र से चक्रवर्ती राजा के गुणों का लक्षण बतलाता है। वह कहता है कि 'धर्मरत होकर राजा को अपनी प्रजा, गांव और जनपद के लोगों की रक्षा करनी चाहिए तथा ब्राह्मण और श्रमण साधुओं का पालन करना चाहिए। प्रियपुत्र, जब ब्राह्मण और श्रमण साधु समय-समय पर तुम्हारे पास आयें और तुमसे यह पूछें कि अच्छा और बुरा क्या है एवं क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, तो तुम्हें उनकी बातें ध्यान देकर श्रवण करना चाहिए। बुरे मार्ग से हटा कर उन्हें सतपथ पर लाना चाहिए।' दहलनिमी का पुत्र तब अपने पिता के आदेशों पर कार्य करते हुए चक्रवर्ती बनने का प्रयत्न करने लगा। उसने पहले पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर के राजाओं पर विजय प्राप्त की। विजित होने पर इन चारों प्रदेशों के राजाओं ने इस चक्रवर्ती सम्राट से प्रार्थना की कि महाराज, हमें कुछ शिक्षा दो। इस पर चक्रवर्ती राजा ने इस प्रकार शिक्षा दी, जीवों की हिंसा करना पाप है और दूसरों की वस्तुओं का अपहरण न करना चाहिए आदि। इसी तरह लख्खण सुत्त कहता है कि विशाल मानव पृथ्वी में सर्वोच्च स्थान रखता है। वह सम्पूर्ण संसार को जय कर सकता है। दण्ड अथवा शास्त्र से नहीं, किन्तु केवल धर्म अथवा धर्म विजय द्वारा वह चक्रवर्ती हो सकता है।⁶ इन वृत्तों से ज्ञात होता है कि इन्हीं सुत्तों के आधार पर सम्राट ने अपना आदर्श निर्धारित किया और धर्म विजय द्वारा सर्वकल्याण के निमित्त जीवन-पर्यन्त कार्य करते रहे। अपने आदर्श को सफल बनाने के लिए जो अद्वितीय पराक्रम सम्राट ने दिखाया, वह अभिनन्दनीय ही नहीं अकथनीय है।

बहुत से विद्वान इतिहास प्रसिद्ध अनेक राजाओं अथवा सम्राटों से अशोक की तुलना करते हैं। प्रथम सम्राट कान्स्टैन्टाइन को लीजिए। कान्स्टैन्टाइन क्रिश्चियन धर्म का संरक्षक था। सम्राट कान्स्टैन्टाइन का धर्म परिवर्तन (325 ई.) ईसाई धर्म के प्रारम्भिक इतिहास में क्रान्ति का युग माना जाता है। 'अशोक को भी इसी प्रकार बौद्ध धर्म का कान्स्टैन्टाइन कहा जाता है। राइज डेविडस कहता है कि अशोक का

धर्म परिवर्तन बौद्ध धर्म के ह्रास का प्रथम कारण था। भारत से उसका लोप होने का इसलिए मुख्य कारण था क्योंकि कान्स्टैन्टाइन की भांति उसके अमित दान से गिरजाघरों की तरह विहारों अथवा संघ की आध्यात्मिकता का क्षय हो गया।⁷ किन्तु राज्ञ डेविडस की यह धारणा निर्मूल है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बौद्ध धर्म के ह्रास तथा उसके भारतवर्ष से लोप होने का कारण अशोक था। अशोक का जो संघ पर कड़ा नियंत्रण था वह सांची, सारनाथ, कौशांबी आदि के स्तम्भ लेखों से स्पष्ट है। संघ में भेदभाव और अनाचार रोकने के लिए वे हमेशा प्रयत्नशील रहे। बौद्ध धर्म के इतिहास से ज्ञात होता है कि अशोक के काफी समय बाद तक भी बौद्ध धर्म यथेष्टतः आध्यात्मिक भावों से पूर्ण था, और उसमें विनाश के कोई लक्षण उत्पन्न नहीं हुए थे। वस्तुतः ब्राह्मण धर्म के फिर से जागृत होने पर, अर्थात् गुप्त काल से (350 ई.) बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हुआ। अतः सम्राट अशोक को बौद्ध धर्म के विनाश तथा भारतवर्ष से लुप्तप्राय हो जाने का कारण कैसे माना जा सकता है?

रैपसन⁸ और हार्डी आदि अशोक की तुलना कान्स्टैन्टाइन से इस आधार पर भी करते हैं कि दोनों अपने-अपने धर्म के संरक्षक तथा प्रचारक थे, किन्तु अशोक और कान्स्टैन्टाइन के आदर्श तथा लक्ष्य अलग-अलग थे। कान्स्टैन्टाइन उत्कर्ष करते हुए धर्म का संरक्षक हुआ था लेकिन अशोक जिस धर्म का रक्षक बना, वह तब अपने शैशव में ही था। अतः कान्स्टैन्टाइन के समय में ईसाई धर्म वस्तुतः एक प्रचलित धर्म था, किन्तु अशोक ने एक अप्रचलित धर्म को अपना कर अपने पराक्रम द्वारा उसे भारत और विश्व का धर्म बना दिया। गौण शिलालेख ब्रह्मगिरि प्रथम में सम्राट स्वयं कहते हैं कि 'ढाई साल तक, जब कि मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम न किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बंधित न थे, देवताओं से सम्बंधित हुए (अथवा उनका देवताओं से संबंध स्थापित हुआ)। पराक्रम का ही यह फल है।' 13वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं 'यह धर्म विजय देवताओं के प्रिय को यहां, सब जगह तथा सीमान्त प्रदेशों में छः सौ योजन तक, जहां यवन राज अन्तियोकस नाम का राजा राज करता है और उस अन्तियोकस के बाद जो तुरमय, अन्टिगोनस, मग, अलिकसुन्दर के राज्य हैं, वहां और नीचे दक्षिण में चोड़, पांड्य और ताम्रपर्णी के राज्यों तक प्राप्त हुई है।' इसी प्रकार सम्राट यवन, कम्बोज, नाभाक, पैठानिकों, आन्द्रों व पुलिंदों आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि 'वहां के लोग भी, जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जा सकते, देवताओं के प्रिय का धर्माचरण,

धर्मानुशासन, धर्मप्रीति सुन कर उस पर आचरण करते हैं' (13वां शिलालेख)। निस्सन्देह, सम्राट एक उगते हुए धर्म के रक्षक थे और अपने पराक्रम के बल पर उन्होंने उसे विश्व धर्म में परिवर्तित कर दिया।

दूसरी तरफ, कान्स्टैन्टाइन ने एक उन्नत धर्म अपनाया और वह भी यह समझ कर कि इस धर्म-परिवर्तन के फलस्वरूप उसका बहुत हित हो सकेगा।⁹ हार्नेक लिखता है कि 'कान्स्टैन्टाइन दूरदर्शी था तथा उसे अच्छी तरह मालूम था और वह जान गया था कि क्या अवश्यम्भावी है। इसके लिए केवल एक विदग्ध और समर्थ राजनीतिज्ञ तथा जो साथ ही धार्मिक परिस्थिति में अत्यंत अनुरागी हो, उसकी आवश्यकता थी। कान्स्टैन्टाइन ऐसा ही आदमी था।'¹⁰ भण्डारकर लिखते हैं कि कान्स्टैन्टाइन युक्तिमान, चालाक, अन्धविश्वासी, क्रूर तथा कुटिल व्यक्ति था, जिसकी सम्पूर्ण दूरदर्शिता का एक दृष्टान्त उसके महान होने का कारण है।' स्पष्ट है कि कान्स्टैन्टाइन का धर्म पर अनुराग राजनीतिक तथा सामाजिक आवश्यकता का परिणाम था। उसकी बड़ाई केवल इसी में है कि वह इस बात को पूर्णरूप से समझ सका, किन्तु अशोक का इस प्रकार का कोई राजनीतिक व निजी स्वार्थ न था। कलिंग युद्ध के बाद उनका मस्तक विश्व शान्ति एवं कल्याण के लिए अत्यंत व्यग्र हो उठा था और धर्म प्रचार तथा धर्म उपासना से उनका तात्पर्य केवल विश्व को सुखी बनाने का उपक्रम करना था। इसी हेतु उन्होंने अद्वितीय पराक्रम किया और एक प्रांतिक धर्म को कुछ ही समय में विश्व धर्म में बदल दिया। सम्राट का पूर्ण जीवन विश्व हित के लिए था तथा इस धर्म कार्य में सम्राट का लेशमात्र भी स्वार्थ न था; यदि स्वार्थ था, तो यही कि वे विश्व भर को सुख तथा शान्ति में खिला हुआ देखना चाहते थे, किन्तु कान्स्टैन्टाइन ने सब कार्य राजनीतिक लाभ से प्रेरित होकर ही किया। कान्स्टैन्टाइन अपने जीवन के अंतिम वर्षों में धर्म से कुछ विचलित होकर मूर्तिपूजा की ओर झुक चला था किन्तु अशोक अपने धर्म से कभी विचलित नहीं हुए और उनका धार्मिक उत्साह जीवनपर्यन्त पूर्ण पराक्रमशील रहा।

अशोक के साथ रोमन सम्राट मार्कस ऑरिलियस¹¹ की तुलना भी की जाती है। इस सम्राट ने कान्स्टैन्टाइन के धर्म का विनाश किया था। मार्कस ऑरिलियस एक तत्त्ववेत्ता था और उसका व्यक्तिगत जीवन अत्यंत सरल तथा आदर्शपूर्ण था, अतः इस दृष्टि से हम उसे अशोक के बराबर मान सकते हैं, किन्तु आदर्श की उच्चता, हृदय की विशालता, गौरवान्वित मस्तक, विश्वमैत्री, कल्याण भावना, पक्षपात से परे सब धर्मों के प्रति समान भाव और सहानुभूति बरतने में अशोक मार्कस ऑरिलियस से अत्यंत महान थे। आर्य अशोक संसार भर को गले लगाने के लिए प्रयत्नशील थे और उनका धर्म सब धर्मों का स्नेहपूर्वक आलिङ्गन करने को लालायित था, किन्तु मार्कस ऑरिलियस दार्शनिक होकर भी ईसाइयों का वध करने

से अपने को न रोक सका। अशोक सर्वदेशीय थे लेकिन मार्कस आरिलियस पूर्णतया एक रोमन था, उसका ध्येय रोमन प्रभुत्व को स्थापित करना था तथा वह सर्व प्रकार से रोमन कहलाना चाहता था। इसीलिए ईसाई धर्म को रोमन प्रभुता के प्रतिकूल देख कर उसने ईसाईयों का वध किया जाना न्याययुक्त करार दिया।¹² अशोक का जीवन इन संकुचित विचारों से पूर्णतया अछूता था। उसका सिद्धान्त सर्वलोक हित (6वां शिलालेख) था। अतः अशोक ने भारतवर्ष के अतिरिक्त विश्व प्रांगण को अपना कर्म क्षेत्र बनाया और अपना सारा जीवन इसी कार्य पर निछावर कर दिया। अशोक भारतवर्ष के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानव तथा प्राणि जगत के थे और विश्व भर का कल्याण उनका अभीष्ट था।

मार्कस के समय की परिस्थिति की चर्चा करते हुए प्रोफेसर कार्पेन्टर कहते हैं¹³ कि 'अशोक को यदि विद्रोहियों तथा षडयन्त्रकारी दलों का सामना करना पड़ता, तो वह क्या करता?' उन्हें याद रखना चाहिए कि सम्राट अशोक के समय में भी विद्रोही अथवा षडयन्त्रकारी जंगली जातियों, जिन्हें अशोक के लेखों में अटवी जाति कहा गया है, के दल वर्तमान थे, जिनके कारण मौर्य सरकार को भी चिन्ता रहा करती थी, किन्तु सम्राट अशोक उन लोगों को भी क्षमा करते गये। यही क्षमा दान उनके लिए दंड था। सम्राट स्वयं कहते हैं कि 'यो पि च अपकरेयति क्षमितिवमते वा देवानांप्रियसा यां शको क्षमनिये।' अर्थात् 'देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार भी करे, वह क्षमा करने योग्य है, यदि वह क्षमा किया जा सके। वे अटवी अथवा वन निवासी जो देवताओं के प्रिय के विजित प्रदेश में हैं, उन्हें भी वह अपनी ओर लाने का प्रयास करता है।' उन्हें यह समझा दिया गया कि सम्राट के अनुताप अथवा पछतावे में भी देवताओं की प्रिय की कितनी शक्ति थी, जिससे वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और मारे न जाय (विनष्ट न हों)। निःसन्देह देवताओं का प्रिय सर्वप्राणियों की अक्षति, संयम, समानता और प्रसन्नता (सुख) का अभिलाषी था।

कार्पेन्टर के इस आक्षेप का एन.सी.गांगुली ने बहुत ही उचित उत्तर दिया है। वे लिखते हैं कि 'मार्कस की भांति व्यवहार करने से पहले अशोक सिंहासन को ही त्याग देता।' अतः स्पष्ट है कि अशोक और मार्कस की आध्यात्मिकता तथा आदर्श में बहुत भारी अन्तर था। मार्कस जब रोम राज्य के हितार्थ न्याय, अन्याय, धर्म तथा अधर्म से काम लेने को प्रस्तुत था, अशोक विश्व कल्याण के लिए दोषियों को भी क्षमा कर सकते थे क्योंकि सर्व प्राणियों का सुख, प्रसन्नता, मंगल एवं अक्षति ही उनका परम धर्म तथा सिद्धांत था।

मैकफेल अशोक का मिलान एल्फ्रेड के साथ करते हैं।¹⁴ यह ठीक है कि एल्फ्रेड अशोक से अधिक जीवनपर्यन्त एक सैनिक योद्धा रहा, किन्तु क्या इसी

कारण अशोक और एल्फ्रेड समान महानता के अधिकारी हो सकते हैं? एल्फ्रेड ने शस्त्र से युद्ध किया और तब भी उसकी विजय की सीमा अत्यंत संकुचित रही। प्रवीर अशोक ने कलिंग युद्ध के बाद शस्त्र द्वारा विजय करना तो छोड़ दिया था और उसके बाद जो भी विजय सम्राट ने की, वह धर्म द्वारा ही की। सम्राट स्वयं कहते हैं 'देवताओं का प्रिय धर्म विजय को प्रमुख विजय मानता है।' यह धर्म विजय देवताओं के प्रिय को 'यहां सब जगह तथा सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक प्राप्त हुई।' 13वें शिलालेख में उन सब देशों के नाम भी गिना दिये गये हैं। अतः जब कि एल्फ्रेड की वीरता और विजय की सीमा इंग्लैण्ड तक सीमित रही, सम्राट अशोक की धर्म विजय की स्वास्तित पताका भारत की सीमा के बाहर भी फहरा उठी थी। एल्फ्रेड के बारे में जे. एम. मैकफेल फिर कहते हैं "The fact that he founded the English Navy would alone entitle him to enduring fame."¹⁵ नौसेना का निर्माण वस्तुतः अंग्रेजी जाति के लिए एक अत्यंत कल्याण का कार्य था, किन्तु क्या विश्व ने भी एल्फ्रेड के इस कार्य से कोई लाभ उठाया? यदि एल्फ्रेड ने सामुद्रिक शक्ति का निर्माण किया, तो वह अपनी जाति विशेष के हित में ही किया था। अतः अंग्रेज जाति उसे महान कह सकती है, किन्तु अशोक सम्पूर्ण मानव जाति के लिए महान था क्योंकि उसने जो भी कार्य किया, वह विश्व के लिए और सर्वकल्याण कामना से प्रेरित होकर ही किया। अशोक की महानता इसी में है कि उन्हें पक्षपात और जातीय भावनाएं न छू पाई थीं। सम्राट का सिद्धान्त ही समानता¹⁶ तथा सर्वकल्याण¹⁷ था। अतः सम्राट ने मनुष्यों एवं पशुओं के हित अपने राज्य में जो मंगल कार्य किए, वही कार्य अन्यान्य देशों में भी करवाये गये।¹⁸ साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अशोक के समय मौर्यों की सामुद्रिक शक्ति किसी प्रकार क्षीण अवस्था में थी। महावंश तथा मेगस्थनीज मौर्य सामुद्रिक शक्ति का बहुलता से उल्लेख करते हैं। मेगस्थनीज से हमें यह भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय जल सेना अथवा सामुद्रिक सेना का एक स्वतंत्र विभाग था। महावंश के अनुसार अशोक के धर्म प्रचारक ताम्रपर्णी अथवा श्रीलंका को जल मार्ग से ही गये थे।

मैकफेल पुनः कहता है "In their feel for Justice and in their encouragement of learning and piety these two monarchs had most in common".¹⁹ यदि माना भी जाय कि एल्फ्रेड ने अशोक की ही भांति न्याय के लिए पराक्रम किया, विद्या की उन्नति की और धर्म को बढ़ाया, फिर भी अशोक का स्थान एल्फ्रेड से ऊंचा ही रहेगा। एल्फ्रेड अंग्रेज जाति की एक गाथा का नायक है तो अशोक विश्व इतिहास के एक महानायक हैं क्योंकि अशोक ने आर्य जाति तथा भारतवर्ष के लिए ही पराक्रम न किया, अपितु सम्पूर्ण संसार के लिए

कार्य करना उनका ध्येय था। दूसरी ओर, एल्फ्रेड ने जो कुछ भी किया, वह अंग्रेज राष्ट्र और जाति के लिए ही किया। संक्षेपतः एल्फ्रेड अंग्रेज था, वह अंग्रेज जाति का था और इंग्लैण्ड की उन्नति ही उसका ध्येय था, किन्तु अशोक मानव था, उसका कोई संकुचित वर्ग न था। वह विश्व का था और विश्व उसका था।

दूसरा ईसाई सम्राट जिसकी तुलना अशोक के साथ की जाती है, शार्लमेन है। अशोक की भांति शार्लमेन चर्च का आधारस्तम्भ था, धर्म प्रचार के लिए वह अत्यंत पराक्रमशील था। सैक्सनों को शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही उसने उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करना अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।²⁰ यह ठीक है कि दोनों सम्राट अपने-अपने धर्म के आधारस्तम्भ रहे, किन्तु आदर्श रूप में शार्लमेन अशोक से बहुत नीचे था। शार्लमेन शस्त्र द्वारा विजय करने के साथ ही लोगों को शस्त्र बल द्वारा धर्म परिवर्तन कराने के पक्ष में था, किन्तु अशोक का आदर्श सब धर्मों का समान रूप से आदर तथा पूजा करने में है। 12वां शिलालेख लिखता है 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (पाण्डो) का दान और अनेक प्रकार की पूजा से उनका आदर करता है। देवताओं का प्रिय दान अथवा पूजा को इतना मूल्यवान नहीं मानता, जितना कि वह यह चाहता है कि सब धर्मों की सारवृद्धि हो। जो कोई अपने धर्म का सम्मान और दूसरे धर्म का अनादर करता है, वह केवल अपने धर्म की भक्ति (अन्ध भक्ति) से ही ऐसा करता है। ऐसा करने से इनके विपरीत वह अपने धर्म को और भी हानि पहुंचाता है। इसलिए परस्पर का मेल उत्तम है।' निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सब सम्प्रदाय के लोग भव्य ज्ञानवान हों, सुन्दर सिद्धान्तों के हों (जिससे सबका कल्याण हो)। देवताओं का प्रिय दान अथवा वाह्य पूजा को इतना नहीं मानता, जैसा कि 'सब धर्मवालों की सारवृद्धि हो और सब धर्मों की बढ़ाई हो (उच्च बनें)।' इस अनुशासन से प्रकट है कि शार्लमेन और अशोक में क्या और कितना अन्तर था? शार्लमेन अपने धर्म का पूरा पक्षपाती और असहिष्णु था। अशोक की धार्मिकता विशुद्ध थी। अशोक दूसरे धर्मों की निन्दा तथा उनको बुरा कहना धार्मिक व्यसन तथा पाप समझते थे। अशोक ने अपने धर्म का कभी पक्ष न ग्रहण किया। उनका कहना था कि बिना किसी अर्थ के ओछापन न दिखलाया जाय तथा अन्य धर्म भी कई प्रकार से आदर के पात्र हैं और दूसरे धर्म का आदर करने से अपने धर्म की अभिवृद्धि और दूसरे धर्म का कल्याण होता है। परस्पर का मेल स्तुत्य है। शार्लमेन अशोक के सामने उस नक्षत्र की भांति है जो सूर्य के प्रकाश के समक्ष सहसा छिप जाता है। इतना हम मान सकते हैं कि एक शासनकर्ता के रूप में दोनों सम्राट परस्पर कुछ समानता रखते थे। अशोक की भांति ही शार्लमेन का साम्राज्य प्रदेशों (मण्डलों) में बंटा हुआ था। इन प्रदेशों के शासक काउण्ट्स हुआ करते थे जो अशोक के कुमारों के सानुरूप हैं। इन काउण्ट्स

पर कुमारों की भांति सुव्यवस्थित शासन का उत्तरदायित्व था।

सीमान्त प्रदेशों के लिए शार्लमेन ने मार्कग्रेफिन नियुक्त किये थे। मार्कग्रेफिन को मैकफेल²¹ ने अशोक के अन्त महामात्रों से मिलाया है, किन्तु शार्लमेन के मार्कग्रेफिन कौटिल्य के अन्तपाल से ही मिलाये जा सकते हैं, क्योंकि उनका कार्य सीमान्त की रक्षा करना था और इसी हेतु उनकी अध्यक्षता में काफ़ी सैन्य रहा करती थी। अशोक के अन्त महामात्र धर्म महामात्र के अनुरूप हैं। जिस प्रकार धर्म महामात्रों को प्रजा में धर्म प्रचार तथा कल्याण कार्य करना था, वहीं कार्य अन्त महामात्र को बाहरी सीमान्त प्रदेशों में करना होता था।

सम्राट अशोक को उमर खलीफा प्रथम (644ई.पू.) से भी मिलाया गया है। उमर अनेक प्रदेशों का विजेता था। वह एक शक्तिशाली और प्रभावशाली पुरुष था। उसका प्रभाव साम्राज्य के प्रत्येक विभाग पर स्थापित था तथा उसका प्रभुत्व विशाल साम्राज्य के कोनों तक पर अपनी धाक जमाये था। उसने युद्ध में कभी भाग न लिया, किन्तु मदीना से ही वह सैन्य तथा शासन कार्य का नियंत्रण किया करता था। वह दूरदर्शी शासक था। उसने अपने साम्राज्य को बहुत विस्तृत न होने दिया क्योंकि वह समझता था कि साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार साम्राज्य के संगठन को कमजोर बना देता है। वह अरब राष्ट्र को सम्पन्न और उसके प्रत्येक निवासी को सैनिक बना देना चाहता था। अतः स्पष्ट है कि एक वीर और निपुण राजनीतिक सम्राट होने पर भी उमर का आदर्श बहुत ही संकुचित था, उसका एकमात्र ध्येय अरब राष्ट्र की उन्नति करना तथा उसे अमीरों का प्रदेश बनाना था किन्तु अशोक का आदर्श कभी भारतीय सीमाओं से बद्ध न रहा। अशोक के समक्ष सब प्रदेश भारत ही थे और अशोक ने जहां तक हो सका, आर्यसीमाओं से परे अन्य वैदेशिक देशों में भी अमूर्त भारत की नींव डाली। अशोक केवल इतना ही न चाहते थे कि उनकी प्रजा इहलोक तथा परलोक का सुख उपलब्ध करे, अपितु उनकी सच्ची अभिलाषा यह थी कि अन्य देशीय प्रजा अर्थात् सम्पूर्ण मानव का कल्याण हो, जिससे वे इहलोक तथा परलोक दोनों के सुख का लाभ उठा सकें। पशुओं तथा विश्व के जीव मात्र के प्रति भी उनकी यही लालसा थी।²² प्रथम स्तम्भ लेख में अशोक कहता है कि 'मेरा विधान (व्यवस्था, शासन अथवा नियम) इस प्रकार है - धर्म से पालन करना, धर्म से शासन करना, धर्म से सुख प्रदान करना और धर्म से रक्षा करना।' उमर के विपरीत सम्राट का पुण्य सिद्धान्त था 'कटिवय मने हि में सर्वलोक हिते' (6वां शिलालेख) अर्थात् सर्वलोक का हित करना ही मेरा कर्तव्य है। अतः उमर जब अरब की कल्याणकामना से पूर्ण था, अशोक सर्वकल्याण के लिए पराक्रम करने में प्रयत्नशील थे। इस हेतु यदि उमर अरब का महापुरुष था, तो अशोक विश्व के महान पुरुष थे। सम्राट अशोक अपनी इस विश्व व्यापक

सहृदयता एवं स्नेह के कारण सम्पूर्ण प्राणीवर्ग के स्नेह भाजन हो गये, किन्तु उमर इस वरदान को छू न सका। उसकी आर्थिक नीति मजदूरों के विद्रोह का कारण बनी। उमर, जिसकी राजनीति लूट खसोट को भी न्याय संगत समझती थी, कभी भी अशोक की बराबरी नहीं कर सकता। अशोक तो अपराधियों तथा अपकार करने वालों को भी क्षमा करता जाता था और उमर गरीबों व निरीह प्रजा का धन लूट कर राजकोष भरने में लगा था। तब क्या उमर अशोक के स्थान को पा सकता है? उमर की लूट खसोट पर प्रकाश डालते हुए जे.एम.मैकफिल लिखते हैं²³ "An immense amount of wealth poured into the treasury and plunder was no doubt, regarded as being as legitimate as conquest." यही कारण है कि अन्त में उमर मदीना की मस्जिद में आर्थिक संकट से त्रस्त एक मजदूर द्वारा मार डाला गया।

कुछ विद्वान सम्राट अशोक तथा अकबर की भी तुलना करते हैं। माना कि अकबर एक अच्छा शासक था और उसमें बहुत कुछ धार्मिक सहिष्णुता भी थी, किन्तु अशोक और अकबर की सहिष्णुता में यथेष्ट अन्तर है। अशोक की सहिष्णुता सैद्धान्तिक तथा सर्वलोक हित पर आधारित थी, किन्तु अकबर की नीति का आधार राजनीतिक था। अकबर पूर्ण रूप से अन्य धर्मों के प्रति उदार भी न था और न अशोक की भांति वह सर्वधर्मों की सारवृद्धि का ही अभिलाषी था। अकबर के समय में एक नवीन धर्म 'इलाही' नाम से जागृत हो रहा था। इस धर्म के मानने वालों के प्रति अकबर ने बहुत क्रूरता का व्यवहार किया। उसने इस धर्म के लोगों को बंदी बना कर सिन्ध तथा अफगानिस्तान भेजा, जहां पर ये लोग घोड़ों के मोल बेच दिये गये। सम्राट अकबर का 'दीन इलाही' भी केवल महत्ता तथा गौरव के लिए था। अकबर का इस मत के प्रति कोई अधिक उत्साह न रहा, न उसने अशोक की भांति उसके लिए अधिक पराक्रम ही किया। अतः दीन इलाही शाही दरबार से बाहर न फैल सका और अकबर के साथ ही उसका भी स्वर्गवास हो गया। इस बात को लक्ष्य कर मैकफिल कहते हैं, 'कम से कम इस विषय में अशोक और अकबर के मध्य की सादृश्यता में विरोध है।'²⁴ सम्राट अशोक के धर्म प्रचार तथा धर्म विधान को लक्ष्य कर मैकफिल पुनः कहते हैं- "To nurse my children on the milk of truth is a description that applies more closely to Asoka's aim than to Akbar's."

यूरोपियन विद्वान सिकन्दर, सीजर तथा नैपोलियन को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। कहा जा सकता है कि वे अशोक से भी अधिक निपुण शासनकर्ता तथा विजयी थे, किन्तु क्या इसी हेतु वे सर्वाधिक महान कहलाने के अधिकारी हैं? यही प्रश्न एच.

जी.वेल्स ने भी पूछा है। सिकन्दर, सीजर तथा नैपोलियन के बारे में एच.जी.वेल्स का प्रश्न है, 'इन महापुरुषों ने मानवता के हितार्थ कौन सी वस्तु प्रदान की?' इस प्रश्न का सरल उत्तर 'ना' में दिया जा सकता है। मानवता का कल्याण करने के बजाय जैसे-जैसे उनकी शक्ति बढ़ती गयी, उसी अनुपात से उनमें क्रूरता और अभिमान भी बढ़ता गया। सिकन्दर के प्रति वेल्स लिखता है कि जैसे-जैसे वह महान होता गया, उसने अत्यधिक शराब पीना आरम्भ किया और निर्भीकतापूर्वक हत्याएं की। बेबीलोनिया में अत्यधिक शराब पीने के कारण ही उसे एकाएक ज्वर हुआ और उसकी मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के पश्चात उसका साम्राज्य भी क्षीण होने लगा। उसकी स्मृति को जीवित रखने के लिए केवल एक रीति बच पायी। पहले लोग दाढ़ी रखा करते थे, किन्तु सिकन्दर का स्वाभिमान इतना अधिक था कि उसे अपने मुख को ढंका रखना पसन्द न आया। अतः उसने दाढ़ी मुड़वा कर ग्रीस तथा इटली में एक नवीन फैशन का प्रचार किया। यह प्रथा बहुत शताब्दियों तक जीवित रही। यद्यपि यह फैशन अच्छा था, किन्तु मानवता के लिए विशेष महत्व का न था। दूसरी ओर अशोक ने जो कुछ किया, वह विश्व कल्याण के लिए ही किया।

इसी तरह, अशोक जब कि एक साधु और धार्मिक पुरुष था, सीजर का जीवन पूर्णतया लालसा, आकांक्षा एवं भोग-लिप्सा से भरा था। 54 वर्ष की उम्र में भी सीजर अपने को संयमित न रख सका, मिस्र में जाकर वह वहां की रानी क्लियोपेट्रा के प्रेम जाल में जा फंसा। क्लियोपेट्रा रोम में भी एक साल तक सीजर के साथ रही। सीजर आकांक्षा और ऐश्वर्य की भूख से उद्दिग्ग्न रहा और यही आकांक्षा अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण बनी, किन्तु अशोक का जीवन एक पुण्यात्मा का जीवन था। अशोक दूसरा गौतम बुद्ध था। सम्राट का सिद्धांत था 'अछति च संयमं च समचेरां च मादवं चं।' प्रकट है कि अशोक, जो अन्य लोगों के संयम के अत्यंत अभिलाषी थे, स्वयं कितने संयमित रहे होंगे? सम्राट अशोक की कोई उन्मत्त आकांक्षा न थी और यदि कोई आकांक्षा या अभिलाषा थी तो केवल यही कि 'सर्वकल्याण हो।'

नेपोलियन को भी एक महान सम्राट कहा जा सकता है। इस पर वेल्स कहता है कि वह (नेपोलियन) मानवता के लिए कार्य कर सकता था और वह कार्य उसे इतिहास-गगन का सूर्य बना देता, किन्तु इस के लिए विशाल हृदय की आवश्यकता थी। अतः स्पष्ट है कि आदर्श तथा भावनाओं की विशालता के रूप में सिकन्दर, सीजर और महान नेपोलियन अशोक का सामना नहीं कर सकते। अशोक का हृदय विशाल, मस्तक उन्नत और भावना सर्वकल्याण कामना से परिपूर्ण थी। यही भावना सम्राट को विश्व मंगल के लिए जीवनपर्यन्त प्रेरित करती रही। इसी आदर्श के लिए

सम्राट ने अपूर्व पराक्रम किया तथा अपने निजी व्यक्तित्व को मिटा डाला। इसी सार्वलौकिकता के कारण आज अशोक का सामना कोई भी सम्राट अथवा मनुष्य नहीं कर सकता। एच.जी.वेल्स के शब्दों में वह सर्वकालिक सम्राट था।²⁵ इतिहास के स्तम्भों में भीड़ की तरह करोड़ों राजाओं और सम्राटों के मध्य अकेला अशोक का नाम चमकता है। रूस से लेकर जापान तक आज भी अशोक का नाम आदरणीय है। चीन, तिब्बत और भारत आज तक अशोक की महानता की गाथाओं को सुरक्षित रखे हुए हैं, जब कि कान्स्टैंटाइन और शार्लमैन का नाम भी हर कोई नहीं जानता। अशोक की स्मृति आज भी विपुल मनुष्यों के हृदयों पर अंकित है। निःसन्देह अशोक मानव-अवतार हो चुका है। अशोक का जन्म ही शायद भगवान कृष्ण, गौतम और राम की भांति परित्राण हेतु हुआ था। मानव जाति तथा प्राणिमात्र के हितार्थ उसने अद्वितीय कार्य किया और सबसे महान बात अशोक की यह है कि जो कुछ उन्होंने कहा, उसका अक्षरशः पालन किया। मैकफिल का कथन सत्य है कि 'अशोक की तुलना प्राचीन काल के किसी भी राजा से नहीं की जा सकती है'।²⁶ वह पुनः कहता है "In the history of one of the great religions of the world the greatest of all the non Christian religions if reckoned by the number of human lives it has influenced, Asoka holds a place of importance second only to that of the founder himself. In this way he perhaps stands nearer to Paul than to any other historial Characters." अर्थात् 'अशोक धर्म के रूप में दूसरा भगवान बुद्ध है तथा इस अर्थ में वह सन्त पाल के समानुरूप है।' ईसा मसीह का सिद्धान्त यद्यपि सार्वलौकिक तथा सर्वकल्याण के लिए था, किन्तु उसके अनुगामी इस तथ्य का निरूपण न कर पाये। कुछ समय तक यह भय बना रहा कि कहीं ईसाई धर्म यहूदी धर्म जुडाइज्म के नवीन मत में परिभ्रष्ट न हो जाय। यद्यपि जुडाइज्म मत सांस्कृतिक तथा उदार था, किन्तु फिर भी उसमें व्यावहारिक और वर्गीय पक्षपात भरा हुआ था। इस जातीय अथवा वर्गीय पक्षपात को मिटाने वाला सन्त पाल ही हुआ। अन्य ईसाई आचार्य भी इस बात के लिए तैयार न थे कि चर्च का दरवाजा भिन्न तथा अन्य देशीय लोगों के लिए खोल दिया जाय, किन्तु पाल ने कहा कि, 'क्रिश्चियन चर्च का कोई भी दरवाजा नहीं है क्योंकि वहां कोई दीवाल ही खड़ी नहीं है। अब प्रत्येक विभाग तोड़ डाले गये हैं तथा परमात्मा की दृष्टि में हर प्रकार की विभिन्नता मिटा दी गई है। परमात्मा का प्रेम उसी भांति स्वच्छन्द तथा सबका आलिंगन करने वाला है, जैसा कि नीलाकाश। भगवान का अनुग्रह तथा प्रसाद उसी प्रकार स्वच्छन्द है जैसी कि वायु, जिसमें हम सांस लेते

हैं। ईसा मसीह के समक्ष न कोई यहूदी है, न कोई यूनानी। न कोई बंधा है, न कोई स्वतंत्र और न कोई स्त्री है, न पुरुष।'।

क्रिश्चियन धर्म भी गौतम के धर्म की तरह सार्वलौकिक तथा विश्वहित के लिए था, किन्तु उसका अनुसरण करने वालों ने उसको एक संकुचित वर्गीय धर्म बना दिया। अशोक ने बौद्ध विहार के द्वार सबके लिए स्वतंत्र कर दिये। अशोक ने अपने पराक्रम द्वारा सारे भारतवर्ष तथा अन्य प्रदेशों तक प्रचार करके बौद्ध धर्म को एक व्यापक विश्व धर्म में परिवर्तित कर दिया। गौण शिलालेख प्रथम ब्रह्मगिरि लिखता है 'ढाई साल तक जब मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) न किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर हुआ, मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बंधित न थे, देवताओं से सम्बंधित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बंध स्थापित हुआ), पराक्रम का यही फल है।' 13वें शिलालेख में वे स्पष्ट कहते हैं कि इस धर्म पराक्रम द्वारा उन्होंने भारत के अतिरिक्त सर्वत्र धर्म विजय को उपलब्ध किया। सम्राट की धर्म विजय का ध्येय सर्वधर्मों के प्रति सहिष्णुता और धर्म के सारतत्त्व का सर्वत्र प्रचार करना था। अशोक का कहना था, का मेल स्तुत्य है' जिससे लोग एक दूसरे के धर्म को श्रवण करें और समझें। निःसन्देह देवताओं के प्रिय की यही इच्छा है कि सर्व सम्प्रदाय वाले सुन्दर सिद्धान्तों के हों, जिससे सबका कल्याण हो। देवताओं का प्रिय सर्वधर्मों की सार-वृद्धि को अच्छा मानता है, (12 वां शिलालेख)। सम्राट अशोक की दृष्टि में प्रत्येक धर्म समान था क्योंकि सम्राट का विश्वास था कि सभी धर्म भावों की शुद्धता तथा आत्मा का विकास चाहते हैं। अतः सम्राट ब्राह्मण, आजीविक, निर्ग्रन्थ, श्रमण आदि सबको अपनाये हुए थे। 12 वां शिलालेख कहता है कि 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा सब धर्मों (सब पासंडानि पूजयति) चाहे वे गृहस्थ हों, चाहे साधु (त्यागी, 'पविजितानि'-परिव्राजक) वह सब का दान और अनेक प्रकार की पूजा से आदर करता है।' प्रकट है कि सम्राट का धर्म पूर्णरूप से स्वच्छन्द, सर्वगत तथा पक्षपातहीन था। इस तरह बौद्ध धर्म को सन्त पाल की भांति सर्वगत बनाने का श्रेय अशोक को ही प्राप्त है। इस अर्थ में निःसन्देह सन्त पाल और अशोक परस्पर मिलते हैं। संक्षेप में अशोक तथा सन्त पाल दोनों ही मानवता के पुजारी हुए हैं। उनके धर्म-सिद्धान्त जाति की अपेक्षा सर्व मनुष्यों के लिए रहे हैं।

भारतवर्ष ने अशोक के सुशासन और धर्म प्रचार से अत्यधिक लाभ उठाया। सम्राट के धर्म प्रचार के फलस्वरूप अब तक जो लोग धर्म के उपभोग से वंचित थे, उनके लिए भी अशोक ने धर्म का द्वार खोल दिया। अतः सब मनुष्यों में एकता

स्थापित हुई और ऊंच-नीच का भाव जाता रहा। 11वें शिलालेख में सम्राट कहते हैं, 'देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा इस प्रकार कहता है कि धर्मदान से बढ़ कर और कोई दान नहीं है। धर्म का व्यवहार, धर्म का वितरण और धर्म के संबंध से बढ़ कर और दान नहीं है। इसमें निम्न बातें होती हैं, दासों और वेतन भोगी नौकरों (भृत्यों) से उचित व्यवहार, मातापिता की सेवा आदि।' भण्डारकर²⁷ के अनुसार अशोक के धर्म प्रचार से पाली भाषा सारे भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा का रूप धारण कर गई। अतः इस समय के सभी धर्मग्रंथ तथा धर्म लिपियाँ पाली भाषा में लिखी गईं। सम्राट के धर्म पराक्रम के फलस्वरूप भारतवर्ष ने कला कौशल में भी अत्यधिक उन्नति की। सम्राट अशोक ने धर्म लिपियों को चिरस्थायी बनाना चाहा था। 6वां शिलालेख कहता है कि 'यह धर्मलिपि इसलिए लिखवाई गयी कि यह चिरंजीवी हो (चिलिथ्यकत्वा भवतु) और जिससे मेरे पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र सर्व कल्याण हेतु उसका अनुसरण करें।' इसी भांति अन्य लेखों के अन्त में भी सम्राट धर्मलिपियों के चिरस्थायी होने की अभिलाषा प्रकट करते हैं। अतः धर्मलिपियों को चिरस्थायी बनाने हेतु सम्राट ने प्रस्तर शिल्प कला को अपनाया। फलस्वरूप इस कला ने अशोक के समय में राजकीय संरक्षण पाने से आश्चर्यजनक रूप से उन्नति की। धर्मलिपियों को खुदवाने के अभिप्रायः से बड़े-बड़े शिला स्तम्भ स्थापित कराये गये, शिलाओं एवं चट्टानों पर लेख लिखे गये, गुफाओं का निर्माण किया गया तथा अन्य अनेक प्रकार की कला - वस्तुएं निर्मित की गयीं। स्पष्ट है कि अशोक का शासन भारत और विश्व के लिए अत्यंत कल्याणप्रद सिद्ध हुआ।'

किन्तु खेद है कि सम्राट अशोक के बाद उसका कोई ऐसा योग्य उत्तराधिकारी न हुआ, जो उसके महान कार्य को आगे बढ़ा सकता और मौर्य साम्राज्य को शिथिल न होने देता। एच.जी.वेल्स लिखता है-

"Such was Asoka, greatest of kings. He was far in advance of his age. He left no prince and no organisation of men to carry on his work, and within a century of his death the great days of his reign had become a glorious memory in a shattered and decaying India."

कलिंग युद्ध की भीषणता और अमानुषिक क्रूरता का अवलोकन कर अशोक का कोमल हृदय दुखी हो चला था और इसी समय से उन्होंने युद्ध न करने की घोषणा की थी। सम्राट बहुत दिनों से संसार की क्रूरता का अध्ययन कर रहे थे। चौथा प्रज्ञापन (शिलालेख) लिखता है 'बहुत काल व्यतीत हुआ, सैकड़ों वर्ष हुए, होम के लिए पशुओं की बलि, जीवों की हिंसा और संबंधियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति बुरा व्यवहार बढ़ता ही गया। किन्तु आज देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा

के धर्माचरण के फलस्वरूप भेरीनाद (वीर-घोष) धर्म-घोष हुआ। स्पष्ट है कि सम्राट ने संसार की क्रूरता से ही ऊब कर युद्ध करने का विचार छोड़ा था और इसी वीर-घोष को उन्होंने धर्म-घोष में परिवर्तित किया था। तब से सम्राट ने शस्त्र द्वारा विजय करने का विचार ही हमेशा के लिए छोड़ दिया और सर्वकल्याण के लिए धर्म विजय करने लगे। 13वें प्रज्ञापन (चतुर्दश शिलालेख) में सम्राट ने धर्म विजय को प्रमुख विजय घोषित किया। धर्म विजय के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए सम्राट कहते हैं, 'जो विजय अब तक इससे (धर्म से) प्राप्त हुई है, वह आनन्द अथवा प्रेम को पैदा करने वाली है। धर्म विजय से आनन्द प्राप्त होता है। यह धर्म विजय इहलोक तथा परलोक दोनों में आनन्द देने वाली है।' इसलिए सम्राट अपने पुत्रों और प्रपौत्रों को सम्बोधित करते हैं, 'मेरे पुत्र और प्रपौत्र शस्त्रों द्वारा विजय करने का विचार न करें। उन्हें उदारता (शान्ति) और सहिष्णुता अथवा दण्ड-शमन (मृदुता) में आनन्द मनाना चाहिए। यदि उन्हें विजय में आनन्द आये, तो धर्म विजय को ही विजय समझना चाहिए। उसी विजय में आनन्द मानना चाहिए।'

प्रकट है कि सम्राट ने अपने आप तो शस्त्र से विजय करना छोड़ा ही था, अपने पुत्र-पौत्रों आदि को भी यही उपदेश देते गये। किन्तु अशोक के बाद कोई उत्तराधिकारी ऐसा न हुआ जो धर्म विजय को स्थिर रख सकता। यही कारण है कि अशोक के अवसान के साथ ही मौर्य राष्ट्र का सूर्य भी अस्ताचल ओर ढलता गया और कुछ ही काल के अन्दर सम्पूर्ण मौर्य राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो चला।

उपसंहार

स्पष्ट है कि अशोक भारत के एक महान सिद्ध तथा धर्मराज थे। अशोक को सिद्ध कहते हुए हमें अमोस के शब्दों का स्मरण हो आता है। अमोस ने कहा था, 'मैं कोई न सिद्ध था और न मैं किसी सिद्ध का लड़का ही था।' वह केवल एक चरवाहा था और फलों को एकत्र करने वाला था। किन्तु जब वह गल्ले के पीछे चल रहा था, ईशू ने उसे पकड़ा और उसे धर्म प्रचार के लिए इजराइल भेजा। इसी भाँति अशोक वस्तुतः न कोई सिद्ध था, न जन्म से ही वह सिद्ध रहा, वह तो केवल एक मनुष्य था, राजा था, किन्तु गौतम की प्रेरणा उसे धर्म प्रचार के लिए प्रेरित कर गई। अशोक की धार्मिकता भगवान तथागत की कृपा का दान थी और इस दान का अशोक ने बहुत ही सुन्दरता के साथ उपयोग किया।

अशोक पर भारतवर्ष को गर्व है और निःसन्देह प्रत्येक भारतीय युवक के लिए अशोक आदर्श स्वरूप हैं। आज यदि गिरा हुआ भारत पुनः जागृत होकर भारतवर्ष कहलाना चाहता है, यदि वह आर्यपद फिर से प्राप्त करने का अभिलाषी है तो उसके प्रत्येक बच्चे, लड़के व लड़कियों को अशोक बनना होगा। इसी आशय

को सामने रखते हुए जे.एम. मैकफिल लिखते हैं-

"He (Asoka) is part of the heritage of which India may well feel proud, and his example should inspire the youngmen of India today with the noble ambition to spread, their lives for the moral and spiritual progress of their country and for the temporal and eternal welfare of their fellowmen." (J.M. Macphail's, P.88)

संक्षेप में अशोक भारतवर्ष की प्राचीनतम अपूर्व निधि हैं।



अध्याय-10

सम्राट अशोक

‘नास्ति हि क्रमतर सत्रलोक हितेन’¹ (सम्राट अशोक 6वां प्रज्ञापन, मानसेरा)

राजत्व एवं राजा की उत्पत्ति

भारतीय आत्मा निरन्तर उन्नत आध्यात्मिकता एवं राजसत्ता के लिए उत्कण्ठित रही है। आर्य जीवन के यही दो प्रतिनिधि रहे हैं। भारत धर्म प्रधान देश है। अतः आर्य जीवन एवं कर्म क्षेत्र का प्रत्येक भाग धर्म से अनुरक्त रहा है। पाश्चात्य वैदेशिक जातियों की भांति उसका कुटिल कूटनीति और दांभिकता से कभी संबंध नहीं रहा। उसे तो केवल धर्म से ही तात्पर्य था और यही धर्म सर्वदा उसके जीवन-पथ का आलोक रहा है।

अतः भारत की राजनीति एवं राजसत्ता का न केवल मुख्य अंग धर्म था, अपितु धर्म ही राजा था, व्यवहार था, शासन था और नियम था। सतयुग के धर्मशासन का अभिनन्दन करते हुए महाभारत कहता है कि सतयुग में ‘न वै राज्यं च राजा ऽ ऽ सील न दण्डो, न दाण्डिकः। धर्मणैव प्रजाः सर्वारक्षन्तिस्परस्परम्’ ॥14॥ (राज धर्मानुशासन पर्व 59 अध्याय) सतयुग में न राजा था न राज्य था, न दण्ड था और न दंड्य था, किन्तु एक धर्म से ही प्रजा परस्पर अपनी रक्षा करती थी। महाभारत का यह पावन कथन भारतवर्ष के आदि, उच्च एवं विशाल साम्यवाद की ओर संकेत करता है। निस्सन्देह भारत आदि काल से साम्यवाद का उपासक तथा प्रेमी रहा है। इसी साम्यवाद का दूसरा नाम धर्मशासन है अर्थात् वह शासन, जिसके अन्तर्गत सभी मानव एक रूप थे। न कोई विशिष्ट था, न निकृष्ट, न कोई धनाढ्य था, न निर्धन, न कोई किसी पर अत्याचार करता था, न किसी को पीड़ित करता था और सब लोग प्रसन्न थे, सुखी थे। उन्हें राजकीय अत्याचारों और पूंजीपतियों के आतंक का कुछ भी अनुभव न था, किन्तु अंततः धनाढ्यों की अमानुषिक भूमिका आदि के कारण यह समाजवाद या साम्यवाद चिरंजीवी न हो सका।

इस मंगलमय साम्यवाद की मृत्यु का उत्तरदायित्व द्रव्य लोभी धनाढ्यों पर ही है। कुचाली मनुष्यों के इस मोह के कारण ज्ञान का भी नाश हुआ। मनुष्यों की बुद्धि भ्रष्ट हो चली। फलस्वरूप धर्म का विनाश हुआ और लोग अधर्मी, स्वार्थी एवं निजी लाभ के अनन्य उपासक हो चले। मनुष्य, मनुष्य की हिंसा से अपना पेट भरने लगा

और प्रजा अन्याय एवं अधर्म से पीड़ित हो चली। निकृष्ट, धनवान एवं अत्याचारी शासक वर्ग ही इन सब का कारण था। महाभारत कहता है, 'मोहपश्या मापन्ना मनुजा.... प्रतिपात विमोहायुय धर्मस्तेषा मनीनशत् मोहपश्या नरास्तदा सर्वे लोभस्य वशमापन्नाः' ॥17॥ तास्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभि संस्पृशत्' ॥18॥ अतः इन लक्षणों को लक्ष्य कर महाभारत पुनः कहता है, 'अगम्यागमनं वाच्यावाच्यं भक्ष्याभक्ष्यं दोषादोषां च नात्यजन'। फलतः महाभारत कहता है 'विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव वनासह' ॥20-21॥ (महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय 59)। अर्थात् धन आदि के मोह में पड़ने के कारण मनुष्यों का ज्ञान नष्ट हो गया और ज्ञान-नाश से धर्म भी नष्ट हो चला। सब मनुष्य लोभी हो चले, वे कामुक तथा राग वाले हो चले, फलतः उन्हें दोष-अदोष, गम्य-अगम्य आदि किसी भी वस्तु का ज्ञान न रहा। अतः धर्म का इस भांति विनाश होने से संसार में विप्लव मच गया, अराजकता फैल गयी। इस अराजकता से सम्पूर्ण प्रजा भयत्रस्त हो चली। प्रजा का कोई रक्षण न हुआ क्योंकि इस समय तक मनुष्यों के शासन के लिए कोई नियम अथवा दण्ड आदि न बने थे। अतः विप्लव को रोकने के लिए प्रथम दण्ड नीति अथवा राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। महाभारत राजनीति अथवा दण्ड की उत्पत्ति का इस प्रकार वर्णन देता है, मनुष्यों में विप्लव होने के कारण देवता लोग ब्रह्मा के पास जाकर उसकी शान्ति का उपाय पूछने लगे, इस पर ब्रह्मा ने 'अध्याय सहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्। यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः' ॥² सौ हजार अध्यायों से युक्त धर्म, अर्थ, काम पर एक ग्रन्थ का अपनी बुद्धि से निर्माण किया।

राजा की उत्पत्ति

प्रजा में अशान्ति एवं अराजकता को मिटाने के लिए ही दंड की उत्पत्ति हुई। इस दंड धर्म का महाभारत ने स्वच्छंदतापूर्वक अभिनन्दन किया है। महाभारत कहता है- 'धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय', क्यों? इसलिए कि धर्म से युक्त व्यवहार, शासन, नियम या दण्ड से प्रजा का पालन करने को धर्मभिन्न लोग उत्तम धर्म मानते हैं ॥³ धर्म के प्रणयन के अनन्तर यह समस्या उपस्थित हुई कि कौन इस धर्म दण्ड या शासन को ग्रहण करेगा? महाभारत लिखता है कि इस समस्या को हल करने हेतु 'देवा समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्। एको यो ऽ हीते यत्तेभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिशं' ॥87॥ देवता लोग विष्णु भगवान के पास गये और उन्होंने इस उत्तरदायित्व (प्रजा की रक्षा के उत्तरदायित्व) के योग्य पुरुष के लिए याचना की। स्पष्ट है कि प्रजा की रक्षा एवम् विप्लव की शान्ति के हित ही राजा का जन्म हुआ। मनु ने भी कहा है 'अराजके हि लोके ऽ स्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थं मस्य सर्वस्य राजानम् सृजत्प्रभुः' ॥⁴ अर्थात् अराजकता के कारण विश्व के भय संकुल एवं

त्रस्त होने से सर्व प्रजा (चर अचर) की रक्षा के लिए भगवान ने राजा को उत्पन्न किया। अतः प्रकट है कि राजसत्ता का गौरव प्रजा के रक्षण एवम् विश्व शान्ति पर ही निहित है। इसी से महाभारत कहता है, 'एष एव परोधर्मी यद्राजा रक्षति प्रजाः।' ⁵ महाभारत आगे कहता है, 'एतत्ते राज धर्माणां नवनीतं बृहस्पतिर्हि भगवान्यायं धर्मं प्रशंसति।' ¹¹ ¹⁶ अर्थात् न्याययुक्त रक्षा करने से बढ़ कर अन्य कोई धर्म नहीं है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय राजा स्वेच्छाचारी न होता था, प्रजा के हित के लिए ही उसका जन्म होता था और प्रजा की रक्षा करना ही उसका परम कर्तव्य तथा धर्म था। कौटिल्य भी कहता है, 'जो राजा के सुख का कारण हो, उस राजा को मंगलमय न समझना चाहिए। जिस हेतु प्रजा हर्षित रहे, उसे ही (राजा को) कल्याण प्रद समझना चाहिए।' ⁷ मनु कहते हैं, 'ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथा विधि। सर्वस्यास्य यथान्यायम् कर्तव्यं परिरक्षणम्' ¹¹² ¹¹ (अध्याय सातवां)। अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए शास्त्र के अनुसार उपनयन संस्कार करके क्षत्रिय को सर्वदेश अथवा जनपद की रक्षा नियम से करनी चाहिए। राजा को नित्य प्रातःकाल उठ कर ऋक्, यजु, साम तथा नीति शास्त्र के ज्ञाता ब्राह्मणों के आदेशानुसार कार्य करना होता था ¹⁸ अर्थात् राजा को स्वच्छन्दता का अधिकार न था, वह अपनी स्वेच्छाचारिता एवं कामचारिता के अर्थ कोई भी कार्य नहीं कर सकता था। प्रजा ही राजा द्वारा शासन कराती थी। न्याय और दण्ड में भी राजा का कोई हाथ न था। भारतीय धर्माचार्य न्याय के चार मूल मानते हैं - वेद, स्मृति, शिष्टाचार और विद्वान् ब्राह्मणों की सम्मति। मनु कहते हैं, 'तस्यार्थे सर्व भूतानां गोप्तारम् धर्मं मात्जम्। ब्रह्मतेजोमयम् दण्डम् सृजत्पूर्तमीश्वरः।' ¹¹⁴ ¹¹ (मनुस्मृति) अर्थात् सर्व प्राणियों की रक्षा करने वाले धर्मरूप पुत्र दण्ड को ब्रह्मा ने सर्वभूतों अथवा प्राणियों के प्रथम ही उत्पन्न किया। इस वृत्त से स्पष्ट है कि भारतीय राजा को न्याय एवं दण्ड को अपनी इच्छा के अनुसार बनाने और बिगाड़ने का अधिकार न था। उसको केवल उन नियोगों को कार्य रूप में लाना था, जिससे प्रजा का हित हो और लोग सुखपूर्वक अपनी उन्नति कर सकें।

खेद है कि हमें इस मंगलमय सर्वहितकारी राजत्व का इतिहास में बहुत कम दर्शन होता है। अत्याचारी और आतंकवादी राजाओं से पीड़ित हो पृथ्वी कहती हैं - न ह्यहं कामये नित्यमति क्रान्तेन रक्षणम् ⁹ ¹¹⁸⁷ ¹¹ अर्थात् मैं उस राजा की रक्षा नहीं चाहती, जिसने न्याय का अतिक्रमण अथवा उल्लंघन किया हो, अर्थात् मैं अत्याचारी राजा की संरक्षता में नहीं रहना चाहती क्योंकि जो राजा न्याय अथवा धर्म का उल्लंघन करने वाला हो, वह भला प्रजा की कैसे रक्षा करेगा? इसी प्रकार राजधर्म के उल्लंघन करने वाले अथवा अत्याचारी राजा के प्रति मनु कहते हैं - कामात्मा

विषमः क्षुद्रो दण्डैव निहन्यते।।26।। दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चा कृतात्मभिः। धर्माद्धि चलितम् हन्ति नृपमेव सबान्धवम्।'।28।। (मनुस्मृति, सातवां अध्याय)। अर्थात् जो राजा विषयी, अत्याचारी, क्रोधी (क्रूर) और छली होता है, वह स्वयं दण्ड अथवा अधर्म के कारण नष्ट हो जाता है। दण्ड (राजधर्म) विशाल एवं तेजस्वरूप हैं, अतः दुष्ट, अत्याचारी अथवा अशुद्ध आत्मा से उसका पालन नहीं हो सकता और अन्ततः यही दण्ड, अत्याचारी तथा राजधर्मरहित राजा को पुत्र एवं बंधु समेत नष्ट कर देता है। महाभारत के अनुसार 'अत्याचारी राजा को पागल कुत्ते की भांति मार डालना चाहिए।'।¹⁰ राजा वेन का उदाहरण उपस्थित करते हुए महाभारत कहता है 'वै प्रजासु विधर्माणं रागद्वेष वशानुगम्। मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नु ऋषियोः ब्रह्मवादिनः।'।⁹⁴।¹¹ अर्थात् रागद्वेष होने से वेन राजा प्रजा के धर्म से विचलित हो गया, अर्थात् प्रजा की रक्षा न कर वह उसे सताने लगा। इसलिए अभिमंत्रित कुश से ऋषियों ने उसे मार डाला। अत्याचारी होने के कारण मारे गये राजाओं का मनु ने भी उल्लेख किया है, 'वेनो विनष्टो ऽ विनायन्न ह्युषश्चैव पार्थिवः। सुदासो यवनश्चैव सुमुखोनिमि रेव च।'।¹² वेन, नहुष, यवनराज, सुदास, सुमुख तथा निमि ये सब अत्याचारी होने एवं अविनय से राज करने के कारण नष्ट हुए। इतना होने पर भी अधिकांश राजा अपने को अत्याचार करने तथा प्रजा को पीड़ित करने से न रोक सके, परन्तु अनेक अत्याचारी राजाओं, सम्राटों एवं शासकों के बीच एक महान शासक का भी उदय हुआ, जिसका धर्मशासन आज भी भारत तथा विश्व को प्रकाशित कर रहा है। वह यशस्वी धर्मराज था अशोक। उसके धर्मानुशासन की कोमलवाणी आज भी प्राचीन शिला अवशेषों और शिलाखण्डों में गूंजती हुई कहती सुनाई पड़ती है - 'नास्ति हि क्रमतर सब्रलोक हितेन', सब लोगों के हित से बढ़कर अन्य कोई उपादेय कर्म नहीं।

राजधर्म और अशोक

सम्राट अशोक के अनुशासनों की यदि महाभारत के राजधर्म से तुलना की जाय, तो स्पष्ट हो जाएगा कि महाभारत में उल्लिखित राजधर्म ने अशोक के शासन में ही व्यावहारिकता प्राप्त की। सम्राट के शब्द हैं, 'सब मुनिषा मी प्रजा'¹³, सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। मनु भी कहता है कि 'स्याच्चात्मानाय परलोके वचेत पितृवन्नुषु'¹⁴ राजा को अपने प्रदेश के मनुष्यों के साथ पिता के सदृश स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। महाभारत का यह नियोग 'प्रिया प्रिये परित्यज समः सर्वेषु जन्तुषु'¹⁵ सम्राट के इस सिद्धान्त में चरितार्थ होता है - 'सवेन हित सुखेन इच्छामि', मैं सबका हित और सुख चाहता हूं। पुनः सम्राट अशोक के इस अनुशासन को महाभारत के अनुशासन से समीकृत कीजिए, सम्राट कहते हैं - 'इयं धमेन पालना, धमेन विधेन,

धर्ममेन सुखयना धममेन गोतीति।' और महाभारत कहता है 'यदहया कुरुते धर्म प्रजा धर्मेण पालयन। दशवर्ष सहस्त्राणि तस्य भुङ्क्ते फलं दिवि।' स्पष्ट है कि सम्राट और महाभारत का अनुशासन एक है, दोनों ही प्रजा की रक्षा, पालन, वृद्धि आदि सब धर्म द्वारा ही करने का आदेश करते हैं। सम्राट का राजधर्म कितना विशाल था, यह उनकी वाणी की निर्मलता स्वयं प्रदर्शित करती है - 'सर्वभूतानां अछति च, समयं च, समचेरां च, मादवं च', सर्व प्राणियों की अक्षति, संयम, सम-व्यवहार और सुख का अभिलाषी हूँ। सम्राट का एक और महान सिद्धांत था - 'अपकरेयति छमितवियमते वो देवन प्रियस य शको छमनेय'¹⁶ अर्थात् अपकार करने वाले को भी यदि हो सके, तो क्षमा किया जाये। इसी कारण कलिंग के पराक्रमी विजेता सम्राट प्राणियों के अहित की आंशका से उपद्रवी अटवी जाति को भी केवल क्षमा एवम् धर्म द्वारा ही सुपथ पर लाना चाहते हैं। सम्राट का सैन्यबल तथा पराक्रम सीजर से कोई कम न था। सीजर आया, उसने देखा और विजय किया किन्तु अशोक ने प्रथम विजय किया और तत्पश्चात् देखा। उनका हृदय युद्ध के जघन्य परिणामों को देख कर दुःखित हो चला, वे गौतम की शरण में चले गये और प्रजा के पालन, रक्षण एवं सुख का विधान करते हुए कलिंग के अमानुषिक कृत्य का प्रायश्चित्त करने लगे। कलिंग युद्ध के अनन्तर सम्राट अपने विशाल धर्म का पालन करने में कभी न चूके और नित्य इसी के लिए प्रयत्न करते रहे कि किस तरह 'इअ च प सुखयमि परम च स्वग्रं अरधेतु ति', प्राणियों को इहलोक में सुख पहुँचाऊँ, जिससे परलोक में भी वे स्वर्ग प्राप्त कर सकें।

सम्राट अशोक की राजसत्ता का आधार दैवी अधिकार के सिद्धांत पर निहित न था। सम्राट की राजसत्ता सामाजिक समझौते के सिद्धांत से उद्भूत हुई थी। दैवी अधिकार के अनुसार राजा अपने भले व बुरे कर्मों के लिए प्रजा के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है क्योंकि ईश्वर ने ही राजा को स्वर्ग से मृत्युलोक में लोगों पर शासन करने के लिए भेजा है, परन्तु सामाजिक समझौते के सिद्धांत के अनुसार राजा तभी शासक है, प्रजा से उसे कर लेने का तभी अधिकार है, जब वह प्रजा की रक्षा करे।¹⁷ अर्थात् प्रजा और राजा के मध्य एक समझौता सा है, जिसके अनुसार प्रजा राजा को कर देती है और राजा को इसके प्रतिकार में प्रजा का रक्षण करना पड़ता है। इस सिद्धांत के अनुसार राजा प्रजा का ऋणी होता है। सम्राट अशोक का भी यही सिद्धांत था। अशोक ने अपने को कभी भी अधीश्वर के रूप में न लिया, वह हमेशा इस बात का विचार रखता था कि प्रजा के अनुग्रह से ही वह राज्य का अधिकारी है तथा प्रजा पर शासन करने का तभी तक अधिकार है, जब तक कि प्रजा को

सुख और शान्तिदायक एवम न्यायपूर्ण शासन प्रदान कर सकता है। इसी हेतु सम्राट हमेशा इस बात का विचार रखते थे कि उनका प्रमुख कर्तव्य दूसरों का, सर्वलोक का तथा प्रजा का हित करना है। सम्राट स्वयं कहते हैं - 'कर्तव्य मतेहि में सब लोक हितं।' (6वां शिलालेख) अर्थात् सब लोगों का हित करना ही मेरा कर्तव्य है। सम्राट को हमेशा इस बात का विचार रहता था कि प्रजा का पूरा भार उन पर है, इसलिए प्रजा के कल्याण के लिए वे जितना भी पराक्रम करें, सब कम है। वे कहते हैं - 'य च किमिच पराक्रम मि अहं किमति भूतानां आन्तमतां येहे इय च नानि (कानि) सुखापयामि च सवगं आराध्येतु', अर्थात् जो कुछ भी मैं पराक्रम करता हूं, वह इसलिए कि मैं सर्व प्राणियों के ऋण से उद्धरण हो सकूं और उन्हें इहलोक तथा परलोक दोनों में सुखी बना सकूं। स्पष्ट है कि सम्राट राजपद को किस प्रकार प्रजा के उत्तरदायित्वों से आक्रान्त समझते थे। वे जानते थे कि राजा का प्रजा के प्रति अपार उत्तरदायित्व है क्यों कि प्रजा ने ही उसे इस पद पर आसीन किया है और इसलिए राजा का प्रमुख कर्तव्य है कि वह प्रजा के इस ऋण का प्रतिकार करे। संसार में बहुत कम ऐसे राजा हुए होंगे, जिन्होंने प्रजा के उत्तरदायित्व का इस भांति विचार किया हो। सम्राट अशोक का प्रजा से वही संबंध था जो एक पिता का अपने पुत्र से होता है। सम्राट कहा करते थे, 'सब मुनिषा मी प्रजा', सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं और इसी भावना से प्रेरित होकर सम्राट अपनी प्रजा का स्नेह सहित पालन व रक्षण करते रहे। देखिए - 'सब मनुष्य मेरे पुत्र हैं। जिस प्रकार मैं चाहता हूं कि मेरे पुत्र इहलोक तथा परलोक दोनों में पूर्ण सुख उपलब्ध करें, उसी भांति मेरी अभिलाषा है कि मेरी प्रजा इहलोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त करे।' ¹⁸ प्रकट है कि सम्राट के सामने प्रजा को नित्य दो चिन्ताएं थीं। प्रथम प्रजा को ऐहिक-सुख प्रदान करना और द्वितीय प्रजा को स्वर्ग-सुख उपलब्ध करवाना। कलिंग शिलालेख जौगुडा लिखता है 'सम्राट हमारे पिता के सदृश हैं उसे अपनी भांति ही हमारी (प्रजा की) चिन्ता है, हम उसके बच्चे के समान हैं।' अपने राज कर्मचारियों को भी सम्राट ने आदेश दे रखा था कि वे प्रजा को इन बातों को भली प्रकार समझाएं। सम्राट अपने कर्मचारियों से कहते हैं कि 'इसी अर्थ के लिए मैं तुम्हें अनुशासन दे रहा हूं, जिससे कि मैं जीवों के ऋण से उद्धरण हो सकूं।' पुनः कलिंग लेख धौली कहता है 'नगर व्यवहारिक तथा महामात्र नित्य इस कार्य का उपक्रम करते रहें कि बिना किसी कारण मनुष्यों को बन्धन में न रखा जाय, न उन्हें कष्ट दिया जाय।' सम्राट के इन कथनों से सर्वशः प्रकट है कि सम्राट सब तरह से प्रजा के लिए ऐहिक सुख का विधान करने में तन-मन से लगे थे। सम्राट का इस प्रकार के हित-उद्योग करने का क्या अभिप्राय था? यह सम्राट के शब्दों में ही सुनिए, 'इस विषय पर मेरा अत्यधिक विचार क्यों है? इसका कारण यह है कि इस कर्तव्य के

सम्पादन से दो लाभ हैं—अर्थात् स्वर्ग की प्राप्ति और राज कर्तव्य से उन्नतता पा जाना।'

कहना न होगा कि सम्राट का मस्तक प्रजा की हित-चिन्ता से इतना आक्रान्त रहता था कि वे नित्य इन्हीं बातों को सोचा करते थे और जिस प्रकार प्रजा सुखी रहे, वही उपाय हमेशा किया करते थे। ऐहिक सुख के अलावा उन्हें प्रजा को पारलौकिक अथवा स्वर्गिक सुख पहुंचाने की भी चिन्ता रहा करती थी। इस अर्थ में जो पराक्रम सम्राट ने किया, वह उनके धर्मकार्यों में प्रत्यक्ष है। उनके धर्मप्रचार के फलस्वरूप भारतवर्ष की पावन भूमि पर स्वर्ग लहराने लगा। गौण शिलालेख प्रथम, ब्रह्मगिरि लिखता है — 'ढाई साल तक जब मैं उपासक रहा, मैंने अधिक पराक्रम (उद्योग) न किया, किन्तु एक साल से या एक साल से ऊपर हुआ, मैंने संघ की यात्रा की, तब से मैंने अधिक पराक्रम किया। अतः इस समय के अन्दर जम्बूद्वीप के लोग जो अब तक देवताओं से सम्बन्धित न थे, देवताओं से सम्बन्धित हुए (अथवा उनका देवताओं से सम्बन्ध स्थापित हुआ)। पराक्रम का यही फल है।' मैकफिल कहते हैं कि 'सम्राट के इन प्रयत्नों के फलस्वरूप लोगों का जीवन अवश्य ही सुखद एवं सुरम्य हो गया। वह लिखते हैं "Asoka must have made life happier for great multitudes of people, not only by the measures he took for their physical comfort, but by teaching them useful lives and think noble thoughts." निःसन्देह अशोक ने मानवता के लिए अपूर्व पराक्रम किया और हर प्रकार से यह प्रयत्न किया, जिससे प्राणियों को सुख और शान्ति उपलब्ध हो सके।

महान अशोक की स्मृति से भारत और सिंहल की गाथाओं के पन्ने परिपूर्ण हैं, किन्तु इतिहास में बहुत थोड़ा ही उनकी स्मृति का आदर किया गया है। फिर भी अशोक की स्मृति को अंकित करने वाले हमें कुछ शिलालेख अवश्य उपलब्ध हुए हैं 1. रुद्रदामन के जूनागढ़ (150ई.) में, 'अशोकस्य मौर्यस्य' लिखता है (ईपीआई इण्डिया, 7, 43), 2. कन्नौज के सम्राट गोविन्द चन्द की (सन् 1114-54ई.), रानी कुमारी देवी के सारनाथ लेख में, धर्माशोक 'नराधिपस्य' लिखा हुआ मिलता है (ईपीआई इण्डिया 9, 321), 3. धम्म चेती के लेख में 'धर्माशोक' लिखा पाया गया है, (आई ए एक्स एक्स 3), 4. बौद्ध गया में एक ब्राह्मी लेख (1295-1298) प्राप्त हुआ है, इस लेख पर जम्बूद्वीप के अधिपति 'श्री धम्माशोक' जिसने 84000 चैत्यों को बनवाया, लिखा हुआ मिला है (ईपीआई इण्डिया 11, 119), निःसन्देह भारत के पुराने इतिहासज्ञों ने यथार्थ ही अशोक को धर्मराज घोषित किया है।

संक्षेप में भारतीय इतिहास में ही नहीं, वरन् संसार के इतिहास में अशोक

अद्वितीय हैं। अशोक मानव इतिहास के गगन के पूर्णेन्दु हैं, जिनकी शुभ्र कान्ति के सामने असंख्य तारों से टिमटिमाते नृप तथा राजागण गतिहीन प्रतीत होते हैं। राजाओं के सिरमौर होने पर भी चक्रवर्ती राजा अशोक इतने विनम्र थे कि उन्होंने कभी सम्राट आदि राजकीय उपाधियों का अपने नाम के साथ प्रयोग नहीं किया। अभिलेखों में अशोक ने अपने लिये केवल राजा और देवानांप्रिय की उपाधियां ही प्रयुक्त की हैं।



प्रथम अध्याय

1. The Invasion of India by Alexander the Great, McCrindle, p.311
2. Androcottus himself, who was then but a youth, saw Alexander himself and afterwards used to declare that Alexander could easily have taken possession of the whole country since the king was hated and despised by his subjects for the wickedness of his disposition and manners of his origin. (C.A.I. p.199) 'मुद्राराक्षस' में नव-नन्द को पृथ्वी का 'हृदय रोग' कहा गया है, जिस कारण चाणक्य ने उसे समूल उन्मूलित कर दिया - 'समुत्खाता नन्दा नव हृदय रोग इव भुवः' 9 पंक्ति श्लोक 13.अंक
3. "For when by his (Chandragupta's) insolent behaviour he had offended Alexandrum (Alexander) and who was ordered by that king to be put to death. he sought safety by a speedy flight. When he lay down overcome with fatigue and had fallen into a deep sleep, a lion of enormous size approaching the slumberer licked with his tongue the sweat which oozed profusely from his body and when he awoke, quietly took its departure. It was this prodigy which first inspired him with the hope of winning the throne and having collected a band of mercenary soldiers, he instigated the Indians to overthrow the existing government" Classical Accounts of India p.193.fn.1&3, मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पांथरी, पृ- 39
4. कौटिल्य ने भारत के चक्रवर्ती नृपति का क्षेत्र समस्त देश को माना है। स्पष्ट है कि धार्मिक-सांस्कृतिक रूप के साथ-साथ राजनैतिक रूप से भी कौटिल्य समस्त भारत को एक राष्ट्र मानता था, जिस का केवल एक सार्वभौम चक्रवर्ती शासक होना चाहिए। 'चक्रवर्ती क्षेत्र' को पारभाषित करते हुए कौटिल्य अर्थशास्त्र कहता है - हिमवत्समुद्रान्तरमुदी चीनं योजन सहस्र परिमाणम् तिर्यक चक्रवर्ती क्षेत्रम् (9 अधिकरण, 1. अध्याय)।

कतिपय पश्चिमी इतिहासकारों और उन से प्रभावित कुछ भारतीय लेखकों में यह भ्रम व्याप्त है कि प्राचीन काल के भारतीय भारत को एक राष्ट्र अथवा एक राजनैतिक इकाई नहीं समझते थे क्योंकि उनमें तब राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। अतः रोमिला थापर लिखती हैं—“To state, as some historians have done that Chandragupta set out to accomplish the unity of India is largely the result of a prejudice. Since there was no national consciousness then, involving the entire continent. (Asoka and The Decline of The Mauryas. p.16)

ऊपर उल्लिखित कौटिल्य के चक्रवर्ती क्षेत्र की सीमा, उन सब विद्वानों के भ्रम का निराकरण कर देती है जो यह समझते हैं कि प्राचीन भारतीय भारत को एक राष्ट्र अथवा राजनैतिक रूप से एक इकाई नहीं मानते थे। पूरे भारत का एक चक्रवर्ती राजा होना चाहिए, यह राजनैतिक आदर्श अतीव प्राचीन काल से भारत के राजनैतिक मनीषियों के समक्ष सदा मौजूद रहा है। महाभारत व पुराणों में मान्धाता जैसे चक्रवर्ती का उल्लेख है, जिस के राज्य में सूर्य डूबता न था। महाभारत के कथनानुसार—

‘यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति
सर्व तद् यौवनाश्वस्य मांधातुः क्षेत्रमुच्यते’ । 90 ।।

(शांतिपर्व अध्याय 29)।

जहां सूर्य उदय होते हैं, वहां से लेकर जहां अस्त होते हैं, वहां तक का सारा देश युवनाश्वपुत्र मान्धाता का ही राज्य कहलाता था। इसी तरह महाभारत में अनेक ऐसे राजाओं का उल्लेख है जो इस पृथ्वी अथवा भारत राष्ट्र के एकछत्र शासक हुए जैसे उशीनर पुत्र राजा शिवि (‘एक छत्रां महीं चक्रे, शांतिपर्व अध्याय 29 श्रो 40’), दुष्यन्त कुमार भरत (जिसके नाम पर हमारा देश भारत नाम से विख्यात हुआ), समस्त पृथ्वी को दान में देने वाला महाराज दिलीप (वही श्रो.72) आदि। ऐतिहासिक काल में समुद्रगुप्त को समस्त आर्यावर्त व दक्षिण भारत को एकछत्र में समाहित करने के कारण ‘धरणिबंध’ (प्रयाग प्रशस्ति) कहा गया है।

भारतभूमि के प्रति राष्ट्रप्रेम के भाव प्रेरित होकर ही पुराणों में भारत को देवताओं की स्पर्धा भूमि कहा गया है, जिसमें अवतरित होने को आतुर देवगण भारत की स्तुति में यह गीत गाया करते थे—

‘गायन्ती देवा किल गीत कानि
धन्यास्तु ये भारतभूमि भागे
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते
भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्।’

उत्तर रामचरित में महाकवि भवभूति ने जन्मभूमि को 'स्वर्गादयि गरीयसी', स्वर्ग से भी बड़ कर उद्धोषित किया है। ये उद्धरण भारत राष्ट्र की अखंडता और प्राचीन भारतीयों के राष्ट्रप्रेम की चेतना को ही प्रकट करते हैं।

अलक्षेन्द्र के यवन इतिहासकारों ने भी भारतीयों के स्वदेश अथवा राष्ट्रप्रेम तथा उसके हित में सब कुछ न्योछावर कर देने की प्रवृत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। उत्तरा के अनेक परस्पर विरोधी राज्यों और केवल अर्थ (धन) में रुचि रखने वाले (नन्दस्यैवार्थरुचेरथ सम्बन्धः, प्रथम अंक) भ्रष्ट नन्दों के कारण अलक्षेन्द्र के आक्रमण से भारत का जो पराभव हुआ था, उसका कौटिल्य अथवा चाणक्य प्रत्यक्षदर्शी रहा था। अतः भारत को सबल और संपुष्ट करने के लिए यह आवश्यक था कि वह किसी सर्वाभौम सत्ता के अधीन एक राष्ट्र के रूप में गठित हो। प्रत्यक्षतः इस भाव और अर्थ से प्रेरित होकर ही कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विजेता के लिए चक्रवर्ती का आदर्श रखा और प्रवीर चन्द्रगुप्त के माध्यम से इस आदर्श एवं अभीष्ट को मूर्त रूप देने में सफल हुआ।

चन्द्रगुप्त द्वारा भारत को एक राष्ट्र के रूप में गठित किये जाने के कारण मुद्राराक्षस नाटक के भरतवाक्य में यह उद्धोषित किया गया है कि वराह रूप विष्णु भगवान ने जिस प्रकार प्रलय काल में पृथ्वी की रक्षा की थी, उसी तरह म्लेच्छों से पीड़ित पृथ्वी को विष्णु रूप चन्द्रगुप्त (मौर्य) का आश्रय मिला है-

‘वाराहीमात्म योनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां

यस्य प्राग्दन्त कोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।

म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः

स श्रीमदबन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः।’ 19।।

5. The philosophers (ब्राह्मण) gave him no less trouble than the mercenaries, because they reviled the princes who declared for him and encouraged the free states to revolt from his authority. On this account he hanged many of them (The Classical Accounts of India, p.195).
6. The Classical Accounts of India, p.45-116 & Chandra Gupta Maurya And His Times, R.K.Mukerji, p.28
7. When Alexander heard in Karmania that Philip, who had been left in India as satrap, had been treacherously murdered by the mercenaries, he sent orders to Texiles and Eudamos to administer affairs till a new satrap should be appointed- The Invasion of India by Alexander The Great, Mcrrindle p.384.

The king (Alexander) was already advancing into Carmania when tidings reached him that Philippos, the satrap of the Indian country, had been plotted against by the mercenaries and treacherously murdered, on hearing what had occurred he sent a letter to India addressed to Eudemus and Taxiles directing them to assume the administration of the province previously governed by Philippos until he could send a satrap to govern it. (Classical Accounts of India. p. 89-90.)

8. Chandragupta and his Times, p.30 Seleucus Nicator waged many wars in the east after the partition of Alexander's empire among his generals. The first took Babylon, and then with his forces augmented by victory subjugated the Bactrians. He then passed over into India, which after Alexander's death, as if the yoke of servitude had been shaken off from its neck, had put his prefects to death. Sandra Cottus was the leader who achieved their freedom (Classical Accounts of India, p.92-93).

9. यूडेमस ई.पू. 317 के लगभग भारत से लौटा था। पोरस की हत्या के बाद उसके 120 हाथी वह अपने साथ ले गया था। उसके पास 150 अश्वारोही सैनिक भी थे। Classical Accounts of India, p.240 and p.243 fn.5 Camb. History vol.1. p.424. Asoka V.A.Smith, p.12.

विंसेंट स्मिथ के शब्दों में, यूडेमस की विदाई के साथ भारत में यूनानी साम्राज्य की स्थापना के प्रयास का पूर्णरूप से अंत हो गया। यूडेमस ने पोरस की हत्या क्यों की थी, इस पर यवन इतिहासकारों ने विशेष प्रकाश नहीं डाला है। उनके कथनानुसार यूडेमस ने अलक्षेन्द्र के मरने के बाद पोरस की हत्या की थी। यह वह समय था, जब चन्द्रगुप्त के नेतृत्व में भारत ने यवनों के विरुद्ध खुली क्रान्ति कर दी थी। संभव है कि प्रवीर पोरस, जो स्वतंत्रता और भारतीयता का महान पोषक रहा, क्रान्ति छिड़ने पर चन्द्रगुप्त को सहायता पहुंचाता रहा हो। शायद इसी कारण कुपित होकर यूडेमस ने पोरस की हत्या की थी, लेकिन उत्तरापथ पर चन्द्रगुप्त का आधिपत्य हो जाने से यूडेमस के लिए भारत में टिका रहना संभव न रह गया था। इसलिये पोरस की हत्या के बाद वह शीघ्र ही भारत से पलायन कर गया।

10. यह भी अनुमान किया गया है कि यूडेमस ने चन्द्रगुप्त के पक्ष में शायद मगध पर आक्रमण में साथ दिया था। (Camb.His. Vol.I p.424)
11. यह भी अनुमान किया जाता है कि शायद मुद्राराक्षस का पर्वतेश्वर पोरस था, (Camb.His. Vol p.424) किन्तु मुद्राराक्षस के विवरण को देखते हुए पर्वतेश्वर और पोरस को एक स्वीकार नहीं किया जा सकता। पर्वतेश्वर

पाटलिपुत्र में पडयंत्र का शिकार हुआ था और पोरस की हत्या उसके यवन सहयोगी यूथेडेमस ने की थी। परिशिष्ट पर्वन (291-301) के अनुसार पर्वतेश्वर 'हिमवतकूट' का राजा था और चाणक्य ने ही उसके साथ चन्द्रगुप्त द्वारा मैत्री संबंध स्थापित कराया था। जैकोबी ने उसे नेपाल का राजा इंगित किया है। (Camb.His. Vol.I, p.424, Indian Antiquary, vol.xiii p.412)

12. जॉर्ज मैकडोनल्ड के अनुसार शायद चन्द्रगुप्त ने मगध के विरुद्ध यवन (ग्रीक) शस्त्रोपजीवी सैनिकों की सेवाएं भी हासिल की थीं और अपनी सेना को उस ने यूनानी सेना के ढंग पर प्रशिक्षित किया था। (C.A.I. Vol I. p. 286)
13. ' Andracottus, overran and subdued the whole of India with an army of 600,000 wen' Classical Accounts of India p. 198; Lives, Plutarch, p. 90.
14. सिल्यूकश के भारतीय अभियान पर डा. थॉमस लिखते हैं, He (Seleucus) found Chandragupta, now master of all Hindustan, awaiting him with an immense army. For Seleucus the task proved too great: he crossed the Indus but either no battle ensued, or an indecisive one Seleucus was content to secure a safe retirement and a gift of 500 elephants by the surrender of all the Greek dominions as far as the Kabul vally. Upon these terms a matrimonial alliance was arranged (camb.Hist.Vol. I p.387 & 424-25) Asoka, V.A.Smith, p.15. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, भ.प्र.पांथरी, पृ.52-54.
15. मौर्य साम्राज्य का सांस्कृतिक इतिहास, पृ.55-56-57 (Camb.His. Vol.I, p.425) Chandragupta and his Times, pp.38-39
16. Mahavansa, M.Geiger, p.27
मौर्य वंश में प्रसिद्ध महाराज चन्द्रगुप्त हुए, जिन्हें महाक्रोधी ब्राह्मण चाणक्य ने नवें नन्द धननन्द को मरवा कर सकल जम्बूद्वीप का राजा बनाया। महावंश, अनु.भदन्त आनंद कौसल्यायन, पृ.21.
17. 'आ शैलेन्द्राच्छिलान्तः स्खलित सुरनदीशीकरा सारशीता
तीरान्तान्नैकरागस्फुरितमणिरूचो दक्षिणस्यार्णवस्य
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृप शतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चडारलांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गलीरन्ध्र भागाः॥19॥ तृतीय अंक

18. Camb.His. Vol.,I, p.425
19. महावंश, भदंत आनन्द कौसल्यायन पृ.29, पुराणों के अनुसार बिन्दुसार ने 25 वर्ष राज्य किया था। इस आधार पर उसने ई.पू. 297 से 272 तक राज्य किया।
20. J.R.A.S., 1909, p.24
21. बौद्ध गाथाओं के औपन्यासिक अनर्गल विवरण पर प्रकाश डालते हुए विंसेंट स्मिथ लिखते हैं—These fictions, do not deserve serious criticism, Asoka. p.19

सिंहली और बौद्ध गाथाओं की अप्रमाणिकता प्रकट करते हुए प्रो. राधाकुमुद मुखर्जी कहते हैं, Of the two sources of his (Asoka) history, the legends (whether Ceylonese or Indian) rather hover over his early life and tend to retreat before the light of the edicts thrown upon his later life, his career as emperor. The two sources are, again, some times in agreement, but after in conflict, in which case the inscriptions, as personal and contemporary documents, will have to be preferred. Moreover, the legends are themselves at conflict with one another in many places, and they betray themselves all the more. (Asoka, p.2)

22. Mahavansatika, ch.IV, p.125 Mahabodhivamsa, p.98

क्षत्राणी धर्म के कुल का आचार्य जनसेन आजीविक था। इस पर प्रो. राधाकुमुद मुखर्जी कहते हैं कि आजीविकों को अशोक का संरक्षण प्राप्त होने का यही कारण था किन्तु अशोक के अभिलेखों के विवरण से प्रकट है कि अशोक सभी पापों अथवा सम्प्रदायों का, अपना कर्तव्य व धर्म समझ कर, आदर व पूजा करता था।

23. महावंश, हिन्दी अनु.5 परिच्छेद, पृ.29
24. वही, पृ.22, Asoka, V. Smith, p.220 ff
25. दिव्यावदान में उल्लेख है कि भगवान बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि अशोक नाम का एक धार्मिक राजा होगा, जो उनके अस्थि-अवशेषों को चौरासी हजार 'धर्मराजिकाओं' अर्थात् स्तूपों में स्थापित करेगा। (Divyavadana ch.XXVI, p.368)

महावंश में कहा गया है कि पूर्व जन्म में अशोक 'मधु' (शहद) विक्रेता था। उसने तब एक सम्बुद्ध को पात्र भर कर मधु दान दिया था, जिसके फल से वह अगले जन्म में सार्वभौम राजा हुआ। (प्रकरण पांच, पृ.22-23)

फाह्यान ने भी अशोक के पूर्व जन्म की गाथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि पूर्वकाल में बालक अशोक रास्ते में खेल रहा था, तभी शाक्यमुनि बुद्ध भिक्षा के लिए उधर से निकले। बालक अशोक ने खेल में मिट्टी भर मिट्टी लेकर दान रूप में बुद्ध को दिया। बुद्ध ने मिट्टी ली और भूमि पर डाल दी और फिर वहां बैठ कर समाधि में लीन हो गये। इसके प्रतिफलस्वरूप वह लड़का चक्रवर्ती हुआ, जिसने संपूर्ण जीव जगत पर राज्य किया। Formerly when king Asoka was a boy and was playing in the road, he met Shakyamuni Buddha who was out begging for food. The boy, for fun, took up a handful of mud and gave it to him as alms. Buddha received it and put it back on the ground where he pace in meditation, and as a reward for this, the boy was made an iron wheel king and ruled over the inhabited world. Travels of Fa-Hsuin, H.A. Giles. p.56.

इत्सिंग ने एक गाथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि अशोक के चक्रवर्ती राजा होने की भगवान बुद्ध ने अपने जीवनकाल में भविष्यवाणी करते हुए कहा था कि मेरे निर्वाण के सौ से कुछ अधिक वर्षों के बाद अशोक नाम का राजा होगा जो समस्त जम्बूद्वीप पर शासन करेगा। (I-ting, Takakusu..p.14).

26. Divyauadana; Asoka, V.A. Smith, pp.221-223

27. सिंहली गाथाओं को सही मानने के आधार पर राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच चार वर्ष का अंतराल स्वीकार करते हुए प्रो.मुखर्जी लिखते हैं - "There was an interval of about four years between his accession to the throne and formal coronation, if we may believe in the Ceylon chronicles. The hypothesis about a contested succesion might perhaps explain this. The fact of an interval existing between his accession and coronation seem to be indicated in a way in the edicts which the king is always careful to date from him abhiseka, coronation, as if to ensure that it should not be confused with acceesion. The edicts also date from the coronation, the events of his reign. (Asoka, p.11).

इसके प्रतिवाद में डा.भंडारकर का नीचे लिखा कथन द्रष्टव्य है- अपने अभिलेखों में अशोक जब कभी कोई गिनती देता है, तब वह वर्षों की गणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है। इसके कारण विद्वान लोग सिंहल की इस किंवदन्ती को सत्य मानने लगे हैं कि अशोक का अभिषेक उसके राज्यारोहण के

चार वर्ष बाद हुआ। पर यह किंवदन्ती यह भी बताती है कि अशोक ने पिता की मृत्यु के बाद अपने निन्यानवे भाइयों का वध करके सिंहासन प्राप्त किया और सिर्फ एक सब से छोटे भाई तिष्य को जीवित छोड़ा, पर उसके शिलालेख इस बात का खंडन करते हैं। इनमें उनके न केवल एक बल्कि कई भाइयों का उल्लेख है, 'जो जीवित हैं' और जो न केवल उसकी राजधानी पाटलिपुत्र में है 'बल्कि उसके साम्राज्य के विभिन्न नगरों में भी हैं।' और यदि यह बात सिद्ध हो जाती है, तो यह समझ में नहीं आता कि किंवदन्ती के उस भाग को क्यों सत्य माना जाय जो उस का अभिषेक उसके राज्यारोहण के चार वर्ष बाद हुआ बताता है। असल में यह बात जरा भी स्पष्ट नहीं कि यदि वह कुछ घटनाओं की तिथि-गणना अपने राज्याभिषेक के समय से करता है तो यह कैसे सिद्ध हुआ कि उसके राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच कुछ समय का व्यवधान था। फिर नागार्जुनी पर्वत की गुफाओं में कम से कम तीन लेख ऐसे हैं, जिन पर अशोक के पोते दशरथ के राज्याभिषेक के तुरन्त बाद से तिथि गणना है। तो क्या यहां भी हम यह कल्पना करें कि क्योंकि इन अभिलेखों की तिथिगणना में दशरथ के अभिषेक का जिक्र है इसलिए अभिषेक और आरोहण एक ही समय में नहीं हुए और उन दोनों के मध्य कुछ व्यवधान अवश्य रहा होगा? इसलिए यह मानने के लिए कोई पुष्ट कारण नहीं है कि अशोक के राज्याभिषेक और राज्यारोहण के बीच चार वर्ष जैसा लम्बा व्यवधान रहा था। (अशोक, हिन्दी अनुवाद, पृ.9-10)

28. फाह्यान और ह्वेनसांग ने भी अशोक द्वारा नरक के निर्माण की किंवदन्तियों का उल्लेख किया है। उनके विवरण से ही प्रकट है कि किंवदन्तियां गल्प मात्र हैं। फाह्यान लिखता है कि सम्राट होने पर अशोक ने अपने राज्य का दौरा किया। उसने लोहे की दीवारों जैसी दो पहाड़ियों के बीच पापियों को दण्ड देने के लिए नरक देखा। उसने अपने साथ के लोगों से पूछा - 'यह क्या है?' उत्तर था - 'यहां पर शैतानों का राजा यम पापियों को दण्ड दिया करता है।' अशोक ने सोचा कि यदि शैतानों का राजा पापियों को दण्डित करने के लिए नरक बना सकता है, तो मैं मनुष्यों का शासक पापियों को दण्ड देने के लिए क्यों न नरक का निर्माण कराऊं। तब उसने अपने साथ वालों से पूछा 'मेरे लिये कौन नरक बना सकता है और पापियों को दण्ड देने का काम कर सकता है?' 'कोई बहुत दुष्ट आदमी ही यह कर सकता है'- उन्होंने उत्तर दिया। अतः राजा अशोक ने चारों ओर दुष्ट आदमी को खोज निकालने के लिए कर्मचारी भेजे। उन्होंने एक नदी के किनारे एक कृष्ण वर्ण, पीत केश और हरी आंखों वाले एक लंबे-तगड़े आदमी को देखा। वह अपने पैरों से कांटे की तरह मछली पकड़ता था और मुंह से सीटी बजा कर पशु-पक्षियों को बुलाता और जब वे उसके पास पहुंचते तो वह तेजी के साथ

उन्हें मार डालता था। एक भी बच कर न निकल पाता। इस आदमी को वे राजा के पास ले गये, जिसने उसे गुप्त रूप से निर्देश दिया कि 'एक चौकोर जगह को ऊंची दीवारों से घेरो और उसमें सब प्रकार के फूलों-फलों के वृक्ष लगाओ, स्नान के लिए सुंदर सरोवर बनाओ, उसे पूरी तरह से ऐसा सजाओ कि देखने वाले देर तक उसे देखा करें। उसमें एक मजबूत प्रवेश द्वार रखो और जब कभी कोई उसके अंदर घुसे, तो पकड़ लो और दंडित करो। उसे बाहर न निकलने दो। यदि अंदर जाते हुए तुम मुझे पकड़ो, तो मुझे भी उसी तरह दंडित करो और मुझे बाहर न निकलने दो। मैं तुम्हें अब नरक का अधीक्षक नियुक्त करता हूँ।'

संयोग से एक साधु, जो भोजन के लिए भिक्षाटन पर जा रहा था, प्रवेश द्वार में घुसा और जेलरों ने उसे दण्ड देने के लिए तुरन्त पकड़ लिया। साधु ने भयभीत होकर कहा, मुझे कुछ क्षण दो ताकि मैं अपना दोपहर का भोजन कर सकूँ। उसी समय एक दूसरा आदमी अंदर घुसा और नरक के सेवकों ने उसे पकड़ कर ओखली में डाल कर ऐसा कूटा कि उसके मुंह से खून निकलने लगा। साधु ने यह देख कर विचार किया कि उसका शरीर नाशवान है और बुलबुले की तरह उस में कोई वास्तविकता नहीं है। यह सोच कर वह सहसा अर्हंत हो गया। जेलरों ने जब उसे खौलते हुए पानी में डाला तो साधु का हृदय अत्यंत प्रसन्न था, आग बुझ गयी, गरम पानी ठंडा हो गया और उसके बीच में एक कमल पुष्प उग आया, जिस पर साधु आसीन हुआ। नरक के जेलर इस विचित्र घटना को सुनाने राजा के पास पहुंचे और उससे स्वयं चल कर देखने की प्रार्थना की, लेकिन राजा ने कहा कि मैंने पहले एक शर्त रखी थी और अब मैं जाने का साहस नहीं कर सकता। इस पर सेवकों ने उत्तर दिया यह साधारण बात नहीं है, महाराज को पहले की शर्त बदल कर तुरन्त चलना चाहिए। अतः राजा वहां गया और साधु ने उसे धर्म (बौद्ध धर्म) पर प्रवचन दिया। वह तब धर्म को मानने लगा और विनाश से बच गया। इसके बाद उसने नरक को नष्ट कर दिया और अपने पहले के पाप-कर्मों के लिए पश्चाताप किया। तब से वह त्रिरत्नों पर पूरी आस्था रखने लगा और नियमित रूप से रोज अपने दुष्कर्मों पर पश्चाताप करने के लिए बोधि वृक्ष के पास जाने लगा। (Travels of Fa-Hsian, H. A. Giles. p.57-58)

ह्वेनसांग के विवरण में अशोक को राजा बिम्बसार का परपोता कहा गया है और उसका समय बुद्ध के निर्वाण के सौवें वर्ष में रखा है। पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए उसने लिखा है, राजा के प्राचीन प्रासाद के उत्तर में दसियों फीट ऊंचा एक पाषाण स्तम्भ है, वह वही स्थान है जहां पर अशोक ने नरक बनवाया था। (उज्जैनी का वर्णन करते हुए ह्वेनसांग ने नगर के समीप एक स्तूप का उल्लेख किया है, जहां पर वह कहता है कि अशोक ने नरक बनवाया था Records of

Western countries. Vol. II, Beal. p. 271)। तथागत के निर्वाण के सौवें वर्ष अशोक नाम का राजा हुआ जो बिम्बसार का परपोता था। उसने राजगृह की जगह पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया। प्रारम्भ में अशोक जब राजा हुआ, तो उसने बड़ी क्रूरता की। उसने मनुष्यों को दुख देने के लिए नरक का निर्माण करवाया। उसने उसे ऊँची दीवारों और बुर्जों से घिरवाया। वहाँ उसने गलायी हुई धातुओं की भट्टियाँ बनवाई, तेज हंसिया और वे सब हथियार रखे जो नरक में हुआ करते हैं। उसने एक पापी को नरक का स्वामी नियुक्त किया। पहले राज्य भर के अपराधी इस नरक को सौंपे जाते थे और बाद में जो कोई भी उधर से जा निकलता पकड़ लिया जाता और मार दिया जाता था। कोई भी बच कर निकल नहीं सकता था।

एक बार, एक श्रमण भिक्षा मांगता हुआ नरक के द्वार पर जा पहुँचा। नरक के अधीक्षक ने उसे मार डालने को पकड़ लिया। भयभीत श्रमण ने थोड़ा समय पूजा-अर्चना के लिए मांगा। उसी समय उसने रस्सी से बंधे एक आदमी को नरक में आते देखा। क्षण भर में ही उन्होंने (नरक के जेलर ने) उसके हाथ-पैर काट डाले और एक ओखली में उसके शरीर को कूच डाला।

यह सब देख कर श्रमण का हृदय करुणा से भर उठा और अनित्यता की अनुभूति कर वह अर्हत-पद को पहुँच गया। तब नरक के अधीक्षक ने कहा, अब तुम्हें मरना होगा। श्रमण, जो अर्हत हो गया था, जब खौलते कड़ाह में डाला गया तो वह उसे झील की तरह लगा और उसकी सतह पर एक कमल पुष्प उग आया, जिस पर वह बैठ गया। यह देख कर नरक अधीक्षक डर गया और उसने तत्काल दूत भेज कर राजा को सूचना दी। राजा ने आकर चमत्कार देखा और मुखरित होकर उसकी प्रशंसा की। नरक अधीक्षक ने राजा से कहा, 'महाराज, आपको मरना होगा।' राजा ने कहा, क्यों? 'क्योंकि आप ने आदेश दिया था कि जो कोई भी नरक के भीतर आयेगा, मार डाला जायेगा। यह नहीं कहा गया था कि राजा आयेगा, लेकिन मारा नहीं जायेगा।' राजा ने कहा, 'आदेश अवश्य दिया गया था किन्तु जब शासन प्रेषित हुआ, क्या तुम्हें उससे पृथक् रखा गया था। तुमने बहुत दिनों तक प्राणियों की हत्या की है। मैं इस का अंत करूँगा।' तब राजपुरुषों को आज्ञा देकर नरक अधीक्षक को खौलते कड़ाह में डाल दिया गया। उस के मर जाने पर राजा ने नरक को नष्ट कर क्रूरता के साथ दण्ड दिये जाने का अंत कर दिया (Beal. II, p. 87)

29. महाबोधि वंश में इस रानी को विदिशा महादेवी और शाक्यानी अथवा शाक्य कुमारी कहा गया है क्योंकि वह शाक्य कुल में उत्पन्न हुई थी। महावंश, त्रयोदश परिच्छेद, पृ. 64, ह्वेनसांग ने महेन्द्र को अशोक का सौतेला भाई बताया है, (Si-yu-ki-Vol. II p. 91 and fn. 27)

30. The chief queen in the ceylon records named Asandhimitra, may possibly have been the heroine of Asoka's youthful romance as viceroy of Ujjain, the lovely maiden named Devi of Vidisa, mother of Mahendra and Sanghamitra (C.H.I. Vol.I .p.450)
31. महावंश, 5 परिच्छेद पृ.23 और 20 परिच्छेद पृ.98 फाह्यान ने अशोक की रानी द्वारा बोधि वृक्ष के नष्ट किये जाने की किंवदन्ती का उल्लेख करते हुए लिखा है कि राजा (अशोक) नित्य बोधि वृक्ष की पूजा करने जाता था। रानी ने दरबारियों से पूछा कि राजा बहुधा कहां जाता है तो उन्होंने उत्तर दिया वह ज्यादातर बोधि वृक्ष के पास रहता है। अतः रानी ने बोधि वृक्ष को काट डालने के लिए आदमी भेजे। जब अशोक ने सुना तो दुख से मूर्च्छित हो जमीन पर गिर गया। प्रकृतिस्थ होने पर उसने बोधि को चारों ओर से ईंटों से घिरवा दिया और दूध के सौ घड़ों से उसकी जड़ों को सिंचवाया। परिणामतः जड़ों से बोधि वृक्ष पुनः पल्लवित हो उठा। (The Travels of Fa-Hsui p.58-59)

ह्वेनसांग ने भी बोधि वृक्ष से सम्बंधित गाथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि बौद्ध होने से पूर्व (ब्राह्मणों के प्रभाव में) अशोक ने स्वयं बोधि वृक्ष को कटवा कर जलवा डाला था, लेकिन धधकती आग में उसने देखा कि बोधि वृक्ष द्विगुणित होकर लहलहा रहा है। इस चमत्कार को देख कर अशोक को अपने कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। उसने तब जलाये गये बोधि वृक्ष की जड़ों को सुरभित दूध से सिंचवाया और दूसरे ही दिन बोधि वृक्ष पूर्ववत् खड़ा हो गया। अशोक बोधि वृक्ष की पूजा में ऐसा निमग्न रहने लगा कि महल लौटना तक भूल जाता था।

अशोक की रानी ने, जो विधर्मी (ब्राह्मणधर्मी) थी, गुप्त रूप से आदमी भेज कर रात्रि के प्रथम पहर में बोधि को फिर से कटवा डाला। सुबह जब अशोक बोधि की पूजा को गया, तो उसे नष्ट हुआ देख बहुत दुखी हुआ। उसने बहुत विनयपूर्वक बोधि की पूजा की जड़ों को सुगंधित दूध से सींचा और एक दिन से भी कम समय में बोधि पुनः यथावत् हो गया। इस चमत्कार से राजा ने श्रद्धा से उद्बलित हो उसे दस फीट ऊंची ईंटों की दीवार से घिरवा दिया। (Si-yu-ki, Vol-II, p.117-118)

फाह्यान और ह्वेनसांग ने यद्यपि रानी का नाम नहीं दिया है, किन्तु स्पष्टतः रानी से अभिप्राय रानी तिष्यरक्षिता से है, जिसे बौद्ध गाथाओं में अनर्थकारिणी और बौद्ध धर्म विद्वेषी चित्रित किया गया है। रानी तिष्यरक्षिता अबौद्ध अथवा ब्राह्मण धर्म को मानने वाली थी। शायद ब्राह्मणधर्मी होने से ही उसे क्रूरकर्मा सिद्ध करने के लिए उसके संदर्भ में ये गाथाएँ गढ़ी गयी थीं। बौद्ध होने से पूर्व के ब्राह्मण धर्मी अशोक पर भी बोधि को काटने का आरोप लगाया गया है। इन गाथाओं का उद्देश्य शायद

ब्राह्मणों का बौद्धों के प्रति विद्वेष प्रकट करना था और इसीलिये प्रतीत होता है कि ये गाथाएं प्रचारित की गयी थीं। अतः तिष्यरक्षिता द्वारा बोधि को नष्ट करने की घटना को ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

गाथाओं की तिष्यरक्षिता की तुलना कुछ विद्वान कारुवाकी से करते हैं। उन का कहना है कि कारुवाकी रानी का मूल नाम था और तिष्यरक्षिता नाम उसने अग्र महिषी होने पर धारण किया था, लेकिन इस के समर्थन में इन विद्वानों ने कोई वास्तविक अथवा ठोस प्रमाण नहीं दिये हैं। रोमिला थापर अभिलेख में कारुवाकी को द्वितीय रानी कहने से यह निष्कर्ष निकालती हैं कि वह द्वितीय अग्र महिषी थी। अभिलेख में कारुवाकी को केवल द्वितीय कहा गया है, जिस का स्पष्ट भाव व अर्थ यह है कि अग्रमहिषी के बाद कारुवाकी दूसरी रानी थी। कारुवाकी द्वारा अपने दान-कार्यों को अभिलेख में उल्लेखित किये जाने के अनुरोध को भी वे उसके तिष्यरक्षिता होने का प्रमाण समझते हैं क्योंकि रोमिला थापर के अनुमान में ऐसा अनुरोध गाथाओं वाली तिष्यरक्षिता ही कर सकती थी। कारुवाकी का अपने नाम से दान का उल्लेख करने का अनुरोध एक सामान्य बात थी, जिससे यह निष्कर्ष निकालना नितान्त असंगत है कि ऐसा गाथाओं वाली तिष्यरक्षिता ही कर सकती थी। निष्कर्षतः तिष्यरक्षिता और कारुवाकी को एक नहीं माना जा सकता, जैसा कि रोमिला थापर मानती है, "It has been suggested that Karuvaki was in fact the personal name of the queen Tissavakkha and that she assumed the latter name on becoming chief queen. (इस सुझाव के लिए लेखिका प्रो. वाशम को श्रेय देती हैं, लेकिन सुझाव के लिए आधार क्या है, इसका उल्लेख नहीं किया गया है) (The reference to her being the second queen would agree with the fact that Tissarakkha was the second chief queen. It would Certainly fit the character of Tissarakkha to demand that all her donations be recorded (Asoka and the Decline of the Mauryas, p.30) यहां पर यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अभिलेख में उल्लिखित कारुवाकी एक दानशीला रानी थी और तिष्यरक्षिता गाथाओं में विनिन्दित एक क्रूरकर्मी और भ्रष्टधर्मा व्यक्ति थी।

ह्वेनसांग उल्लिखित गाथा में कुणाल मुख्य रानी का पुत्र कहा गया है। चीनी यात्री की किंवदन्ती है कि कुणाल की माता (नाम नहीं दिया गया है) का स्वर्गवास होने पर उसकी जगह जो उत्तराधिकारिणी हुई, वह अत्यंत भ्रष्ट और अनैतिक थी। इस रानी ने युवक कुणाल से प्रणय-संबंध करना चाहा, जिसे उसने अधर्म कह कर स्वीकार नहीं किया। इस पर रानी (कुणाल की सौतली माता) कुणाल पर कुपित हो चली और उससे प्रतिशोध लेने के लिए षडयंत्र रचने लगी। उसने राजा (अशोक)

से कह कर कुणाल को तक्षशिला का उपराज (गवर्नर) नियुक्त कराया और कुछ समय बाद गुप्त रूप से राजा के दांतों से मुद्रित एक आज्ञापत्र तक्षशिला के मंत्रियों को प्रेषित किया, जिसमें कुणाल की दोनों आंखें फोड़ डालने का राजा की तरफ से आदेश अंकित था। कुणाल को जब इस आदेश का पता चला, उसने अपने पिता राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर स्वयं एक चाण्डाल द्वारा अपनी आंखें फुड़वा दीं। कुछ समय बाद वह और उसकी पत्नी (कंचनमाला) भीख मांगते घूमते-फिरते पाटलिपुत्र जा पहुंचे। एक दिन रात के अंतिम प्रहर में कुणाल बांसुरी पर दर्द भरा गीत गा रहा था। राजा अशोक ने बांसुरी के मधुर स्वर और गीत के कारुणिक स्वरों को सुना तो उसे लगा कि गायक उस का लड़का कुणाल प्रतीत होता है। राजा ने परिचारक भेज कर उस गाने वाले को बुला भेजा। अंधे कुणाल को राजा ने तुरंत पहचान लिया और प्यार से उसे गले लगाया। जब राजा ने जाना कि कुणाल की यह दशा दूसरी मुख्य रानी ने की है, तो उसने रानी को मरवा डाला। (Si-yu-ki, Vol-II, p.139-142)

ह्वेनसांग के विवरणानुसार कुणाल की माता (पदमावती) प्रथम मुख्य रानी थी और दूसरी मुख्य रानी, जिसने कुणाल की आंखें फुड़वायीं, वह तिष्यरक्षिता थी (Divyavadana, Burnof, introduction, p.183, Asoka, V. Smith, p.234-239) स्मिथ संधिमित्रा और तिष्यरक्षिता की गाथाओं को ऐतिहासिकता से रिक्त मानते हैं। The legends about Asandhimitra and Tishyarakshita are of no historical value (Asoka p.193, fn.3)

व्रज और विनीत के अर्थ के सन्दर्भ में देखिए - अशोक, भण्डारकर; अशोक के अभिलेख, राजबली पाण्डेय, पृ.9, टिप्पणी 1 व 2, Asoka, Mukherjee, p.145, fn. 3.4.

32. वनपर्व आठवां अध्याय, पृ. 1139, हिन्दी महाभारत इ.प्रे.

33. Festius, Senart p.50

34. द इनवेज़न ऑफ इण्डिया, पृ. 327-28

35. J.R.A.S.p. 93

36. Si-yu-ki, S.Beal, Vol-II, p.207-8

37. Fragsn, I., VI

दूसरा अध्याय

1. महावंश प्रकरण. 5
2. Legge's p.69
3. इन राज्यों का महाभारत में भी उल्लेख आया है, महाभारत शान्ति पर्व 65 अध्याय, 17 श्लोक, यवना, गांधारा, हयवाश्चान्ध भद्रकाः (आन्ध्र) पुलिन्दा, कम्बोजा ।
4. R.K.Mookerjee, Ashoka-p.168
5. अशोक की धर्म लिपियाँ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
6. दक्षिण में आन्ध्र और सातवाहन काल के लेखों में महारथी और महाभोज सामन्तों के रूप में उल्लिखित हैं ।
7. Rudradaman's Inscription- Ep. Ind.VIII p.46-7
8. विजित, तेरहवां शिलालेख
9. Kautilya Arthashastra - R.Shama Shasti - Book. II,Ch.I.46
10. अन्ता-प्रत्यन्तेषु, अन्त-प्रत्यन्त, सीमान्त-प्रदेश (प्रदेशों)
11. J.R.A.S. 1919, p.564.
12. R.K.Mookerjee, Ashoka-p.132
13. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण 16,1, (शाम शास्त्री)
14. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण 5 ग्रंथ भाग 1, 16वां, (शाम शास्त्री)
15. J.R.A.S. 194, P. 944-45
16. Ancient India and Invasion of Alexander, p.409, McCrindle.
17. Pliny
18. कलिंग शिलालेख द्वितीय (जौगुडा)
19. Appianus says, '(Seleucus) crossed Indus and waged war on Sandracottus, king of the Indus, who dwelt about it, until he made friends and entered into relation of marriage with him.
20. Ancient India by Megasthenese and Arian p.7

21. J.R.A.S. 1914, ch. XVI, p.345
22. Oxford History 1913, p.28
23. Mahavamsa, George Turnour, ch.V
24. यह गलत सिद्ध हो चुका है (देखिए प्रथम प्रकरण, इसी पुस्तक में)



तीसरा अध्याय

1. Ancient India by Megastheuese and Arian. Mc.crinde p. 86-87
2. देखिए भण्डारकर, अशोक पृ.55-57
3. Ep. India,VIII p.46-47
4. Senart, 1, p.78, Buhler, Z.D.M.G. xxxvii p.106,8
5. J.R.A.S. p.384-5,1914
6. Z.D.M.G.xxxvii, 106
7. भण्डारकर, अशोक, पृ. 59
8. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रकरण-35, भाग-2, श्लोक 242
9. जनार्दन भट्ट, अशोक, पृ.129
10. Ep. Indica-vol ii, p.4664
11. J.R.A.S. 1914, The edicts of Ashoka
12. Childes; R.K.Mukerjee's Ashoka, p.1334
13. चतुर्थ स्तम्भ लेख
14. व्यवहार-समता तथा दण्ड-समता के भंग करने पर रज्जुक को नगर व्यवहारिकों के शासन कार्य की भी देखभाल करनी पड़ती थी, जिससे फिर कभी न्याय एवं दण्ड-समता भंग न हो सके।
15. अशोक की धर्म लिपियाँ, काशी नागरी प्रचारिणी सभा
16. कौटिल्य अर्थशास्त्र, पृ.60
17. भण्डारकर, अशोक, पृ. 62
18. देखिए - द्वितीय शिलालेख, छठवाँ शिलालेख, सातवाँ स्तम्भ लेख, दूसरा स्तम्भ लेख।
19. J.R.A.S. p.386, 1814
20. देखिए - कौटिल्य अर्थशास्त्र, 2-46
21. कौ अर्थ ग्रंथ भाग प्रथम, प्रकरण-15
22. शान्तिपर्व, राजधर्म, प्रकरण-56
23. देखिए, पृथक कलिंग शिलालेख, प्रथम, द्वितीय, 'सर्व मुनीषि मि प्रजा'
24. कालसी, 6वाँ शिलालेख। यूरोप के मध्ययुगीन राजशास्त्र के आचार्य ओटो

गियर्के ने भी राज्य के कर्तव्यों में प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति को सम्मिलित किया है। उनका कथन है-

Spiritual Aim of the state - Marsilius

Patavinus of Maynardina (14th century) 'ascribes to the state for the benevivere on earth and in heaven, and therefore a widely extended care for morals and general welfare.' (cf. Ashoka's spiritual aim and care for the moral of his people).

Ashoka's inscriptions first came to notice towards the close of the 18th century.

The task of reading the inscriptions was accomplished in A.D.1837 by Prinsep.

- Political Theories of the Middle Ages, by Dr. otto Gierke.p.140

25. Sir John Strachey- India, ch.xiv
26. Horule studies in the Muedicine of Ancient India.
27. Surgical instruments in Ancient India.
28. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 10
29. शिलालेख छठवाँ
30. स्तम्भ लेख सातवाँ



चौथा अध्याय

1. महावंश प्रकरण, 5, जी.टर्नर
2. महावंश प्रकरण, 4
3. चीनी भाषा में उपगुप्त को यु-पो-कीयू-टो नाम दिया है और जापानी में उवकिक्ता लिखा है। जन्म से वह शूद्र था, सत्रह वर्ष की आयु में वह संघ में सम्मिलित हुआ। तीन साल पश्चात वह अर्हत हुआ। इसी समय उसने 'मार' विजय की। दक्षिणी गाथाओं (बौद्धों) में उपगुप्त नहीं पाया जाता है किन्तु उत्तरी बौद्ध सुवस्कुल ने उसे अशोक का समकालीन बताया है।
4. J.R.A.S. 491-496 (1908)
5. Ibid.
6. J.R.O.B.S. vol IV, p.146
7. R.K. Mukerjee, Ashoka, p.153, N.4
8. महायति-पूजा
9. J.R.A.S. 475, 1908
10. यह धारणा कि सम्राट (अभिषेक के) 30वें वर्ष बौद्ध हुए थे- जेम्स फ्लीट की है।
11. भाबरू या बैराट शिलालेख - नं. 2
12. J.R.A.S.1913, p.3077
13. Majjhima,iii, R.P. 37-45
14. J.R.A.S. 1915, p.809
15. शिलालेखों को पढ़ कर कोई यह नहीं कह सकता कि सम्राट सारभूत सिद्धांतों के उपासक न थे। धर्म का जहां कहीं भी उल्लेख आया है, सब जगह सिद्धांत रूप में 'सार' उनका प्रिय शब्द है।
16. S.B.S.I. 104 यह सन्दर्भ डा. वड़थ्वाल की पुस्तक The Nirguna Philosophy of Hindi Poetry से लिया गया है।
17. देखिए गौण शिलालेख प्रथम, मास्की और रूपनाथ - इनमें अशोक अपने को 'शाक्य', बौद्ध शाक्य कहता है। (Hultz)।
18. भण्डारकर, अशोक-पृ.96

पाँचवा अध्याय

1. 'सौ पापन को मूल है एक रुपया रोक, साधूहू संग्रह करै, हारे हरि सा थोक'- (कवीर)। सम्भवतः यही विचार सम्राट का रहा होगा।
2. 'साईं इतना दीजिए जामें कुटुम समाय,
मैं भी भूखा ना रहूं, साधु न भूखा जाय।' - कवीर
3. Cambridge History, I, p. 505
4. 'जेते औरति मरदां कहिए, सब में रूप तुम्हारा' - कवीर का यह पद सम्राट के भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति करता है।
5. 'हस्ति देख भ्रम ते भूला, हरि भगवान न जाना' - कवीर ग्रंथावली
6. 7वां स्तम्भ लेख - 5वां शिलालेख
7. भण्डारकर-अशोक, पृ.116
8. J.R.A.S.
9. Rhys David's Buddhism, p.190
10. परलोक बहुत से शिलालेखों में आया है, कलिंग शिलालेख 1; स्तम्भ लेख 1, 4, 7, और शिलालेख - 6, 9,10,13, 11वें से सम्राट का आत्मा की अमरता पर विश्वास करना सिद्ध होता है (अन्तंत्यं पुन्यं प्रसवति)।
11. R.K.Mukerji's Ashoka p.65,66
12. यही कारण है कि आज बौद्ध धर्म, भारतीय होने पर भी भारत में नहीं पाया जाता।
13. सम्राट के शिलालेखों की शैली से स्पष्ट है कि अशोककालीन विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर विरोध रहा करता था। 'देवेन प्रिये प्रियदशी रज सव्रत्र इच्छति सव्र पषड वसेयु (7वां स्तम्भ लेख)। इसी प्रकार 12 वां शिलालेख कहता है कि 'किसी की निन्दा न करो, किन्तु सबकी सारबुद्धि हो, ऐसा उपक्रम करो, 'देवेन प्रिये मगति अथति किति सलवडि, सिप सव्र पषडन ति सलवुडि तु बहुविध तचु इय मुले अं बचुगति, अत प्रषंडपुज व परषडगरह व नो सिय अपकरणासि नहुक व सिप वसि।'।
14. देखिए- आर.के.मुकर्जी, अशोक, पृ.66

छठा अध्याय

1. Cambridge History, I, p.505
2. भण्डारकर - अशोक, पृ.140
3. शंकराचार्य ने सर्वप्रथम इसकी ऐसे भाव में व्याख्या की थी।
4. मतमयेसु (गिरनार), भट भयेसु (कालसी), भट मयेसु (शहवाजगढ़ी) और मानसेहरा-भट या भीट-भृत्य और अयेसु या अयेसु-आर्य अथवा स्वामी।
5. वंभनिभेसु (कालसी), ब्रमणिभेसु (शहवाजगढ़ी और मानसेहरा), वंभन या ब्रह्मण-ब्राह्मण और इभेसु या इभेसु - इभय (इभयों) अथवा क्षत्रिय, इभय से वैश्य व गृहपति अर्थ भी लिया जाता है। इस शब्द के अर्थ के लिए देखिए Basak, Asokan Inscriptions p.29 fn.12; अशोक के अभिलेख, डा. राजबली पाण्डेय, पृ.48, टिप्पणी-2; अशोक (हिन्दी) भंडारकर पृ. 184
6. विंसेंट स्मिथ ने धर्मयुक्तों का अर्थ धर्म के सहायक अधिकारियों से लिया है- Subordinate officials of the law of piety, Asoka, p.162
डा. राजबली पाण्डेय ने भी धर्मयुक्तों को दान संबंधी कार्यों का निरीक्षण करने वाले कर्मचारी माना है। अशोक के अभिलेख, पृ.27
डा.भंडारकर धर्मयुक्तों से अभिप्राय धर्म से युक्त लोगों (धर्म में रुचि रखने वाले लोग) लिया है, अशोक पृ.291, यही अर्थ (Devotees to Dhamma) रोमिला थापर ने भी किया है- Asoka and the Decline of the Mauruyas, p.252
राम प्रकाश ओझा भी धर्मयुक्तों से अभिप्राय 'धर्मयुक्त लोगों' समझते हैं।
-अशोक पृ. 138
7. 'ते तु तद् ब्रह्मणः स्थानं प्राप्नुवन्तीह सात्तिकाः।
नैव ते स्वर्गमिच्छन्ति न यजन्ति यशोधनैः॥25॥
सतां वर्तमानुवर्तन्ते यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतानोषधीश्च फलं मूलं च ते विदुः।' ॥26॥ शांति पर्व अध्याय-263
8. Mc Crindle, Ancient India, Megasthenese and Arian, P.107
9. देखिए- Buddhism and its Christian critics, p.215-216
Also see V.A.Smith's Early History of India, 3rd Ed., p.188
10. Lb. xii, 1-8
11. शिलालेख पांचवें में इसका उल्लेख आया है।

12. महिषमंडल दक्षिणी मैसूर था, शिलालेख द्वितीय में आये हुए सत्यपुत्र इसी प्रदेश के थे। (J.R.A.S. 1966-p.8,39)
13. पांचवें और 13वें शिलालेख में इसका उल्लेख आया है।
14. शिलालेख पांचवें में पैटानिकों को अपरन्ता निवासी कहा गया है।
15. सम्भवतः 13वें शिलालेख में उल्लिखित नाभक या नाभपन्ति ही हिमालय निवासी लोग थे।
16. शिलालेख पांचवां, 13वां, विंध्याचल के पास बसे हुए आन्ध्र और पुलिन्द तथा राष्ट्रिकों का प्रदेश।
17. शिलालेखों में दक्षिणी प्रदेशों, जहां धर्म प्रचारक गये थे, उनका नाम स्पष्टतः चोड़, पांड्य, सत्यपुत्र और केरलपुत्र दिया है।
18. ह्वेनसांग द्वारा वर्णित बंगाल का सुवर्ण प्रदेश या सोन नदी (हिरण्यपाद सुवर्ण वाहिनी) पर स्थित था।
19. List of Missionaries sent out by Ashoka, J.R.A.S. 1908,p.8, tableIV.
20. सर्प का निदर्शन (अंगुत्तरा, पृ.110-111)
21. 'देवताओं के दूतों का संलाप', इस सुत्त में वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु का यम के दूतों के रूप में वर्णन किया गया है। (मज्झिमा 3, पृ.178,187 और अंगुत्तरा 1, पृ.238-142)
22. कहा जाता है कि बुद्ध भगवान ने कालकाराम नामक स्थान पर इस सुत्त का उपदेश दिया था।
23. धम्म का जाल, देखिए-दिग्गनिकाय, पृ. 1,॥
24. राधा कुमुद मुकुर्जी से यह 'समन्त पसादिका' का सन्दर्भ लिया गया है।
25. देखिए- Sir John Marshall's Guide to Sanchi, ch.x
26. मोगलिपुत्त (पुत्र) आचार्य उपगुप्त
27. सम्राट अशोक ने लंकापति देवानांप्रिय को यह लिख भेजा था- 'बुद्धे च धम्मं च संघं च', अर्थात् 'मैं बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में चला गया हूं। मैंने शाक्य मुनि का धर्म अपनाया है, तुम भी इसे अपना कर बोध प्राप्त करो।'
28. महावंश, प्रकरण 14वां
29. महावंश, प्रकरण 17वां
30. 'सर्वविधातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः न मायया न दम्भेन यः इच्छेद्भूतिमात्मनः।'।
महाभारत शान्तिपर्व, राजधर्म-अध्याय, 96, 24

सातवाँ अध्याय

1. L.A. 1891, p.263
2. स्तम्भ लेख, सारनाथ
3. 2 A.V.257-58
4. The Heart of Jainism-Mrs.Sinclair Stevenson.
5. Bhandarkar's Ashoka, p.179
6. विसैट स्मिथ, अशोक, पृ.33-34
7. महाभारत, अ०12, 6
8. 'सूर्य दर्शनस्य पातिव्रत विधान कत्वे तु अथैनां सुर्यमुदीक्षयति इति गृह सूत्रोक्तकर्मणाऽकरणोऽङ्ग वैगुण्य मेव स्यादिति केचित् ।'
9. मौर्य साम्राज्य का इतिहास, पृ.609
10. दिव्यावदान, पृ.397-398
11. महावंश, प्रकरण पांचवां
12. Bhandarkar's Asoka, p.190
13. Bhandarkar's Asoka, p.207
14. R.K.Mukerji's Ashoka, p.102
15. Asoka, V.A.Smith-(Second ed.1909,p.138-139) "The care taken to publish the imperial edicts ley incising them in imperishable characters, most skilfully exeuted on rocks and pillars in great cities, on main lines of communication, or at sacred spots frequented by pilgrims, implies that a knowladge of reading and writing was widely diffused, and that many people must have been able to read the documents. It is probable that learning was fostered by the numerous, and that the boys and girls in hundreds of villages learned their lessons from the monks and nuns, I think it bkely that the percentage of literacy among the Buddhist population in Asoka's time was higher than it is now in man'y provinces of British India."

आठवाँ अध्याय

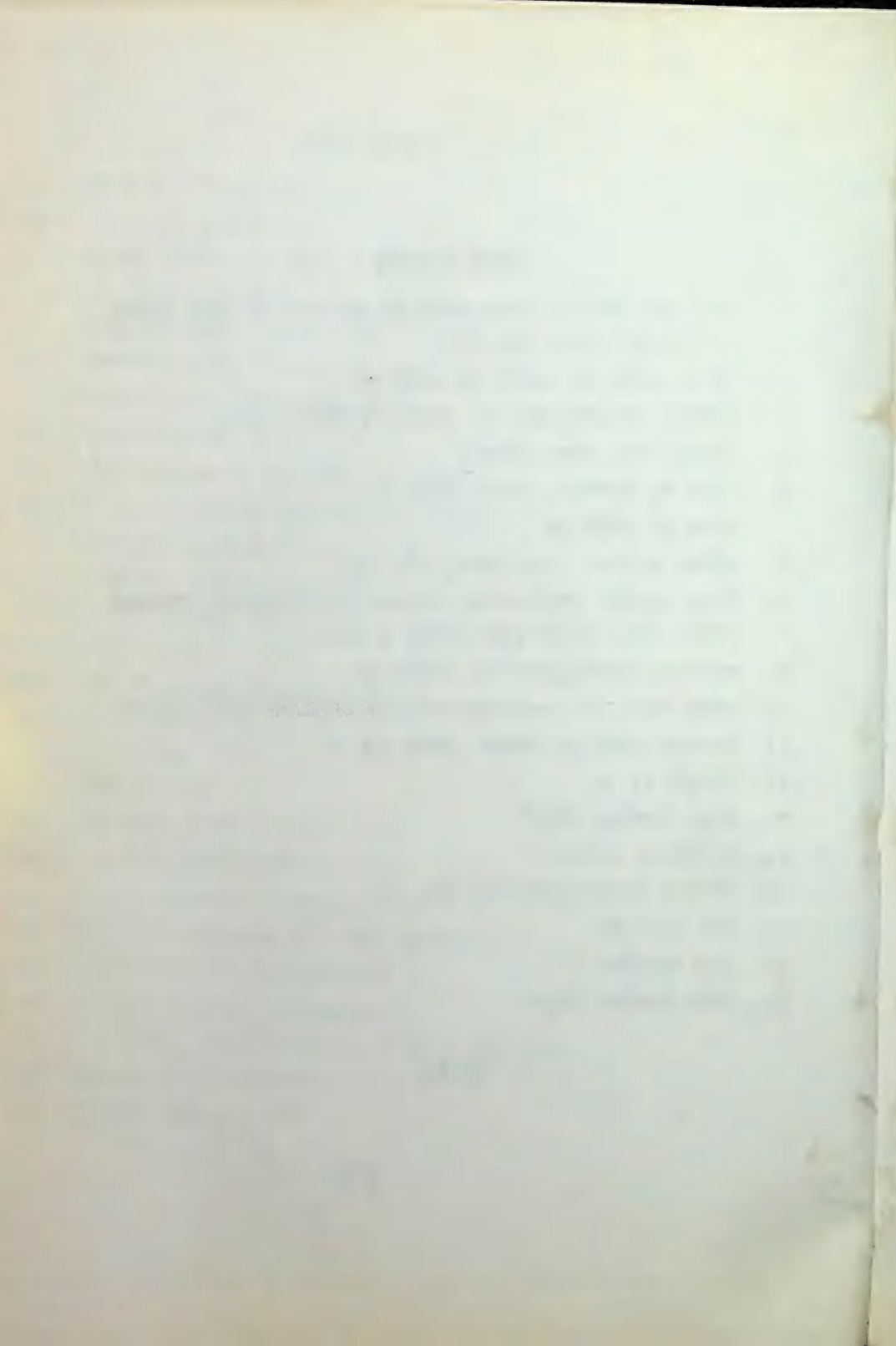
1. Watters, p.276
2. Cambridge History Vol. I, p.501
3. Leggs. p.89
4. Watters, I, 334
5. Watters, II, 141
6. Watters,ii, 96
7. Cambridge History, Vol, I, p. 618
8. "The capital is one of the most magnificent specimen of art.* (Catalogue, Sarnath, Museum. p. 293)
9. A.S.R., 1904-5,p.36
10. V.Smith's oxford History, p.113
11. A.S.R. xxii, 46-47
12. Elliot-History of India,iii, 350
13. No.14 of Fleets Gupta Inscriptions dated,458
14. Cambridge History, Vol,I, p.623
15. Cambridge History, I, p.623
16. History of Indian and Indonesian Art, p.16
17. Mc. Crindle Ancient India, Megasthenese and Arian, 65-66
18. Leggs, p.77
19. Aryan Rule, p.75
20. Guide to Sanchi, p.92
21. A handbook of Indian art by E.B. Havell- p.40-44
22. E.B. Havell, p.44-45

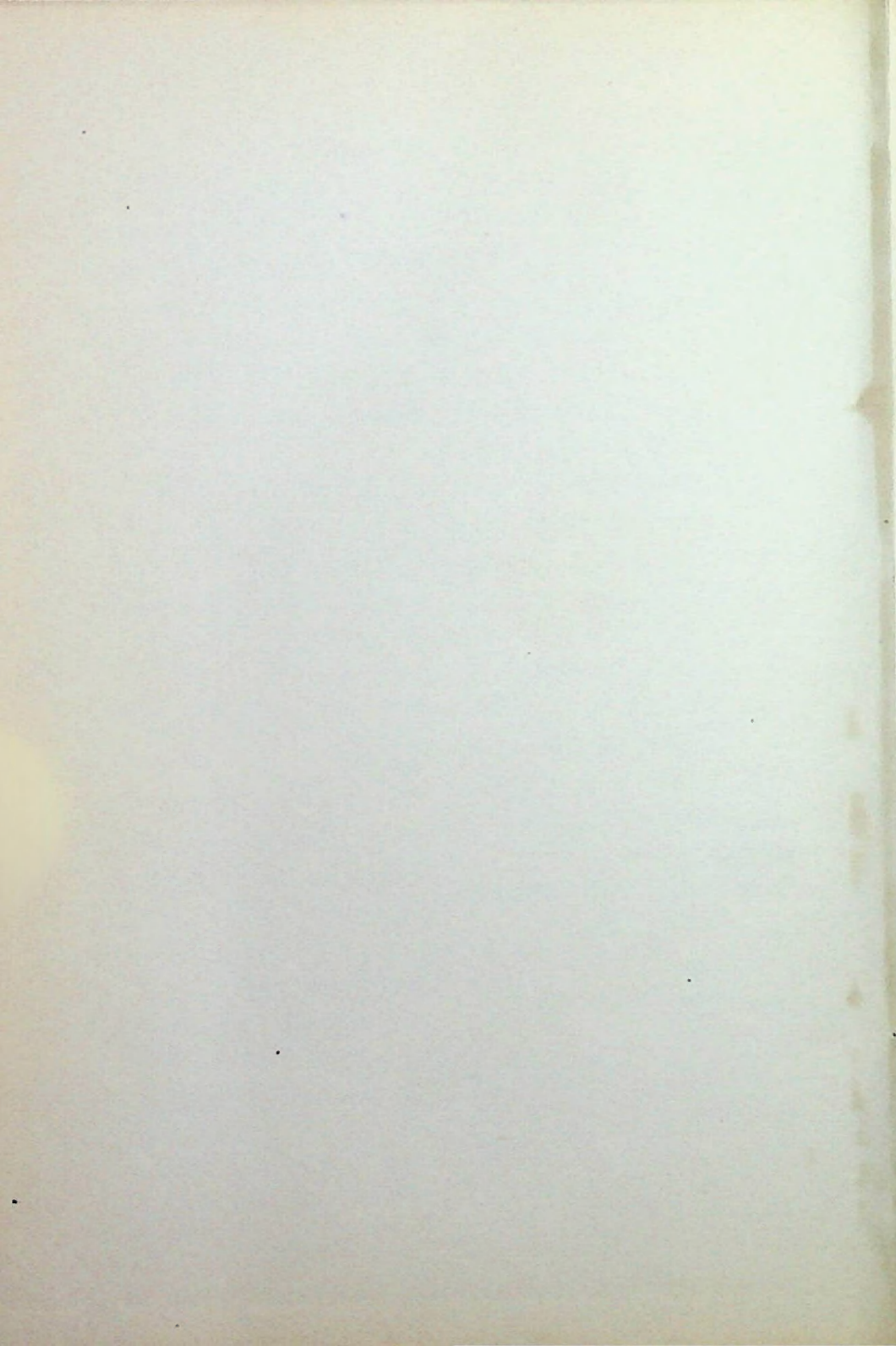
नवाँ अध्याय

1. J.R.A.S. 1926, p. 138
2. I.A. 1891, p.266
3. मनुस्मृति, सातवाँ, 5वां श्लोक
4. I.A., 186, p.266
5. भण्डारकर, अशोक, पृ.233, 234
6. भण्डारकर, अशोक, पृ.236-37
7. Rhys Davids, Buddhism, p.222
8. Ancient India, p.104
9. J.M. Macphail's कृत अशोक, पृ. 79
10. Harmack, Expansion of Christianity, Vo.II, p.466
11. Marcus Aurelius-121-180 A.D.
12. भण्डारकर, अशोक, पृ.248-249
13. J.R.A.S. p. 807,1925
14. J.M. Macphail, p.80
15. J.M. Macphail, Ashoka, p.80
16. 13वां शिलालेख
17. 6वां शिलालेख
18. द्वितीय शिलालेख
19. J.M. Macphail's Ashoka, p.81
20. J.M. Macphail's Ashoka, p.81
21. J.M. Macphail's - Ashoka, p. 81
22. स्तम्भ लेख पहला, दूसरा और कलिंग शिलालेख 1,2
23. J.M. Macphail's Ashoka, p.82
24. J.M. Macphail's, Ashoka, p. 84
25. H.G.Wells, A short History of the world, p.90
26. J.M.Macphail's Ashoka, p.84
27. भण्डारकर अशोक, पृ. 257

दसवाँ अध्याय

1. अर्थात् सब लोगों का (अथवा जनता का) हित करने से अधिक करणीय (उपादेय) कार्य या कर्म कोई नहीं।
2. राजधर्म, शान्ति पर्व, अध्याय 59, श्लोक 29
3. महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय 71, श्लोक 24-25
4. मनुस्मृति, 7वां अध्याय, श्लोक 3
5. शान्ति पर्व राजधर्म, 71 अध्याय, श्लोक 25
6. शान्ति पर्व अध्याय 58
7. कौटिल्य अर्थशास्त्र, 19वां प्रकरण, श्लोक 39
8. देखिए- मनुस्मृति, सातवाँ अध्याय, 37 श्लोक- 'ब्राह्मणान्पर्युपासति प्राणरूत्थाय पार्थिवः। नैविध वृद्धान्वि दुषस्तिष्ठेत्तेषाम च शासने।'
9. महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय 49
10. Mbh.115,114, Cambridge History of India, Vol I, ch.xix
11. महाभारत, शान्ति पर्व, राजधर्म, अध्याय 59
12. मनुस्मृति 41, 8
13. कलिंग शिलालेख, जौगुडा
14. मनुस्मृति 80, अध्याय 8
15. महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, 104, 49
16. प्रथम स्तम्भ लेख
17. 13वां शिलालेख
18. कलिंग शिलालेख, जौगुडा





उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान : इतिहास विषय की प्रकाशित पुस्तकें

क्र.सं. पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
1. मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	डॉ. झारखण्डे चौबे डॉ. कन्हैयालाल श्रीवास्तव	रु. 140.00
2. कौटल्य कालीन भारत	आचार्य दीपंकर	रु. 87.00
3. विश्व इतिहास	डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी	रु. 75.00
4. भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेयी	रु. 55.00
5. क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डॉ. ईश्वरीप्रसाद	रु. 40.00
6. कन्नौज का इतिहास	पं. आनन्दस्वरूप मिश्र	रु. 175.00
7. एशिया की विकांसोन्मुख एकता	अनु. चन्द्रशेखर मिश्र बलभद्रप्रसाद मिश्र	रु. 10.00
8. सातवाहन और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख	मू. डॉ. वा.वि. मिराशी अनु. डॉ. व्यंकटेश ब्रविड़	रु. 77.00
9. भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय	रु. 80.00
10. मध्य पूर्व में तेल राजनीति का इतिहास	डॉ. वी.पी. बहुगुणा	रु. 145.00
11. लेखन कला का इतिहास (दो खण्डों में)	ईश्वरचन्द्र राही	रु. 194.00
12. वेलेजली के अधीन भारत	मू. यू.पी.ई. राबर्ट्स अनु. उमाराव	रु. 15.00
13. एशिया का उद्भव एवं विकास	डॉ. के.के. कौल	रु. 108.00
14. उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ. विशुद्धानन्द पाठक	रु. 200.00
15. आधुनिक भारत का इतिहास	डॉ. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र	रु. 145.00
16. सिन्धु सभ्यता	डॉ. किरण कुमार थपलियाल डॉ. संकटा प्रसाद शुक्ल	रु. 90.00
17. भारत का आर्थिक इतिहास	डॉ. अशोक कुमार चटर्जी एवं श्री देवेश कुमार सिंह	रु. 142.00
18. तारीखे फरिस्ता (फारसी मूल ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद)	अनु. डॉ. नरेन्द्र बहादुर श्रीवास्तव	रु. 400.00
19. प्राचीन भारतीय आर्थिक इतिहास	डॉ. विशुद्धानन्द पाठक	रु. 72.00

सम्पर्क सूत्र
निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

6, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - 226 001

XX 208 XX



1369

120.00

[2004]